प्रथम संस्करण सं० १९८१

द्वितीय संस्करण ,, १९९५

तृतीय संस्करण ,, २००४

चतुर्थ संस्करण ,, २००६

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd.
Allahabad.

प्रथम संस्करण की भूमिका

गत वर्ष मुझे हिंदी के विद्वानों के सम्मुख "साहित्यालोचन" उपस्थित करने का अवसर प्राप्त हुआ था। आज कोई चौदह मास के अनंतर मैं यह दूसरा ग्रंथ लेकर उपस्थित होता हूँ। जिन करणों के वशीभूत होकर मुझे पहले ग्रंथ की रचना का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उन्हीं कारणों ने यह ग्रंथ उपस्थित करने में भी मुझे बाध्य किया है। भाषा-विज्ञान पर एक उत्तम ग्रंथ लिखने का भार मेरे परम मित्र स्वर्ग-वासी पंडित चंद्रधर जी गुलेरी ने अपने ऊपर लिया था। वे अभी इसे आरंभ भी न कर सके थे कि कराल-काल ने उन्हें अचानक कवलित कर लिया। मैंने बहुत चाहा कि कोई दूसरा विद्वान् गुलेरी जी का यह कार्य संपन्न करे; पर इस संबंध में मैंने जो कुछ उद्योग किया, वह सब निष्फल हुआ। कहीं से आशा या आश्वासन न मिला और न किसी प्रकार की यथेष्ट सहायता ही प्राप्त हुई। इधर काशी-विश्वविद्यालय के एम० ए० हिंदी क्लास के विद्यार्थियों की शांत किंतु दृढ़ पुकार बहुत दिनों तक उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखी जा सकती थी। अंत में मैंने गत सितंबर मास में सामग्री इकट्ठा करना आरंभ किया और मैं क्रमशः यह ग्रंथ लिखने तथा विद्यार्थियों को लिखे अंश पढ़ाने में लग गया। इस कार्य में अनेक बाधाएँ उपस्थित हुईं। स्वास्थ्य ने सबसे अधिक धोखा दिया। साथ ही विद्यार्थियों के अभाव की चिंता और उनके सम्मुख यथासमय उपयुक्त सामग्री उपस्थित करने में अपनी ढिलाई अथवा असमर्थता मुझे और भी व्यग्र करने लगी। दोनों ने मिलकर, जहाँ तक हो सका, बाधाएँ उपस्थित कीं और कम से कम इस पुस्तक के लिखने और प्रकाशित होने में तीन महीने का समय अधिक लगा दिया। इस अवस्था में भी पढ़ने और लिखने का काम करते रहने से आँखों ने भी असहयोग कर देने की सूचना उपस्थित कर दी और उनकी शक्ति क्षीण हो गई। परंतु फिर भी मेरे लिये यह कम आनंद और संतोष की बात नहीं है कि यह पुस्तक यथासमय लिखी गई और छप गई।

मैंने इस पुस्तक के लिखने में अपने सम्मुख यह उद्देश्य रखा था कि भाषा-विज्ञान के मूल सिद्धांतों का दिग्दर्शन मात्र करा दिया जाय और भारतवर्ष की प्राचीन भाषाओं का आधुनिक आर्य-भाषाओं तथा विशेषकर हिंदी से जो कुछ संबंध है, वह दिखला दिया जाय। न मैंने किसी ऐसे ग्रंथ के लिखने का विचार ही किया था जो भाषा-वैज्ञानिकों के लिये आदर की वस्तु हो और न ऐसा करने की मुझमें सामर्थ्य ही थी। मैं चाहता था कि हिंदी भाषा में इस विज्ञान की दृढ़ नींव रख दी जाय, जिसमें समय पाकर अन्य विद्वान् उस पर सुंदर प्रासाद निर्मित करने का सफलतापूर्वक उद्योग कर सकें और उन्हें नींव खोदने तथा उसे भरकर दृढ़ करने की आवश्यकता न रहे। इस उद्देश्य में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसके विषय में मैं कुछ कह नहीं सकता और न इसका निश्चय करना मेरा काम ही है। यह दूसरों का काम है। पर मुझे आशा है कि मैं विद्वानों को असंतुष्ट करने का कारण न होऊँगा।

जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने इस ग्रंथ का लिखना आरंभ किया था, उसके लिये सामग्री की प्रचुरता थी। पर मेरी कठिनता यही थी कि किस सामग्री का उपयोग करूँ, उसे किस रूप में संचित करूँ, और किसे छोड़ दूँ। जैसा कि पहले कह चुका हूँ, मैं भाषा-विज्ञान की प्रारंभिक पुस्तक अथवा प्रवेशिका उपस्थित करना चाहता था और इसके लिये यह आवश्यक नहीं था कि मैं सूक्ष्म विषयों के विवेचन में दत्तचित्त होता। मैंने बॉप, भंडारकर, मैक्समूलर, ग्रियर्सन, हार्नली, बीम्स, केलॉग, उलनर, गुणे, देवतिया, हेमचंद्र, लक्ष्मीधर, ब्लूमफील्ड, स्वीट, लकोटे आदि विद्वानों की पुस्तकों तथा लेखों से अमूल्य सहायता पाई है और सामग्री ली है। अतएव मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। यदि इन महानुभावों की कृतियाँ मुझे प्राप्त न होतीं, तो जो कुछ मैं लिख सका हूँ, वह भी उपस्थित करने में मैं सफल नहीं हो सकता था।

मैंने अनुमान किया था कि डेढ़-दो सौ पृष्ठों में इस ग्रंथ को समाप्त कर सकूँगा। पर ज्यों ज्यों मैं अपने कार्य में अग्रसर होता गया, त्यों त्यों इसका आकार बढ़ता गया, यहाँ तक कि यह अनुमान से दूने से भी अधिक

पृष्ठों में समाप्त हुआ है। यही बात साहित्यालोचन के संबंध में भी हुई थी। अतएव मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि आरंभ में मैं यह ठीक ठीक अनुमान नहीं कर सकता था कि किस प्रकार के ग्रंथ के लिए कितने विस्तार की आवश्यकता होगी। अतएव भविष्य में यदि किसी और ग्रंथ के लिखने का मुझे आयोजन करना पड़ा तो अनुमान के इस दाँव-पेंच से बचने की चेष्टा करूँगा।

इस ग्रंथ में कई बातें कई बार कही गई हैं। यह बहुत कुछ जान-बूझकर किया गया है। भाषा-विज्ञान का विषय सरल नहीं है। वह बहुत उलझन डालनेवाला है। अतएव स्थान स्थान पर आवश्यकतानुसार बातों के दोहराने में मैंने संकोच नहीं किया है; क्योंकि मैं विषय को यथासंभव सरल बनाना चाहता था, जिसमें पढ़नेवालों का जी न ऊबे और उन्हें हृदयंगम करने में कठिनता न हो। यदि इस कारण से समालोचकों की दृष्टि में पुनरुक्ति-दोष आ गया हो, तो उसके लिये मुझे पश्चात्ताप नहीं है। जो बात जान-बूझकर किसी विशेष उद्देश्य से की जाय, उसके लिये पश्चात्ताप होना तो दूर रहा, कुछ आगा-पीछा भी होना अस्वाभाविक है।

निदान यह ग्रंथ समाप्त हो गया और अब हिंदी के विद्वानों, विशेषकर भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं की सेवा में उपस्थित है। यदि इस ग्रंथ से विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षा के हिंदी पढ़नेवाले विद्यार्थियों का कुछ भी उपकार हो सका, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा और इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में जो कुछ शारीरिक कष्ट मुझे उठाना पड़ा है, उसे भूल जाऊँगा।

इस ग्रंथ के दसवें प्रकरण के संबंध में पंडित रामचंद्र शुक्ल ने कई आवश्यक परामर्श देने की कृपा की है। साथ ही बाबू धीरेंद्र वर्मा ने इसकी विषयानुक्रमणिका तैयार करने का कष्ट उठाया है। बाबू रामचंद्र वर्मा ने इस पुस्तक की तैयारी में जो उत्साह दिखाया है और मेरी सहायता की है, वह विशेष उल्लेख-योग्य है। इसलिए इन महाशयों को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

श्रीरामनवमी
सं० १६८१ वि०

श्यामसुंदरदास

द्वितीय संस्करण की भूमिका

भाषा-विज्ञान का पहला संस्करण सं० १९८१ में प्रकाशित हुआ था। जिन परिस्थितियों के वश में होकर मुझे यह पुस्तक तैयार करनी पड़ी थी उनका उल्लेख उसकी भूमिका में, जो इस नवीन संस्करण में भी प्रकाशित की जाती है, कर दिया गया है। उनको ध्यान में रखकर पुस्तक जैसी बन पड़ी तैयार की गई, पर वह संतोषजनक न हुई। एक तो समय की संकीर्णता के कारण उस समय अधिक जाँच-पड़ताल न की जा सकी। दूसरे उस समय पर्याप्त सामग्री भी उपलब्ध न हो सकी। इस स्थिति में उसमें बहुत सी त्रुटियों का रह जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। पहले मेरा विचार एक नई पुस्तक लिखने का था और इस उद्देश्य से भाषा-रहस्य का पहला भाग प्रस्तुत किया गया था। पर अनेक विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने के कारण उसका दूसरा भाग अब तक न लिखा जा सका। इस अवस्था में भाषा-विज्ञान को ही नया रूप देने का निश्चय किया गया। इस नए रूप में अब यह प्रस्तुत है।

इस संस्करण में सात प्रकरण हैं। पहले प्रकरण में शास्त्र की महत्ता, उसका विस्तार तथा अन्य शास्त्रों से उसका संबंध दिखाया गया है और संक्षेप में भाषा-विज्ञान के विकास का इतिहास दिया गया है। दूसरे प्रकरण में भाषा और भाषण के संबंध में विचार किया है। इसमें भाषा और भाषण का भेद तथा भाषा की उत्पत्ति का इतिहास दिया गया है। तीसरे प्रकरण में आकृतिमूलक तथा वंशानुक्रम से भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है और किंचित् विस्तार से भारोपीय-वर्ग की भाषाओं का विवरण दिया गया है। यहाँ तक भाषा-विज्ञान की भूमिका समझनी चाहिए। भाषा-विज्ञान के मुख्य अंग तीन हैं—ध्वनि-विचार, रूप-विचार और अर्थ-विचार। इन्हीं तीन अंगों का चौथे, पाँचवें और छठे प्रकरणों में विवेचन किया गया है। अब तक भाषा-विज्ञान में रूप-विचार और अर्थ-विचार पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था पर अब ये अंग महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं और इन पर अधिकाधिक

विचार किया जाता है। अर्थ-विचार का प्रकरण तो अभी तक आरंभिक अवस्था में है, पर अब भाषा-शास्त्रियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है और दिनों दिन इस अंग का अध्ययन तथा विवेचन किया जाने लगा है। सातवें प्रकरण को उपसंहार स्वरूप मानना चाहिए। इसमें आर्यों के मूल निवास-स्थान, उनके विच्छेद तथा अनेक देशों में जाकर बस जाने का वर्णन है। भाषा-विज्ञान की सहायता से प्रागैतिहासिक काल का इतिहास किस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका दिग्दर्शन भी करा दिया गया है। आशा है कि इस पुस्तक से भाषा-विज्ञान का आरंभिक ज्ञान भली भाँति प्राप्त हो जायगा और इस शास्त्र के विशेष अध्ययन का मार्ग बहुत कुछ प्रशस्त हो जायगा।

इस पुस्तक के पहले, दूसरे, तीसरे और सातवें प्रकरणों के प्रस्तुत करने में मेरे पुत्र गोपाललाल खन्ना ने मेरी सहायता की है, चौथा प्रकरण भाषा-रहस्य के आधार पर उसके इसी प्रकरण का संक्षिप्त रूप है और पाँचवें तथा छठे प्रकरणों के प्रस्तुत करने में पंडित पद्मनारायण आचार्य का सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है। अनुक्रमणिका तैयार करने का श्रेय पंडित रमापति शुक्ल को है। ये सभी व्यक्ति आशीर्वाद तथा धन्यवाद के पात्र हैं। मुझे इस बात का अभिमान है कि मेरे कतिपय विद्यार्थी सदा मेरी सहायता को तैयार रहते हैं और प्रेमपूर्वक मेरे कार्यों में सहयोग देते हैं।

इस पुस्तक की समाप्ति के साथ मेरी तीन पुस्तकों—हिंदी भाषा और साहित्य, साहित्यालोचन और भाषा-विज्ञान—के परिवर्धित और संशोधित संस्करणों की त्रिवेणी प्रस्तुत हो गई है। आशा है कि इस त्रिवेणी में अवगाहन कर विशेष कर हिंदी तथा साधारणतः अन्य आधुनिक भाषाओं के विद्यार्थी यथेष्ट फल प्राप्त कर सकेंगे।

काशी
ज्येष्ठ शु० १०, १९९५

श्यामसुंदरदास

तृतीय संस्करण की भूमिका

यह भाषा-विज्ञान का तीसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। पहले दो संस्करणों में बहुत संशोधन किया गया था। इस संस्करण में एक प्रकरण बढ़ा दिया गया है। इसमें लेखन कला तथा नागरी लिपि के विकास का इतिहास दिया गया है। यह लेख (स्वर्गीय) महामहोपाध्याय रायबहादुर डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा लिखित प्राचीन-लिपि-माला नामक ग्रंथ के आधार पर मेरे पुत्र गोपालदास खन्ना के उद्योग से लिखा गया है। यह ग्रंथ-रत्न अब अप्राप्य है।

काशी
३-४-४४

श्यामसुंदरदास

पारिभाषिक शब्द

अनुपयोगी रूपों का विनाश—Extinction of useless forms.
अपश्रुति—Ablaut, vowel-gradation.
अमूर्तीकरण—Abstraction.
अर्थ—Meaning, thing.
अर्थ का मूर्तीकरण—Concretion of meaning.
अर्थ-नियम—Semantic law.
अर्थमात्र—Semanteme.
अर्थ-विकर्ष—Deterioration of meaning.
अर्थ-विचार—Semantics.
अर्थापदेश—Indirect expression.
अर्थोत्कर्ष—Elevation of meaning.
उद्योतन—Irradiation.
उपमान—Analogy.
एकोच्चरित समूह—Articulated group.
कृत्प्रत्यय—Primary affixes.
तद्धित प्रत्यय—Secondary affixes.
ध्वनि-नियम—Phonetic law.
ध्वनि-विचार—Phonology.
नये लाभ—New acquisitions.
प्रत्यय—Affix.
पर-प्रत्यय—Suffix.
पुरःप्रत्यय—Prefix.
बुद्धि-नियम—Intellectual law.

भाव—Feeling, emotion, action, becoming.

भेदभाव का नियम—Law of differentiation.

मिथ्या प्रतीति—False Perception.

रूपमात्र—Morpheme.

रूप-विचार—Morphology.

रूप-साधक—Inflectional.

वाक्य-विचार—Syntax.

वाक्यांश—Phrase, word.

विभक्तियों के भग्नावशेष—Survival of inflections.

विशेष भाव का नियम—Law of specialisation.

शब्द—Word.

शब्द-साधक—Word-building or formative.

शब्द-साधन—Accidence.

संबंध—Relation, connection.

संसर्ग—Association.

सत्त्व—Existence, being.

साधन शब्द—Form word.

—

विषय-सूची

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

दूसरा प्रकरण

भाषा और भाषण

तीसरा प्रकरण

भाषाओं का वर्गीकरण

चौथा प्रकरण

ध्वनि और ध्वनि-विकार

करण—वृत्ताकार और अवृत्ताकार स्वर—दृढ और शिथिल स्वर—अक्षर और अक्षरांग—संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर—श्रुति—श्वास-वर्ग—प्राण-ध्वनि—सप्राण स्पर्श—वाक्य के खंड—परिमाण अथवा मात्रा—बल-छंद में मात्रा और बल—स्वर—ध्वनि-विचार—भारोपीय ध्वनि-समूह—अवेस्ता ध्वनि-समूह—स्वर-भक्ति—वैदिक ध्वनि-समूह—अभाव—परिवर्तन—पाली ध्वनि-समूह—व्यंजन-प्राकृत ध्वनि-समूह—अपभ्रंश का ध्वनि-समूह—हिंदी-ध्वनि-समूह—ध्वनि-विचार का दूसरा अंग—मात्रा-भेद—लोप—आदि-व्यंजन-लोप—मध्य-व्यंजन-लोप—अंत-व्यंजन-लोप—आदि-स्वर-लोप-मध्य—स्वर-लोप—अंत्य-स्वर-लोप—आगम—वर्ण-विपर्यय—स्वर-विपर्यय—व्यंजन-विपर्यय संधि और एकीभाव—सावर्ण्य अथवा सारूप्य—असावर्ण्य—भ्रामक व्युत्पत्ति—विशेष ध्वनि-विकार—ध्वनि-विकार के कारण—मुख-सुख और अनुकरण—बाह्य परिस्थिति—देश अर्थात् भूगोल—काल अर्थात् ऐतिहासिक प्रभाव—ध्वनि-नियम—ग्रिम-नियम—सदोष नियम—ग्रिम-नियम का निर्दोष अंश—अपवाद—ग्रेसमान वेर्नर का नियम—उपमान—हिंदी और ग्रिम-नियम—तालव्य भाव का नियम—अपश्रुति—अपश्रुति की उत्पत्ति।

पाँचवाँ प्रकरण

रूप-विचार

[पृष्ठ १८२-२२७]

रूप-विचार और व्याकरण—रूप-विचार और व्याकरण में भेद—विशेष और सामान्य रूप-विचार—कुछ परिभाषाएँ—अर्थमात्र और रूप-मात्र—रूप-मात्र का पृथक् अस्तित्व—अपश्रुति और विभक्ति—स्वर—स्वराभाव—द्वित्व—स्थान अथवा शब्दक्रम—रूप-मात्र के तीन मुख्य भेद—अर्थ-मात्र और रूप-मात्र का संबंध—भारोपीय भाषाओं के प्रत्यय—प्रत्ययों के दो भेद—रूप-साधक प्रत्यय—आख्यात प्रत्यय—आगम-द्वित्व—शब्द-साधक प्रत्यय—पुरःप्रत्यय—

छठा प्रकरण

अर्थ-विचार

[पृष्ठ २२८-२८३]

सातवाँ प्रकरण

भारतीय लिपियों का विकास

आठवाँ प्रकरण

प्रागैतिहासिक खोज

परिशिष्ट

हिंदी के स्वरों और व्यंजनों का भाषा-वैज्ञानिक वर्णन

अनुक्रमणिका

भाषा-विज्ञान

——:०:——

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

भाषा-विज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें भाषामात्र के भिन्न भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है।

शास्त्र की परिभाषा

मनुष्य किस प्रकार बोलता है, उसकी बोली का किस प्रकार विकास होता है, उसकी बोली और भाषा में कब, किस प्रकार और कैसे कैसे परिवर्तन होते हैं, किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द आदि किन किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं, कैसे तथा क्यों समय पाकर किसी भाषा का रूप और का और हो जाता है तथा कैसे एक भाषा परिवर्तित या विकसित होकर पूर्णतया स्वतंत्र एक दूसरी भाषा का रूप धारण कर लेती है—इन विषयों तथा इनसे संबंध रखनेवाले और सब उप-विषयों का भाषा-विज्ञान में समावेश होता है। इसमें शब्दों की उत्पत्ति, रूप-विकास तथा वाक्यों की बनावट आदि सभी पर विचार किया जाता है। सारांश यह कि भाषा-विज्ञान की सहायता से हम किसी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन करना सीखते हैं, और जब

हम इस प्रकार का विवेचन, अध्ययन और अनुशीलन कर लेते हैं, तब उसी दृष्टि से किसी दूसरी भाषा अथवा अनेक भाषाओं का विवेचन करते हैं तथा एक भाषा के सिद्धांतों तथा नियमों आदि का दूसरी भाषा या भाषाओं के सिद्धांतों और नियमों आदि से मिलान करते और आपस में उनकी तुलना करते हैं। इस अवस्था में इस विज्ञान की सीमा का और भी प्रसार हो जाता है और हम उसे 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' का नाम देते हैं।

सच पूछा जाय तो बिना तुलना के अध्ययन वैज्ञानिक हो ही नहीं सकता। इसी से तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को ही भाषा-विज्ञान कहते हैं। किसी भी भाषा के तुलनात्मक अध्ययन के लिये दो बातें आवश्यक होती हैं। (१) उसी भाषा के (भिन्न भिन्न काल के) प्राचीन, अर्वाचीन और नवीन रूपों तथा अर्थों आदि की परस्पर तुलना, (२) और उस भाषा के ऐसे रूपों, अर्थों आदि की अन्य भाषाओं के रूपों, अर्थों आदि से तुलना। दोनों प्रकार का तुलनात्मक विवेचन करने के लिये हमें देश और काल अर्थात् भाषाओं के इतिहास और भूगोल दोनों का ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार के व्यापक और तुलनात्मक अध्ययन को कहते हैं भाषा-विज्ञान।

भाषा-विज्ञान भाषा और वाणी विषयक सहज कुतूहल को शांत करता है। यह भाषा की आत्मकथा है। शब्दों की रामकहानी है।

भाषा का [illegible]

जिसकी आँखें खुल गई हैं और जिसने इसके रस का एक बार भी आस्वादन कर लिया है, उसे इसमें वैसा ही काव्यानंद मिलता है जैसा कि एक साहित्यिक को काव्य के अनुशीलन में रस मिलता है। उदाहरण के लिये—'राजपूती' [illegible] [illegible], '[illegible]' महाराज [illegible] कैसे हो गए, '[illegible]' [illegible] कैसे बन बैठा आदि प्रश्न किसको उत्सुक न बना देंगे। एक ही '[illegible]' [illegible] '[illegible]' और '[illegible]' से विकृत स्वभाववाले बेटों को देखकर कौन आश्चर्य नहीं करेगा? 'उपाध्याय' का घिसा रूप 'झा' देखकर किसे अचरज न आयेगा? इन सब प्रश्नों का उत्तर भाषा-विज्ञान ही

देता है। जिस प्रकार शब्दों के भिन्न भिन्न रूपों और अर्थों पर यह शास्त्र विचार करता है, उसी प्रकार भाषा के उद्भव, विकास और ह्रास की भी मनोरम कहानी सुनाने के लिये यह उत्सुक रहता है। कोई भाषा क्यों बाँझ रहती है और कोई क्यों संतानवती होकर प्रजाहित पालन में तत्पर हो जाती है; आदि विषय किस सहृदय को अनुरंजित नहीं करते ?

अन्यान्य अधिकांश आधुनिक विज्ञानों की भाँति भाषा-विज्ञान का, इस संस्कृत रूप में, आरंभ भी पाश्चात्य देशों में ही हुआ है।

भाषा-विज्ञान का आरम्भ

पहले भाषाओं का अध्ययन बिलकुल साधारण रूप में ठीक उसी रूप में जिसमें बालकों को आधुनिक विद्यालयों में शिक्षा दी जाती है, हुआ करता था। अध्ययन का यह रूप शुद्ध साहित्यिक था, अर्थात् इस प्रकार का अध्ययन किसी भाषा के केवल साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए होता था। किसी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस भाषा के व्याकरण का अध्ययन करना आवश्यक होता है। अतएव किसी भाषा के अध्ययन के अंतर्गत उस भाषा के व्याकरण का अध्ययन भी आपसे आप आ जाता है। अनेक विद्वान् ऐसे भी होते थे जिन्हें केवल एक ही भाषा के अध्ययन से संतोष नहीं होता था और जो भाषाओं के पूर्ण पंडित होकर उन सबके साहित्य और व्याकरणों का विवेचनात्मक अनुशीलन करते थे। जब यूरोपीय लोगों ने संस्कृत भाषा का अध्ययन आरम्भ किया, तब उन्हें संस्कृत के व्याकरण में कुछ नये और विशिष्ट नियम मिले। संस्कृत भाषा के अनेक शब्दों और व्याकरण के अनेक नियमों ने उन लोगों का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया कि संस्कृत का लैटिन तथा उसकी वंशज अनेक दूसरी भाषाओं के साथ कई बातों में साम्य है। इसके अतिरिक्त आरंभ में ऐसे विद्वानों ने यह भी देखा कि बहुत पास के दो चार प्रदेशों की भाषाओं की जिस प्रकार शब्दों और व्याकरण के नियमों आदि में बहुत अधिक समानता होती है, उसी प्रकार, पर उससे कुछ कम अंशों में, दूर दूर के प्रदेशों की

भाषाओं के शब्दों और व्याकरण के नियमों आदि में भी कुछ समानता होती है। यह समानता देखकर विद्वानों को जो कुतूहल हुआ, मानों उसी की शांति के प्रयत्न ने इस आधुनिक भाषा-विज्ञान को जन्म दिया।

विषय को स्पष्ट करने के लिए हम दो चार छोटे मोटे उदाहरण लेते हैं। बिहारी भाषा का मिथिला बोली से बहुत अधिक साम्य है। मिथिला बोली बँगला देश-भाषा से बहुत मिलती है और बँगला और उड़िया देश-भाषाओं में कोई बड़ा अंतर नहीं है। दक्षिण भारत की द्रविड़ देश-भाषाएँ परस्पर मिलती जुलती हैं। इसी प्रकार पंजाब, सिंध और राजपूताने की देश-भाषाओं में भी बहुत साम्य है। यही दशा छत्तीसगढ़ी और अवध की है। यह बात तो हुई केवल भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रदेशों की देश-भाषाओं की। अब संसार के भिन्न भिन्न खंडों की भाषाओं को लीजिए। संस्कृत, फारसी, यूनानी, लैटिन और आरमीनियन आदि भाषाओं के शब्दों और व्याकरणों में बड़ी समानता है। इसी प्रकार हिब्रू और अरबी की बहुत सी बातें असीरिया या सीरिया देश की भाषाओं से मिलती हैं। उधर चीन, कोरिया और मंगोलिया आदि भूखंडों की भाषाओं का भी परस्पर बहुत संबंध है। इस समानता का ध्यान रखते हुए वैज्ञानिक ढंग से किए हुए परिशीलन का परिणाम 'भाषा-विज्ञान' है और ऐसा करने में एक से अधिक भाषाओं का परिशीलन करना पड़ता है, अतः भाषा-विज्ञान को 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' भी कहते हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि आधुनिक संस्कृत रूप में भाषा-विज्ञान का आरंभ अभी थोड़े ही समय हुआ कि पाश्चात्य देशों में हुआ है। परंतु [illegible] मानव-प्रकृति प्रायः सदा और सब स्थानों में समान रूप से विकसित होती और काम किया करती है। प्राचीन काल में भारतवर्ष भी भिन्न-भिन्न भाषाओं [illegible] भिन्न-भिन्न लोगों से [illegible] उत्पत्ति की [illegible] भारतीय विद्वानों का

ध्यान भाषा-संबंधी ऐसे तत्त्वों की ओर न जाता जो साधारणत: स्वयं ही लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं।

भारतवर्ष में प्राचीन काल में ही शब्दों की व्युत्पत्ति और स्वरों के उच्चारण आदि पर विद्वानों का ध्यान गया था। ब्राह्मण-ग्रंथों तथा प्रातिशाख्यों में अनेक स्थानों पर इस प्रकार के विवेचन किए गए हैं। पीछे से यास्क ने अपने निरुक्त ग्रंथ में, जो वेदों के छ: अंगों में से एक मुख्य अंग माना जाता है तथा जो वेदार्थ-ज्ञान का प्रधान साधन समझा जाता है, इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। वास्तव में यह निरुक्त भाषा-विज्ञान का ही दूसरा नाम था, और है। उन दिनों निरुक्त का बहुत व्यापक अर्थ लिया जाता था; आजकल की भाँति उसमें केवल 'यास्क-कृत निरुक्त' नामक ग्रंथ का ही अभिप्राय नहीं लिया जाता था। आजकल व्याकरण के अनेक ग्रंथ देखने में आते हैं; इसलिये 'व्याकरण' शब्द से किसी ग्रंथ-विशेष का बोध नहीं होता। उसी प्रकार निरुक्त-विषयक ग्रंथों की उतनी ही अधिकता थी, जितनी व्याकरण संबंधी ग्रंथों की है, और 'निरुक्त' शब्द किसी ग्रंथ-विशेष का परिचायक न होकर एक शास्त्र का बोधक होता था। ब्राह्मण आदि ग्रंथों में एक और प्राचीन शब्द मिलता है जो भाषा-विज्ञान का बोधक माना जा सकता है। यह शब्द है 'निर्वचन' जो निरुक्त शब्द का समानार्थक है। इसका साधारण अर्थ बोलना, उच्चारण करना, कहना, समझाना, व्याख्या करना, कहावत आदि है। निर्वचन का प्रचलित अर्थ है व्युत्पत्ति। निर्वचन के प्राचीन अर्थ का लोप हो गया है और अब साधारण अर्थ में ही उसका प्रयोग होता है। अतएव भाषा-विज्ञान के अर्थ में उसका प्रयोग करना समीचीन नहीं हो सकता। एक और पुराना शब्द 'शब्दशास्त्र' है जिससे आजकल व्याकरण का अर्थ लिया जाता है। यदि हम इसके अर्थ को समझें तो यह भी भली भाँति भाषा-विज्ञान का पर्याय हो सकता है; क्योंकि भाषा शब्दों से ही बनती है और 'भाषा-विज्ञान' 'भाषाशास्त्र' वास्तव में 'शब्द-विज्ञान' या 'शब्द-शास्त्र' ही है। पर यह 'शब्द-शास्त्र' पद एक

तो व्याकरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है, और दूसरे उतना अधिक व्यापक नहीं है। इसे इतना अधिक व्यापक होना चाहिए जिससे एक ओर तो व्याकरण और दूसरी ओर 'भाषा-विज्ञान' दोनों का उसमें समावेश हो सके। एक तीसरा शब्द 'शिक्षा' है, जिसमें वर्ण, स्वर, मात्रा, बल आदि पर विचार किया जाता है। उणादि-सूत्रों में भी शब्दों की व्युत्पत्ति का विवेचन किया गया है। संस्कृत व्याकरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया पर ध्यान दिया जाय तो व्याकरण भी भाषा-विज्ञान का पर्याय हो सकता है। संस्कृत के व्याकरण में तुलना और इतिहास दोनों को स्थान मिला है। महाभाष्य देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। उसमें भिन्न भिन्न देशों की भाषाओं तथा विभाषाओं का उल्लेख मिलता है और वेद तथा लोक की भाषाओं का इतिहास भी मिलता है। इन बातों से हमारा तात्पर्य यही है कि प्राचीन काल में भारतीय विद्वानों का ध्यान भी इस शास्त्र की ओर अवश्य गया था। उसका बीज हमारे यहाँ बोया गया था और उसी बीज की सहायता से पाश्चात्य विद्वानों ने इस विज्ञान की सृष्टि की। यद्यपि भाषा-विज्ञान अपने शुद्ध और स्वतंत्र रूप में प्राचीन समय में यहाँ उतना अधिक आदर न पा सका, तथापि भाषा के उसके दूसरे अंग व्याकरण ने इस देश में बहुत अधिक उन्नति की। यह उन्नति यहाँ तक परिपूर्णता को पहुँची कि आगे कुछ और करने के लिये अवसर ही न रह गया। यह संभव है कि संस्कृत भाषा के गर्भ में देशीय बोलचाल की बोलियों को सफलतापूर्वक व्याकरण करने के उपरान्त प्राचीन विद्वानों का एक मात्र उद्देश्य उसकी रक्षा हो गया और उन्होंने उस फल की प्राप्ति के लिये प्राणपण से उद्योग करके तथा अपनी मेधाशक्ति को अद्भुत रूप से संचालित करके उस शिष्ट भाषा की अपनी व्याख्याओं से रक्षा की। उसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत भाषा जहाँ सर्वदा के लिये रक्षित हो गई, वहाँ उसकी [illegible] जीवन-शक्ति का भी ह्रास हो गया, वह [illegible] हो गई। भाषाओं की [illegible] उनमें नित्य आदान-प्रदान का होना [illegible] परिवर्तन होता रहता है। तब उनमें यह शक्ति

नहीं रह जाती, तब मानों उनके प्राण निकल जाते हैं, केवल शरीर बचे रहते हैं। यद्यपि प्राकृतों के विकास को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाएँ मृत नहीं हैं, उनमें निरंतर विकास हुआ है और वे आधुनिक देश-भाषाओं के रूप में वर्तमान हैं, परंतु संस्कृत इन्हीं आदिम बोल-चाल की भाषाओं की शाखा से सुधरकर बनी है और उसका रूप एक प्रकार से वैयाकरणों की कृपा से सर्वदा के लिये स्थिर हो गया है। कुछ भी हो, संस्कृत का अध्ययन इतने वैज्ञानिक और व्यवस्थित रूप से हुआ है कि संस्कृत व्याकरण आजकल के भाषा-वैज्ञानिकों के लिये भी आदर और आश्चर्य की वस्तु माना जाता है।

विषय की दृष्टि से भाषा-विज्ञान के तीन अंग होते हैं—ध्वनि, रूप और अर्थ*। और इन्हीं तीनों अंगों के विवेचन की दृष्टि से ध्वनि-विचार, ध्वनि-शिक्षा, रूप-विचार, वाक्य-विचार, अर्थ-विचार और प्राचीन शोध भाषा-विज्ञान के प्रधान अंग हैं।

भाषा-विज्ञान के अंग

ध्वनि-विचार अथवा ध्वनि-विज्ञान के अंतर्गत ध्वनि के परिवर्तनों का तात्त्विक विवेचन तथा ध्वनि-विकारों का इतिहास आदि सभी बातें आ जाती हैं। पर ध्वनि-शिक्षा का संबंध साक्षात् ध्वनियों के उच्चारण और विवेचन से रहता है। पुराने भाषा-शास्त्री ध्वनि का ऐतिहासिक तथा तात्त्विक विवेचन किया करते थे, पर आधुनिक वैज्ञानिक ध्वनि-शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देते हैं। रूप-विचार, प्रकृति-प्रत्यय आदि भाषा का रूपात्मक विवेचन करता है। इसका प्रधान आधार व्याकरण है। वाक्य-विचार भी व्याकरण से संबंध रखता है, पर इसके ऐतिहासिक अध्ययन के लिये कई भाषाओं और साहित्यों का विशेष अभ्यास आवश्यक है। इसी से भाषा-विज्ञान का यह अंग अधिक उन्नत नहीं हो सका। अर्थ-विचार

* पहले संस्करण में ध्वनि के स्थान पर नाद और अर्थ के स्थान पर भाव का प्रयोग हुआ था, पर अब हम ध्वनि और अर्थ का प्रयोग करेंगे।

के अंतर्गत ये दो बातें आती हैं—व्युत्पत्ति-विचार और भाषा के बौद्ध नियमों की मीमांसा। आज व्युत्पत्ति-विचार अथवा निर्वचन एक शास्त्र बन गया है। ऐतिहासिक और ध्वनि-परिवर्तन संबंधी विचारों ने उसे वैज्ञानिक रूप दे दिया है। भाषा के बौद्ध नियमों का अनुशीलन भी अब एक सुन्दर विषय बन गया है। किस प्रकार शब्द अर्थ को छोड़ता और अपनाता है और किस प्रकार अर्थ शब्द का त्याग और ग्रहण करता है तथा कैसे इन अर्थों का संकोच या विस्तार होता है—इन सब बातों का अब स्वतंत्र विवेचन होने लगा है। इसी विषय को कुछ लोग अर्थातिशय का नाम भी देते हैं। इस अर्थ-विचार अर्थात् व्युत्पत्ति-शास्त्र तथा अर्थातिशय के आधार पर भाषा द्वारा प्राचीन इतिहास और संस्कृति की कल्पना की जाती है। ऐसी भाषामूलक प्राचीन शोध भाषा-विज्ञान का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग हो गई है। इन सब अंगों का विशेषज्ञों द्वारा पृथक् पृथक् अध्ययन किया जाता है। पर शास्त्र के सामान्य परिचय के लिये इन सब का साधारण ज्ञान अनिवार्य है।

भाषा-विज्ञान के मुख्य प्रकरण, भाषा का इतिहास, भाषा-विज्ञान का इतिहास, भाषा का वर्गीकरण, ध्वनि-शिक्षा, ध्वनि-विचार, रूप-विचार, अर्थ-विचार, वाक्य-विचार और भाषा-मूलक प्राचीन शोध हैं। अंतिम और सबसे आवश्यक प्रकरण है किसी एक भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन। ये सब मिलकर भाषा-विज्ञान को पूर्ण बनाते हैं।

[illegible]

किसी भाषा का अध्ययन दो प्रकार से होता है। एक ऐतिहासिक और दूसरा तुलनात्मक। तुलनात्मक अध्ययन भी अधिकांश में ऐतिहासिक अध्ययन पर ही निर्भर है। जब तक किसी शब्द के अनेक प्राचीन और नवीन रूप न प्राप्त हों तब तक उनकी परस्पर तुलना करके किसी निश्चित सिद्धांत पर पहुँचना कठिन है। उदाहरण के [illegible] नाम, रूप, संज्ञा, शब्द, चिह्न, लिंग, [illegible] अनेकार्थी [illegible]। ये सब शब्द समानार्थक हैं, पर यह पता नहीं [illegible] संस्कृत [illegible] शब्द कहाँ से आया? [illegible]

एक अन्वेषक ने पता लगाया कि अवेस्ता की भापा में ग्रीष्म के लिये 'हमा' शब्द आया है। इससे स्पष्ट हो गया कि ये 'हमा' और 'समा' शब्द एक ही हैं। इसी प्रकार पिता शब्द का भी हाल है। तुलनात्मक अध्ययन में भापा के अंत्यावयव वाक्य माने जाते हैं। अतएव तुलना वाक्यों की होनी चाहिए, शब्दों की नहीं। यह तुलना प्रवृत्ति-निवृत्ति, विधिनिपेध सूचक वाक्यों से होनी चाहिए। जहाँ ऐसे वाक्य न मिलें वहाँ सविभक्तिक शब्दों अर्थात् पदों द्वारा तुलना होनी चाहिए। प्रातिपदिक शब्दों द्वारा यह काम ठीक ठीक नहीं चल सकता। जब विभक्तियाँ और अर्थ दोनों एक हो तव शब्दों की समानता स्थिर की जा सकती है। अर्थ-साम्य और रूप-साम्य के निश्चित हो जाने पर ही कुछ परिणाम निकल सकता है। भापा-शास्त्रियों ने तुलना के लिये पहले तीन प्रकार के शब्दों को लिया था—संख्यावाचक, संवंधवाचक (पिता, माता आदि) और गृहस्थीवाचक। तुलना के लिये संख्यावाचक शब्दों की उपयोगिता सर्वप्रधान है, क्योंकि उनमें परिवर्तन वहुत कम होता है। पहाड़ों की गिनती में अभी तक प्राचीन शब्द प्रचलित हैं। संवंधवाचक और गृहस्थीवाचक शब्द भी स्थायी हैं। इनके भी अंग स्थिर होते हैं। इनका भी लोप प्राय: कम होता है। तुलना तभी ठीक होगी जव ऐतिहासिक प्रक्रिया से शब्दों का परिवार निश्चित हो जाय। संख्यावाचक शब्दों के अतिरिक्त उत्तम और मध्यम पुरुप के सर्वनामों में भी यूरोपीय भापाओं में वहुत साम्य है। वर्णसाम्य पर शब्दों की व्युत्पत्ति ढूँढ़ना या भिन्न भिन्न रूपों से भिन्न भिन्न मूलों अथवा एक मूल की कल्पना करना भ्रामक है।

भापा-विज्ञान कला है या विज्ञान

प्रश्न है कि भापा-विज्ञान की गणना कला में की जाय या विज्ञान में। कला के अंतर्गत केवल मनुष्य की कृतियाँ ही आती हैं, जैसे चित्रकला, मूर्तिकला, काव्यकला आदि। विज्ञान उसे कहते हैं जिसमें ईश्वर या प्रकृति की कृतियों की मीमांसा होती है, जैसे भौतिक-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, जीवन-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि। भापा-

के अंतर्गत ये दो बातें आती हैं—व्युत्पत्ति-विचार और भाषा के बौद्ध नियमों की मीमांसा। आज व्युत्पत्ति-विचार अथवा निर्वचन एक शास्त्र बन गया है। ऐतिहासिक और ध्वनि-परिवर्तन संबंधी विचारों ने उसे वैज्ञानिक रूप दे दिया है। भाषा के बौद्ध नियमों का अनुशीलन भी अब एक सुन्दर विषय बन गया है। किस प्रकार शब्द अर्थ को छोड़ता और अपनाता है और किस प्रकार अर्थ शब्द का त्याग और ग्रहण करता है तथा कैसे इन अर्थों का संकोच या विस्तार होता है—इन सब बातों का अब स्वतंत्र विवेचन होने लगा है। इसी विषय को कुछ लोग अर्थातिशय का नाम भी देते हैं। इस अर्थ-विचार अर्थात् व्युत्पत्ति-शास्त्र तथा अर्थातिशय के आधार पर भाषा द्वारा प्राचीन इतिहास और संस्कृति की कल्पना की जाती है। ऐसी भाषामूलक प्राचीन खोज भाषा-विज्ञान का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग हो गई है। इन सब अंगों का विशेषज्ञों द्वारा पृथक् पृथक् अध्ययन किया जाता है। पर शास्त्र के सामान्य परिचय के लिये इन सब का साधारण ज्ञान अनिवार्य है।

भाषा-विज्ञान के मुख्य प्रकरण, भाषा का इतिहास, भाषा-विज्ञान का इतिहास, भाषा का वर्गीकरण, ध्वनि-शिक्षा, ध्वनि-विचार, रूप-विचार, अर्थ-विचार, वाक्य-विचार और भाषा-मूलक प्राचीन शोध हैं। अंतिम और सबसे आवश्यक प्रकरण है किसी एक भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन। ये सब मिलकर भाषा-विज्ञान को पूर्ण बनाते हैं।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रकार

किसी भाषा का अध्ययन दो प्रकार से होता है। एक ऐतिहासिक और दूसरा तुलनात्मक। तुलनात्मक अध्ययन भी अधिकांश में ऐतिहासिक अध्ययन पर ही निर्भर है। जब तक किसी शब्द के अनेक प्राचीन और नवीन रूप न प्राप्त हों तब तक उनकी परस्पर तुलना करके किसी निश्चित सिद्धांत पर पहुँचना कठिन है। उदाहरण के लिये हम वेद में "वर्ष" के लिये आए हुए समा, शरद्, हिम, हेमंत, वर्ष आदि शब्द पाते हैं। ये सब शब्द ऋतुवाचक हैं, पर यह पता नहीं चलता था कि ग्रीष्म ऋतु-वाची 'समा' शब्द कहाँ से आया? अन्त में

एक अन्वेषक ने पता लगाया कि अवेस्ता की भाषा में ग्रीष्म के लिये 'हमा' शब्द आया है। इससे स्पष्ट हो गया कि ये 'हमा' और 'समा' शब्द एक ही हैं। इसी प्रकार पिता शब्द का भी हाल है। तुलनात्मक अध्ययन में भाषा के अंत्यावयव वाक्य माने जाते हैं। अतएव तुलना वाक्यों की होनी चाहिए, शब्दों की नहीं। यह तुलना प्रवृत्ति-निवृत्ति, विधिनिषेध सूचक वाक्यों से होनी चाहिए। जहाँ ऐसे वाक्य न मिलें वहाँ सविभक्तिक शब्दों अर्थात् पदों द्वारा तुलना होनी चाहिए। प्रातिपदिक शब्दों द्वारा यह काम ठीक ठीक नहीं चल सकता। जब विभक्तियाँ और अर्थ दोनों एक हों तब शब्दों की समानता स्थिर की जा सकती है। अर्थ-साम्य और रूप-साम्य के निश्चित हो जाने पर ही कुछ परिणाम निकल सकता है। भाषा-शास्त्रियों ने तुलना के लिये पहले तीन प्रकार के शब्दों को लिया था—संख्यावाचक, संबंधवाचक (पिता, माता आदि) और गृहस्थीवाचक। तुलना के लिये संख्यावाचक शब्दों की उपयोगिता सर्वप्रधान है, क्योंकि उनमें परिवर्तन बहुत कम होता है। पहाड़ों की गिनती में अभी तक प्राचीन शब्द प्रचलित हैं। संबंधवाचक और गृहस्थीवाचक शब्द भी स्थायी हैं। इनके भी अंग स्थिर होते हैं। इनका भी लोप प्रायः कम होता है। तुलना तभी ठीक होगी जब ऐतिहासिक प्रक्रिया से शब्दों का परिवार निश्चित हो जाय। संख्यावाचक शब्दों के अतिरिक्त उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनामों में भी यूरोपीय भाषाओं में बहुत साम्य है। वर्णसाम्य पर शब्दों की व्युत्पत्ति ढूँढ़ना या भिन्न भिन्न रूपों से भिन्न भिन्न मूलों अथवा एक मूल की कल्पना करना भ्रामक है।

भाषा-विज्ञान कला है या विज्ञान

प्रश्न है कि भाषा-विज्ञान की गणना कला में की जाय या विज्ञान में। कला के अंतर्गत केवल मनुष्य की कृतियाँ ही आती हैं, जैसे चित्रकला, मूर्तिकला, काव्यकला आदि। विज्ञान उसे कहते हैं जिसमें ईश्वर या प्रकृति की कृतियों की मीमांसा होती है, जैसे भौतिक-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, जीवन-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि। भाषा-

विज्ञान विज्ञान है या कला, इस पर यूरोप के विद्वानों ने वहुत कुछ विचार किया है और अंत में यही सिद्धांत निकाला है कि यह विज्ञान है, कला नहीं है; क्योंकि भापा भी वास्तव में एक ईश्वरदत्त शक्ति है और उसका आरंभ तथा विकास आदि भी प्राकृतिक रूप में ही होता है; मनुष्य अपनी शक्ति से और जान-बूझकर कदाचित् ही उसमें कोई परिवर्तन कर सकता है। यदि इस संवंध में वह कुछ कर भी सकता है तो एक तो वह प्राय: नहीं के वरावर होता है, और दूसरे जो कुछ हो भी सकता है, वह व्यक्तिगत प्रयत्न से नहीं वरन् सामूहिक या सामाजिक रूप से होता है, और जो काम सामूहिक या सामाजिक रूप से हो, वह प्राय: प्राकृतिक के समान ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त भापा-विज्ञान में विज्ञान के और भी लक्षण पाए जाते हैं। इन्हीं कारणों से इसकी गणना कला में नहीं, विज्ञान में होती है।

भापा-विज्ञान और व्याकरण

हम कह चुके हैं कि भापा-विज्ञान और व्याकरण का घनिष्ट संवंध है। व्याकरण एक कला है और भापा-विज्ञान एक विज्ञान। व्याकरण भाषा में साधुता और असाधुता का विचार करता है, और भापाविज्ञान भापा की वैज्ञानिक व्याख्या करता है। व्याकरण दो प्रकार का होता है—वर्णनात्मक और व्याख्यात्मक। वर्णनात्मक व्याकरण लक्ष्यों का व्यवस्थित रूप में वर्गीकरण करता है और सामान्य नियमों का निर्माण करता है। व्याख्यात्मक व्याकरण इसका भाष्य करता है। यह भाषामात्र की प्रवृत्तियों की व्याख्या करता है। इसके भी तीन अंग होते हैं—ऐतिहासिक, तुलनात्मक और सामान्य व्याकरण। ऐतिहासिक व्याकरण भाषा के कार्यों को समझाने के लिये उसी भापा में या उसकी पूर्ववर्ती भापा में उसके कारणों के ढूँढ़ने की चेष्टा करता है, तुलनात्मक व्याकरण उसके कार्यों की व्याख्या के लिये उस भापा की समकालीन या उसकी पूर्वज सजातीय भापाओं की तुलनात्मक परीक्षा करता है और सामान्य व्याकरण सभी भापाओं के—भापा-मात्र के—मौलिक सिद्धांतों तथा तत्त्वों की मीमांसा करता है। यद्यपि यह सत्य

है कि व्याख्यात्मक व्याकरण वर्णनात्मक व्याकरण के आधार पर ही काम करता है तथापि भाषा-विज्ञान ने व्याकरण की व्याख्या को अपने अंतर्गत कर लिया है, और उसका आधार भी वर्णनात्मक व्याकरण हो जाता है।

(व्याकरण एक काल की किसी भाषा विशेष से सम्बन्ध रखता है। भाषा-विज्ञान किसी भाषा की अतीत काल की आलोचना करता है, तथा अन्य भाषाओं से उसकी तुलना करता है। व्याकरण नियम उपनियम और अपवाद का सविस्तर विवेचन करता है, और भाषा-विज्ञान प्रत्येक शब्द का इतिहास प्रस्तुत करता है। व्याकरण भाषा-विज्ञान का एक सहायक मात्र है। व्याकरण वर्ण-प्रधान होने के कारण भाषा-विज्ञान और व्याकरण में एक और भेद हो जाता है। व्याकरण सिद्ध और निष्पन्न रूप को लेकर ही अपना काम करता है। भाषा में जैसे रूप मिलते हैं उन्हीं पर वह विचार करता है। प्राचीन रूप वर्तमान रूप को कैसे प्राप्त हुआ, इसके कारणों पर भाषा-विज्ञान विचार करता है। भाषा-विज्ञान व्याकरण का व्याकरण है। उसका विकसित रूप है। इसी गुण के कारण इसको तुलनात्मक व्याकरण अथवा ऐतिहासिक तुलनात्मक व्याकरण भी कहते हैं।

• भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान

इसके अतिरिक्त और भी ऐसे शास्त्र या विज्ञान हैं, जिनके साथ भाषा-विज्ञान का साधारण या घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा की सृष्टि विचारों से होती है। पहले मन में किसी प्रकार का विचार उत्पन्न होता है और तब उस विचार के अनुकूल भाषा का सृजन होता है। भाषा वास्तव में विचाररूपी साध्य का साधन है। विचारों का सम्बन्ध मन या मस्तिष्क से है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान का मनोविज्ञान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है। शब्दों के अर्थ आदि में जो परिवर्तन होते हैं उनके कारण और स्वरूप आदि के समझने के लिये भाषा-विज्ञान में मनोविज्ञान का आश्रय लिया जाता है।

साहित्य से भी भापा-विज्ञान का कम घनिष्ठ संबंध नहीं है। भाषा-विज्ञान संबंधी अधिकांश नियमों और सिद्धांतों की रचना साहित्य के ही सहारे होती है, क्योंकि भापा और रूप-परिवर्तन का ज्ञान करानेवाली समस्त सामग्री साहित्य में रक्षित रहती है। यदि साहित्य इन सब बातों को रक्षित न रखे तो भापा-विज्ञान का कार्य कठिन हो जाय। (साहित्य संपन्न भापाएँ साहित्य-द्वारा रक्षित होकर अमर हो सकती हैं।) ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन तो तुलनात्मक भापाओं का ही हो सकता है। जो बोलियाँ साहित्य-हीन हैं, जिनके अतीत का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं, उनके इतिहास की चर्चा कैसे हो सकती है? यदि हमारे पास हमारे देश का क्रमबद्ध प्राचीन साहित्य न हो तो हमारा भापा-विज्ञान कुछ रह ही न जाय। भिन्न शब्दों और उनके रूपों में क्या और कैसे परिवर्तन हुए, इसका ज्ञान केवल साहित्य से ही हो सकता है। आजकल जो भापा का अध्ययन इतना समृद्धिशाली हो रहा है वह संस्कृत के ही ज्ञान का फल है इसी की कृपा से शब्दों के रूप और अर्थ का इतिहास इतना सरल और रोचक हो गया है।

भाषा-विज्ञान और साहित्य

भापा-विज्ञान के ज्ञाता के लिये ऐसे साहित्य और भापा का अध्ययन भी सुगम हो जाता है जो अत्यंत प्राचीन हो अथवा जिससे उसका कभी किसी प्रकार का संघर्ष न रहा हो। भापा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिये वे भापाएँ सहज और सरल हो जाती हैं। हिन्दी-भापा के विकास के जिज्ञासु को हिंदी की पूर्वज अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं के साहित्य से परिचय प्राप्त करना पड़ता है और वह एक भापा की अपेक्षा अनेक भापाओं का- कोविद स्वयं हो जाता है तथा अनेक साहित्यों से उसका परिचय हो जाता है।

एक और विज्ञान है जो भापा-विज्ञान का प्रधान आधार है। वह मानव-विज्ञान है जिसमें इस विषय का विवेचन होता है कि मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक या आरंभिक अवस्था से किस प्रकार उन्नति करके अपनी वर्तमान उन्नत और सभ्य अवस्था प्राप्त की है। मनुष्यों में

दो अंश होते हैं—एक अंश तो स्वाभाविक या प्राकृतिक है और इच्छा, राग, द्वेप, सामर्थ्य आदि उसके अंग हैं। दूसरा अंश वह है जो संस्कार-

भापा-विज्ञान और मानव-विज्ञान

जन्य होता है। ज्ञान, विज्ञान, अनुभव और सामाजिक रीति-नीति के कारण मनुष्य में जो बातें आती हैं उन्हीं का अंगी यह अंश है। यदि आप किसी सभ्य से सभ्य जाति के शिशु को भी आरंभ से किसी एकांत स्थान में रखें तो भी, वयस्क होने पर, वह न तो अपनी मातृभापा वोल सकेगा और न अपने वापदादा की भाँति किसी प्रकार की कला या विज्ञान आदि का ही परिचय प्राप्त कर सकेगा। उसमें शुद्ध मानव प्रकृति के ही लक्षण रहेंगे। संस्कार-जन्य वातों से वह सर्वदा कोरा होगा। अथवा यदि वह अपना संस्कार करना चाहेगा, तो उसे वहुत से अंशों में उसी मार्ग का अतिक्रमण करना पड़ेगा जो निरी प्रारंभिक अवस्था के मनुष्यों ने ग्रहण किया था। मानव-शास्त्र हमको यह वात वतलाता है कि आरंभिक काल में मानव-समाज की क्या अवस्था थी और उनमें किन किन वातों का विकास कव कव और किस किस प्रकार हुआ। भापा-विज्ञान का घनिष्ठ संवंध मानव-विज्ञान के उस अंश से है जिसमें उसकी वात चीत, रहन-सहन और रीति-भाँति का विवेचन होता है। यदि आपको इस वात का ज्ञान न हो कि मानव-समाज में लेखन कला* का आरंभ और विकास कव और कैसे हुआ? तो आपका भापा-विज्ञान अधूरा ही रह जायगा।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे विज्ञान हैं जिनका भापा-विज्ञान से कुछ न कुछ संवंध अवश्य है। उदाहरण के लिये सामाजिक

भाषा-विज्ञान और अन्य शास्त्र

और राजनीतिक इतिहास, साधारण और प्राकृतिक भूगोल . प्रकृति-विज्ञान, समाज-शास्त्र आदि को ले लीजिए। इन सवका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भापा-विज्ञान के साथ कुछ न कुछ संवंध अवश्य होता

---

* प्रस्तुत संस्करण में इस विषय पर एक प्रकरण सम्मिलित कर दिया गया है। देखिए सातवाँ प्रकरण।

है। भापा पर राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों का वहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। अपभ्रंश को देशव्यापी वनाने का प्रधान कारण आभीरों का राजनीतिक प्रभुत्व था। शकों और हूणों तथा मुसलमानों और यूरोपियनों के आगमन एवं संसर्ग का प्रभाव यहाँ की भापा और व्याकरण पर स्पष्ट है। देशों की भौगोलिक स्थिति से भी भापा का बहुत अधिक संबंध है, यहाँ तक कि जल-वायु का भी भापा पर वहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। किसी देश के लोग 'ट' का उच्चारण नहीं कर सकते तो कहीं के लोगों के मुँह से 'त' ही नहीं निकलता। फारस और अरबवाले जो 'ऐन' 'गैन' 'फ़े' और 'क़ाफ़' वोलते हैं वह अकारण नहीं है। इसका कारण कुछ तो वहाँ की भौगोलिक स्थिति और कुछ वहाँ की दूसरी परिस्थितियाँ हैं। समय पाकर लोग अनेक पुराने उच्चारण भूल जाते और नये उच्चारण करने लगते हैं। प्राचीन काल के ऋ, ॠ, ऌ और ॐ का उच्चारण अव लोग भूल से गए हैं। 'ज्ञ' के उच्चारण में भिन्न भिन्न प्रांतों में वहुत कुछ अंतर देखने में आता है। ये सव परिवर्तन अनेक भिन्न भिन्न कारणों से होते हैं, और जिन जिन विज्ञानों में उन कारणों का विवेचन होता है, उन सव विज्ञानों के साथ भाषा-विज्ञान का कुछ न कुछ संवंध रहता है। कदाचित् यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि भापा-विज्ञान के लिये अनेक भाषाओं के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है।

भाषा-विज्ञान ने जातियों के प्राचीन इतिहास अर्थात् उनकी सभ्यता के विकास का इतिवृत्त उपस्थित करने में वड़ी अमूल्य सहायता दी है। पुरातत्त्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके अवशेषांशों के आधार पर ही केवल प्राचीन समय का इतिहास उपस्थित करता है, प्राचीन जातियों के मानसिक विकास का व्योरा देने में वह असमर्थ है। भाषा-विज्ञान इस अभाव की पूर्त्ति करता है। मानसिक भावों या विचारों-संवंधी शब्दों में उनका पूरा पूरा इतिहास भरा पड़ा है; और उसके आधार पर हम यह जान सकते हैं कि प्राचीन समय में किस जाति के विचार कैसे थे; वे ईश्वर और आत्मा आदि के संवंध में क्या

सोचते या समझते थे; उनकी रीति-नीति कैसी थी, तथा उनका गार्हस्थ्य, सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक जीवन किस श्रेणी या किस प्रकार का था। भाषा-विज्ञान के इस रोचक और शिक्षाप्रद अंग और भाषा-मूलक प्राचीन शोध (Linguistic Paleontology) कहते हैं। यह अध्ययन लिपि-विज्ञान, मानव-विज्ञान, वंशान्वय-शास्त्र, पुरातत्त्व आदि अनेक शास्त्रों और विज्ञानों से मिलकर प्राचीन जातियों के भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का संपूर्ण और रोचक इतिहास प्रस्तुत करता है।

आधुनिक भाषा-विज्ञान का प्रारंभिक इतिहास

इस स्थान पर भाषा-विज्ञान के संक्षिप्त इतिहास का दिग्दर्शन करा देना आवश्यक जान पड़ता है। प्राचीन काल में चीन तथा असीरिया देशों में कोष-ग्रंथों की रचना हुई थी, पर भारतवासियों ने जिस प्रकार भाषा के अंग-प्रत्यंग पर विचार किया था उस प्रकार किसी अन्य देश के विद्वानों ने नहीं किया था। यूनानी विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति और शब्दों की व्युत्पत्ति की ओर ध्यान दिया था, पर उनकी व्युत्पत्तियाँ प्रायः अट-कलपच्चू हैं, क्योंकि वे भ्रमात्मक सिद्धांत मानकर चले थे। उन लोगों ने हिब्रू भाषा को संसार की समस्त भाषाओं की जननी स्वीकार किया था। प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् अरस्तू ने सबसे पहले शब्दों को आठ भागों में विभाजित किया था और इस विभाग को स्टोइक मतावलंबियों ने अधिक उन्नत किया, जिसके फलस्वरूप उनके स्थिर किये हुए शब्द-विभागों के लैटिन नाम अभी तक अँगरेजी आदि भाषाओं में व्यवहृत होते हैं। रोमवालों ने यूनानियों की नकल करने के अतिरिक्त इस क्षेत्र में स्वतः कुछ नहीं किया। सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् भाषाओं के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान पुनः आकर्षित हुआ। पर इस समय अलग अलग भाषाओं के अध्ययन की ही प्रधानता थी। अभी तक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आरम्भ नहीं हुआ था। लिबनिज ने सबसे पहले हिब्रू के महत्त्व का खंडन किया और संसार की परस्पर संबद्ध भाषाओं का विभाग करने का प्रस्ताव किया। अनेक समसामयिक विद्वानों की भाँति वह भी संसार भर के लिये एक विश्व-भाषा का पक्षपाती था। अठारहवीं

शताब्दी के अंतिम चरण में यूरोपवालों में संस्कृत के पठन-पाठन की अभिरुचि उत्पन्न हुई। पहले पहल सन् १७६७ में कूरडो नामक फ्रांसीसी पादरी ने अपने देश की एक साहित्यिक संस्था का ध्यान संस्कृत और लैटिन की परस्पर समानता की ओर आकर्पित किया था। पर उक्त संस्था ने उस समय इस प्रश्न को अधिक महत्त्वपूर्ण न समझकर इधर ध्यान नहीं दिया। कूरडो का लेख ४० वर्प तक अप्रकाशित पड़ा रहा। सन् १७८५ में चार्ल विल्किंस ने श्रीमद्भगवद्गीता का और १७८७ में हितोपदेश का अँगरेजी में अनुवाद किया था। सर विलियम जोन्स ने सन् १७९६ के लगभग संस्कृत का अध्ययन किया। उन्होंने लिखा था कि "संस्कृत भापा ग्रीक भापा से अधिक पूर्ण और लैटिन से अधिक संपन्न तथा दोनों भाषाओं से अधिक परिमार्जित है। फिर भी उक्त तीनों भापाओं की धातुओं तथा नाम-रूपों में वहुत समानता है, जो आकस्मिक नहीं कही जा सकती। यह साम्य इतना अधिक है कि कोई भी भाषा-वैज्ञानिक इन भापाओं की तुलना और अनुशीलन तव तक नहीं कर सकता जव तक वह यह न जान ले कि इन तीनों भापाओं की जननी एक सामान्य भापा है, जिसका अस्तित्व अव नहीं है। गैथिक और केल्टिक तथा प्राचीन फारसी का भी संवंध संस्कृत से घनिष्ठ है।" किंतु सर विलियम जोन्स ने तुलनात्मक भापा-विज्ञान के क्षेत्र में अधिक कार्य उस समय नहीं किया। उन्होंने सन् १८०४ में शकुन्तला, मनुस्मृति और ऋतुसंहार का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। तदुपरांत हेनरी टामस, कोलब्रुक, विलसन, बर्नफ आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया और उसके अनेक ग्रंथों का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। अलेकजेंडर हैमिल्टन नामक एक अँगरेज सैनिक ने भारत में रहकर संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया था। जव इँगलैंड और फ्रांस से युद्ध हुआ, तब ये इँगलैंड जाते समय फ्रांस में रोक लिए गए थे और कुछ दिनों तक पेरिस में कैद रखे गए थे। कैद की दशा में ही इन्होंने कई फ्रांसीसी विद्वानों तथा जर्मन कवि श्लेगेल को संस्कृत पढ़ाई थी। श्लेगेल ने भारतवासियों की भाषा

और बुद्धि' नामक एक ग्रंथ लिखा था, जिसमें संस्कृत का अच्छा परिचय दिया गया था और भारतीयों की बहुत प्रशंसा की गई थी। इस ग्रंथ के कारण अनेक दूसरे जर्मन विद्वानों में भी संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कंठा हुई। उन्हीं में से आधुनिक भाषा-विज्ञान के जन्मदाता फ्रैंज बाँप भी थे। डेनमार्क के रैसमस रास्क तथा जर्मनी के फ्रैंज बाँप, जेवक ग्रिम ये तीन आधुनिक भाषा-विज्ञान के जन्मदाता माने जाते हैं। पर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के संबंध में बाँप को ही अधिक श्रेय दिया जाता है। रास्क ने ध्वनि के नियमों के महत्त्व को पहचाना था। जर्मन-व्यंजनों के परिवर्तन का पता ग्रिम से पूर्व उसने लगाया था। ग्रिम विशेष रूप से जर्मन समूह की भाषाओं की ओर झुके थे और उन्होंने सभी के संबंध में नियमादि बनाए। ग्रिम का सिद्धांत जर्मन समूह की भाषाओं के लिये ही अधिक लागू है। बाँप ने संस्कृत के अध्ययन से आरंभ किया और भारोपीय भाषा-परिवार में अधिक भाषाओं का समावेश किया। उन्होंने संस्कृत, जैंद, यूनानी, लैटिन, ट्यूटैनिक, लिथुआनियन, स्लेवानियन तथा केल्टिक भाषाओं के पारस्परिक संबंध का पता लगाया। सन् १८१८ ई० में उन्होंने इन भाषाओं का एक तुलनात्मक व्याकरण लिखा जो तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रथम ग्रंथ माना जाता है। बाँप ने अनेक प्रमाणों से यह भी सिद्ध कर दिया कि ये सब भाषाएँ वास्तव में किसी एक ही भाषा से निकली हैं। तब से अन्यान्य अनेक विद्वानों का भी ध्यान इस ओर गया और उन सबके सम्मिलित परिश्रम से आधुनिक भाषा-विज्ञान की सृष्टि हुई। सन् १८६० ई० के लगभग आर्य भाषाओं का प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्लाइशर था। उसी ने सबसे पहले मूल भारोपीय भाषा के रूपों की कल्पना करने का यत्न किया था। पर उसके सिद्धांत प्रबल प्रमाणों के आधार पर नहीं थे। इसलिए पीछे के विद्वानों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया।

सन् १८७५ ई० के पश्चात् भाषा-विज्ञान के इतिहास का आधुनिक युग आरंभ होता है। इस समय के प्रसिद्ध विद्वानों—मेक्समूलर, ह्विटने, पाल-ब्रगमैन, डेलब्रुक आदि—ने भाषा के संबंध के नए नए सिद्धांत स्थिर

किए और मूल भारोपीय भाषा के स्वरूप की अधिक समीचीन कल्पना की। ध्वनि-विज्ञान का महत्त्व बढ़ गया। जीवित भाषाओं की संकीर्ण ध्वनियों के अध्ययन से यह विश्वास दूर हो गया कि मूल भारोपीय भाषा सरल रही होगी। सादृश्य के सिद्धांत को प्रधानता दी गई। इस नए दल ने यह सिद्ध किया कि ध्वनि के नियमों में अपवाद नहीं है। संस्कृत की पूर्णता और महत्त्व को कम श्रेय दिया गया। यूनानी भाषा में मूल भाषा के अधिक स्वर विद्यमान वताए गए, पर व्यंजनों के विषय में अभी तक संस्कृत की पूर्णता अखंड और सर्वमान्य है।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारोपीय वर्ग की एक नवीन भाषा टोखारियन का पता लगा। आजकल की खोजों में से एक फ्रेंच विद्वान् द्वारा सुमेरियन भाषा का आर्य भाषाओं से संबंध स्थापित किया जाना प्रधान और उल्लेखनीय घटना है।

तात्पर्य यह कि आधुनिक भाषा-विज्ञान अभी केवल सौ सवा सौ वर्ष पुराना है। एक प्रकार से यह अभी बन रहा है। फिर भी इधर इसने बहुत उन्नति की है। अभी तक शब्दों के रूपों और ध्वनियों का ही विचार होता था परन्तु अब उसके अर्थ और उसकी शक्ति पर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। डेल्ब्रुक और ब्रील ने इस ओर ध्यान दिया। ब्रील ने अर्थातिशय पर एक प्रबंध लगभग १८९७ ई० में लिखा। अब तक ध्वनि-शिक्षा का अध्ययन केवल पुस्तकों द्वारा ही होता था परंतु अब प्रयोगशालाओं की भी आवश्यकता पड़ने लग गई है। जेस्पर्सन, स्वीट, उलनबैक, टर्नर आदि आधुनिक काल के प्रसिद्ध विद्वान् हैं।

भाषा-विज्ञान की वर्तमान अवस्था

प्रायः लोगों का ऐसा अनुमान होता है कि यह विज्ञान पश्चिम की उपज है। किन्तु वास्तव तथ्य इसके विपरीत है। पहले हम कह आए हैं कि हमारे यहाँ के महर्षियों और विद्वानों को ही इसके बीजारोपण का श्रेय प्राप्त है। उस काल में जो अध्ययन विवेचन आदि हुआ था वह संस्कृत भाषा का हुआ था। आधुनिक भारतीय भाषाओं के ऐसे वैज्ञानिक विवेचन की ओर भारतीय विद्वानों का ध्यान अभी

तक नहीं गया था। यूरोपियनों ने पहले पहल इस ओर उद्योग किया था। अब बहुत-से विद्वानों ने इस ओर ध्यान दिया है। प्राचीन बोलियों पर भी अच्छी पुस्तकें निकल चुकी हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी का अध्ययन हुआ है और अच्छे अच्छे ग्रंथ निकले हैं। अभी बहुत कुछ होना बाकी है। पर जो लोग आधुनिक भारतीय भाषाएँ बोलते हैं उनका इस विषय में अग्रसर होना कर्त्तव्य है। अपनी मातृभाषाओं का जितना मर्म वे समझ सकते हैं, उतना विदेशी नहीं समझ सकते। अतएव इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि भारतीय विद्वान् भाषा की ओर दत्तचित्त हों और उसको दृढ़ आधार पर स्थिर करके अपनी भाषाओं के रहस्यपूर्ण तत्त्व समझने और समझाने का उद्योग करें।

दूसरा प्रकरण

भाषा और भाषण

मनुष्य और मनुष्य के बीच, वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिये व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।

इस परिभाषा में भाषा के विचारांश पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। भाषा विचारों को व्यक्त करती है, पर विचारों से अधिक संबंध उसके वक्ता के भाव, इच्छा, प्रश्न, आज्ञा आदि मनोभावों से रहता है। 'विचार' को व्यापक अर्थ में लेने से उसमें इन सभी का समावेश हो सकता है, पर ऐसा करना समीचीन नहीं होता; वह प्राय: स्पष्टता और वैज्ञानिक व्याख्या का घातक होता है। साधारण से साधारण पाठक भी यह समझता है कि वह सदा विचार प्रकट करने के लिये ही नहीं बोलता। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि भाषा सदा किसी न किसी वस्तु के विषय में कुछ कहती है, वह वस्तु चाहे बाह्य भौतिक जगत् की हो अथवा सर्वथा आध्यात्मिक और मानसिक। इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्व की बात है भाषा का समाज-सापेक्ष होना। भाषा की उत्पत्ति किसी प्रकार हुई हो, भाषा के विकास के लिये यह कल्पना करना आवश्यक हो जाता है कि लोग एक दूसरे के कार्यों, विचारों और भावों को प्रभावित करने के लिये व्यक्त ध्वनियों का सप्रयोजन प्रयोग करते थे। जीव-विज्ञान की खोजों से सिद्ध हो चुका है कि कई पशु और पक्षी भी एक प्रकार की भाषा काम में लाते हैं। गृह-निर्माण, आहार आदि के अतिरिक्त स्वागत, हर्ष, भय आदि की सूचक ध्वनियों का भी वे व्यवहार करते देखे गए हैं। पर पशु-पक्षियों के ये ध्वनि-संकेत सर्वथा सहज और स्वाभाविक होते हैं और मनुष्यों की भाषा सहज संस्कार की उपज न होकर, सप्रयोजन होती है। मनुष्य

समाजप्रिय जीव है, वह सहयोग और विनिमय के विना कभी रह नहीं सकता। उसकी यह प्रवल प्रवृत्ति भाषा के रूप में प्रकट होती है, क्योंकि भाषा सामाजिक सहयोग का साधन बन जाती है। पीछे से विकसित होते होते भाषा विचार और आत्माभिव्यक्ति का भी साधन बन जाती है। अतः यह कभी न भूलना चाहिए कि भाषा एक सामाजिक वस्तु है।

भाषा के अंग

भाषा का शरीर प्रधानतः उन व्यक्त ध्वनियों से बना है जिन्हें 'वर्ण' कहते हैं, पर उनके कुछ सहायक अंग भी होते हैं। आँख और हाथ के इशारे अपढ़ और जङ्गली लोगों में तो पाए ही जाते हैं, हम लोग भी आवश्यकतानुसार इन संकेतों से काम लेते हैं। किसी अन्य भाषाभाषी से मिलने पर प्रायः अपने अपूर्ण उच्चारण अथवा अपूर्ण शब्द-भांडार की पूर्ति करने के लिये हमें संकेतों का प्रयोग करना पड़ता है। बहरे और गूँगे से संलाप करने में उनकी संकेतमय भाषा का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार मुख-विकृति भी भाषा का दूसरा अंग मानी जा सकती है। गर्व, घृणा, क्रोध, लज्जा आदि के भावों के प्रकाशन में मुख-विकृति का बड़ा सहयोग रहता है। एक क्रोधपूर्ण वाक्य के साथ ही वक्ता की आँखों में भी क्रोध देख पड़ना साधारण बात है। बातचीत से मुख की विकृति अथवा भाव-भंगी का इतना घनिष्ठ संबंध होता है कि अंधकार में भी हम किसी के शब्दों को सुनकर उसके मुख की भाव-भंगी की कल्पना कर लेते हैं। ऐसी अवस्था में प्रायः कहने का ढंग अर्थात् आवाज (tone of voice) हमारी सहायता करती है। विना देखे भी हम दूसरे की 'कड़ी आवाज', 'भरी आवाज' अथवा 'भर्राए' और 'टूटे' स्वर से उसके वाक्यों का भिन्न भिन्न अर्थ लगाया करते हैं। इसी से लहजा, आवाज (tone) अथवा स्वर-विकार भी भाषा का एक अंग माना जाता है। इसे वाक्य-स्वर भी कह सकते हैं।

इसी प्रकार स्वर (अर्थात् गीतात्मक स्वराघात), बल-प्रयोग और उच्चारण का वेग (अर्थात् प्रवाह) भी भाषा के विशेष अंग होते हैं; जोर

से पढ़ने में इनका महत्त्व स्पष्ट देख पड़ता है। यदि हम लेखक के भाव का सच्चा अर्थ समझना चाहते हैं तो हमें प्रत्येक वाक्य के लहजे और प्रवाह का तथा प्रत्येक शब्द और अक्षर के स्वर और बल का अनुमान करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि कोई वर्ण-माला इतनी पूर्ण नहीं हो सकती कि वह इन बातों को भी प्रकट कर सके।

इंगित, मुखविकृति, स्वर-विकार (अथवा लहजा), स्वर, बल और प्रवाह (वेग)—भाषा के ये गौण अंग जङ्गली और असभ्य जातियों की भाषाओं में प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। इसमें भी संदेह नहीं है कि सभ्य और संस्कृत भाषाओं की आदिम अवस्था में उनका प्राधान्य रहा होगा। ज्यों ज्यों भाषा अधिक उन्नत और विकसित अर्थात् विचारों और भावों के वहन करने योग्य होती जाती है त्यों त्यों इन गौण अंगों की मात्रा कम होती जाती है।

हिंदी जनता में 'भाषा' शब्द का कई भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है—भाषा सामान्य, राष्ट्रीय भाषा, प्रांतीय भाषा, स्थानीय भाषा, साहित्यिक भाषा, लिखित भाषा आदि। सभी के लिये विशेषण-रहित भाषा का प्रयोग होता है। भाषण की क्रिया के लिये भी भाषा का ही व्यवहार होता है। अतः इन अर्थों को संक्षेप में समझकर शास्त्रीय विवेचन के लिये उनका पृथक् पृथक् नाम रख लेना चाहिए।

बोली, विभाषा और भाषा

आगे चलकर हम देखेंगे कि समस्त संसार की भाषाओं का कुछ परिवारों में विभाग किया गया है। एक एक परिवार में कुछ भाषा-वर्ग होते हैं। एक एक वर्ग में अनेक सजातीय भाषाएँ होती हैं। एक एक भाषा की अनेक विभाषाएँ होती हैं। एक विभाषा की अनेक बोलियाँ होती हैं। यहाँ हमें भाषा, विभाषा और बोली से ही काम है, क्योंकि इन तीनों के लिये कभी कभी हिंदी में 'भाषा' का प्रयोग देख पड़ता है। 'बोली' से हमारा अभिप्राय स्थानीय और घरू बोली से है, जो तनिक भी साहित्यिक नहीं होती और बोलनेवालों के मुख में ही रहती है। इसे आजकल लोग 'पेटवा' (Patois) कहकर पुकारते हैं। विभाषा

का क्षेत्र बोली से विस्तृत होता है। एक प्रांत अथवा उपप्रांत की बोल-चाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा 'विभाषा' कहलाती है। इसे अँगरेजी में 'डायलेक्ट'(Dialect) कहते हैं। हिंदी के कई लेखक विभाषा को 'उपभाषा', 'बोली' अथवा 'प्रांतीय भाषा' भी कहते हैं। कई विभाषाओं में व्यवहृत होनेवाली एक शिष्ट परिगृहीत विभाषा ही भाषा [राष्ट्रीय भाषा अथवा टकसाली भाषा] (Language or koine) कहलाती है। यह भाषा विभाषाओं पर भी अपना प्रभाव डालती है; और कभी कभी तो उसका समूल उच्छेद भी कर देती है, पर सदा ऐसा नहीं होता। विभाषाएँ अपने रूप और स्वभाव की पूरी रक्षा करती हुई, अपनी भाषा रानी को उचित कर दिया करती हैं; और जब कभी राष्ट्र में कोई आंदोलन उठता है और भाषा छिन्न-भिन्न होने लगती है, विभाषाएँ फिर अपने अपने प्रांत में स्वतंत्र हो जाती हैं। विभाषाओं का अपने प्रांत में जन्मसिद्ध सा अधिकार होता है। पर भाषा तो किसी राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक अथवा धार्मिक आंदोलन के द्वारा ही इतना बड़ा पद पाती है।

किसी समय भारत में अनेक ऐसी बोलियाँ और विभाषाएँ प्रचलित थीं जिनका साहित्यिक रूप ऋग्वेद की भाषा में सुरक्षित है। इन्हीं कथित विभाषाओं में से एक को मध्यप्रदेश के विद्वानों ने संस्कृत बनाकर राष्ट्रभाषा का पद दे दिया था। कुछ दिनों तक इस भाषा का आर्यावर्त में अखंड राज्य रहा, पर विदेशियों के आगमन तथा बौद्ध धर्म के उत्थान से संस्कृत का साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। फिर उसकी जगह शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची, अपभ्रंश आदि विभाषाओं ने सिर उठाया और सबसे पहले मागधी विभाषा ने उपदेशकों और पीछे शासकों के सहारे 'भाषा' ही नहीं, उत्तरी भारत भर की राष्ट्रभाषा बनने का उद्योग किया। इसका साहित्यिक रूप त्रिपिटकों और पाली में मिलता है। इसी प्रकार शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश ने भी उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। अपभ्रंश को भाषा का पद देनेवाला आभीर

राष्ट्र-भाषा

आगे से हटा दिया जाता है तब हम भापा से सामान्य भापा अर्थात् ध्वनि-संकेतों के समूह का अर्थ लेते हैं। इस अर्थ के भी दो पक्ष हैं जिन्हें और स्पष्ट करने के लिये हम 'भाषा' और 'भापण' इन दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। भाषा का एक वह रूप है जो परंपरा से बनता चला आ रहा है, जो शब्दों का एक बड़ा भांडार है; भापा का दूसरा रूप व्यक्तियों द्वारा उसका व्यवहार अर्थात् भापण है। पहला रूप सिद्धांत माना जा सकता है, स्थायी कहा जा सकता है और दूसरा उसका प्रयोग अथवा क्रिया कहा जा सकता है, जो क्षण क्षण, प्रत्येक वक्ता और श्रोता के मुख में परिवर्तित होता रहता है। एक का चरमावयव शब्द होता है, दूसरे का वाक्य। एक को विद्वान् 'विद्या' कहते हैं, दूसरे को 'कला'। यद्यपि इन दोनों रूपों का ऐसा संबंध है जो प्रायः दोनों में अभेद्य माना जाता है, तथापि शास्त्रीय विचार के लिये इनका भेद करना आवश्यक है। भाषा-वैज्ञानिक की दृष्टि में भापण का अध्ययन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यद्यपि यह प्रश्न कठिन है कि भाषा से भापण की उत्पत्ति हुई अथवा भाषण से भापा की तथापि सामान्यतया भापण ही भाषा का मूल माना जाता है।

ठेठ हिंदी में 'बानी' और 'बोल' का भी प्रयोग होता है, जैसे संतों की बानी और चोरों की बोल। ये विशेष प्रकार की भाषाएँ ही हैं, क्योंकि विभाषा और बोली में इनकी गणना नहीं हो सकती। बानी और बोल का कारण भी एक विशेष प्रकार की संस्कृति ही होती है। इसे अँगरेजी में स्लैंग कहते हैं। कई विद्वान् 'स्लैंग' का इतना व्यापक अर्थ लेते हैं कि वे काव्य भाषा को भी 'स्लैंग' अथवा कविवाणी ही कहते हैं, क्योंकि कवियों की भापा प्रायः राष्ट्रीय और टकसाली नहीं होती। अनेक कवि बिल्कुल चलती भाषा में भी रचना करते हैं, तो भी हमें साहित्यिक काव्य-भापा और टकसाली भाषा को सदा पर्याय न समझना चाहिए।

यदि हम अपनी भाषण-क्रिया पर विचार करें तो उसके दो आधार

स्पष्ट देख पड़ते हैं—व्यक्त ध्वनियाँ और उनके द्वारा अभिव्यक्त होने-वाले विचार और भाव। इस प्रकार भाषण का एक भौतिक आधार होता है, दूसरा मानसिक। मानसिक क्रिया ही शब्दों और वाक्यों के रूप में प्रकट होती है। मानसिक क्रिया वास्तव में भाषा का प्राण है और ध्वनि उसका वाह्य शरीर। इसी से आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अब अर्थ विचार (अथवा अर्थातिशय) के अंतर्गत जो सादृश्य और विरोध आदि हैं उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देते हैं।

भाषण का द्विविध आधार

भाषा का अंत्यावयव शब्द होता है। शब्द का विवेचन तीन प्रकार से किया जाता है। शब्द को कभी ध्वनि-मात्र, कभी अर्थ-मात्र और कभी रूप-मात्र मानकर अध्ययन किया जाता है।

ध्वनि-समूह शब्द के उच्चारण से संबंध रखता है। अंतिम अक्षरों का विशिष्ट उच्चरित होना ही ध्वन्यात्मक शब्द का काम है। अर्थ-समूह शब्द के अर्थ और भाव का विषय होता है। दो अर्थों के संबंध को प्रकट करनेवाला रूप-समूह भाषा की रूप-रचना की सामग्री उपस्थित करता है। भाषा का अध्ययन इन्हीं तीन विशेष पद्धतियों से किया जाता है।

'भाषा' भाषण की क्रिया के समान क्षणिक और अनित्य नहीं होती। वह एक परंपरागत वस्तु है। उसकी एक धारा बहती है जो सतत परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी और नित्य होती है। उसमें भाषण-कृत भेदों की लहरें नित्य उठा करती हैं। थोड़े से ही विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के ध्वनि-संकेत संसर्ग की कृति हैं। किसी वस्तु के लिये किसी ध्वनि-संकेत का प्रयोग अर्थात् एक अर्थ से एक शब्द का संबंध सर्वदा आकस्मिक होता है। धीरे-धीरे संसर्ग और अनुकरण के कारण वक्ता और श्रोता उस संबंध को स्वाभाविक समझने लगते हैं। वक्ता सदा विचार कर और बुद्धि की कसौटी पर कसकर शब्द नहीं गढ़ता और यदि वह ऐसा करता है

भाषा परंपरागत संपत्ति है।

वह हमें पूर्वजों की परंपरा से प्राप्त हुई है। उसे हममें से प्रत्येक व्यक्ति अर्जित करता है पर वह किसी की कृति नहीं है।

भाषा की उत्पत्ति

इस भाषा को समझने के लिये केवल संबंध ज्ञान आवश्यक होता है अर्थात् वक्ता या श्रोता को केवल यह जानने का यत्न करना पड़ता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ से संबंध अथवा संसर्ग है। भाषा संबंधों और संसर्गों के समूह के रूप में एक व्यक्ति के सामने आती है। बच्चा भाषा को इन्हीं संसर्गों के द्वारा सीखता है और एक विदेशी भी किसी भाषा को नूतन संसर्गों के ज्ञान से ही सीखता है। अतः भाषा का प्रारंभ संसर्ग ज्ञान से ही होता है। भाषा की उत्पत्ति समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि किसी शब्द का किसी अर्थ से संबंध प्रारंभ में कैसे हुआ होगा, किसी शब्द का जो अर्थ हम आज देखते हैं वह उसे प्रारंभ में कब और कैसे मिला होगा। इसका उत्तर भिन्न भिन्न लोगों ने भिन्न भिन्न ढंग से दिया है।

सबसे प्राचीन मत यह है कि भाषा को ईश्वर ने उत्पन्न किया और उसे मनुष्यों को सिखलाया। यही मत पूर्व और पश्चिम के सभी देशों और जातियों में प्रचलित था। इसी कारण

दिव्य उत्पत्ति

धार्मिक लोग अपने अपने धर्म-ग्रंथों की भाषा को आदि भाषा मानते थे। भारत के कुछ धर्मानुयायी वैदिक भाषा को मूल भाषा मानते हैं। उनके अनुसार देवता उसी भाषा में बोलते हैं और संसार की अन्य भाषाएँ उसी से निकली हैं। बौद्ध लोग अपनी मागधी के साहित्यिक रूप पाली को ही ईश्वर की वाणी मानते थे। ईसाई लोग हिब्रू को ही मनुष्यों की आदिम भाषा मानकर उसी से संसार की सब भाषाओं की उत्पत्ति मानते थे। मुसलमानों के अनुसार ईश्वर ने पैगंबर को अरबी भाषा ही सबसे पहले सिखाई। आज विज्ञान के युग में इस मत के निराकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। इस दिव्य उत्पत्ति के सिद्धांत के दोष स्पष्ट हैं। केवल इस अर्थ में यह मत सार्थक माना जा सकता है कि भाषा मनुष्य की ही विशेष संपत्ति है, अन्य प्राणियों को वह ईश्वर से नहीं मिली है।

कुछ साहसी विद्वानों ने एक दूसरा सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि भाषा मनुष्य की सांकेतिक संस्था है। आदि काल में जब मनुष्यों ने हस्तादि के साधारण संकेतों से काम चलता न देखा तो उन्होंने कुछ ध्वनि-संकेतों को जन्म दिया। वे ही ध्वनि-संकेत विकसित होते होते आज इस रूप में देख पड़ते हैं। इस मत में तथ्य इतना ही है कि शब्द और अर्थ का संबंध लोकेच्छा का शासन मानता है और शब्दमय भाषा का उद्भव मनुष्यों की उत्पत्ति के कुछ समय उपरांत होता है, पर यह कल्पना करना कि मनुष्यों ने बिना भाषा-ज्ञान के ही इकट्ठे होकर अपनी अवस्था पर विचार किया और कुछ संकेत स्थिर किये, सर्वथा हास्यास्पद प्रतीत होता है। यदि परस्पर विचार-विनिमय बिना भाषा के ही हो सकता था तो भाषा के उत्पादन की आवश्यकता ही क्या थी?

सांकेतिक उत्पत्ति

इन दोनों मतों का खंडन करके विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में इतने भिन्न भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है कि अनेक भाषा-वैज्ञानिक इस प्रश्न को छेड़ना मूर्खता अथवा मनोरंजन समझने लगे हैं। उनमें से चार मुख्य सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय देकर हम देखेंगे कि प्रकार उन सभी का खंडन करके केवल दो मत विजय प्राप्त कर रहे हैं। पहले के चार मतों में से पहला सिद्धांत यह है कि मनुष्य के प्रारंभिक शब्द अनुकरणात्मक थे। मनुष्य पशु-पक्षियों की बोली सुनकर उसी के अनुकरण पर एक नया शब्द बना लेता था। जैसे एक पक्षी 'का' 'का' रटता था। उसकी ध्वनि के अनुकरण पर 'काक' शब्द की रचना हुई। म्याउँ, कोयल, कोकिल, कूक, घुग्घू आदि शब्दों की भी इसी प्रकार उत्पत्ति हो गई। हिनहिनाना, भौं भौं करना, पिपियाना आदि क्रियाओं की भी इसी प्रकार उत्पत्ति हो गई और धीरे धीरे भाषा बढ़ चली। इस मत के माननेवाले, पशुओं-पक्षियों और अन्य निर्जीव पदार्थों की ध्वनियों का अनुकरण भाषा का कारण मानते हैं, पर यह

अनुकरणमूलकतावाद

भूल जाते हैं, कि मनुष्य अपने सहधर्मियों और साथियों की ध्वनियों का भी अनुकरण करता होगा।

दूसरा प्रसिद्ध वाद 'मनोभावाभिव्यंजकता' है। इसके अनुसार भाषा उन विस्मयादि मनोभावों के बोधक शब्दों से प्रारंभ होती है जो मनुष्य के मुख से सहज संस्कारवश ही निकल पड़ते हैं। इसके माननेवाले विद्वान् प्रायः यह जानने का उद्योग नहीं करते कि ये विस्मयादिबोधक शब्द कैसे उत्पन्न हुए; उन्हें वे स्वयंभू अर्थात् आप से आप उत्पन्न मानकर आगे आगे भाषा का विकास देखने का प्रयत्न करते हैं। डारविन अपने इक्सप्रेशन आफ इमोशंस (The expression of Emotionl) में इन विस्मयादिबोधकों के कुछ शारीरिक (Physiological) कारण बतलाते हैं। जैसे घृणा अथवा उद्वेग के समय मनुष्य 'पूह' या 'पिश' कह बैठता है, अथवा अद्भुत दृश्य देखने पर दर्शकमंडली के मुख से 'ओह' निकल पड़ता है। इस सिद्धांत पर पहली आपत्ति तो यही होती है कि विस्मयादि-बोधक अथवा मनोभावाभिव्यंजक शब्द वास्तव में भाषा के अंदर नहीं आते; क्योंकि इनका व्यवहार तभी होता है जब वक्ता या तो बोल नहीं सकता अथवा बोलना नहीं चाहता। वक्ता के मनोभाव उसकी इन्द्रियों को इतना अभिभूत कर देते हैं कि वह बोल ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि ये विस्मयादिबोधक भी प्रायः सांकेतिक और परंपरा प्राप्त होते हैं। भिन्न देश या जाति के लोग उन्हीं भावों को भिन्न भिन्न शब्दों से व्यक्त करते हैं। जैसे दुःख में एक जर्मन व्यक्ति 'औ' कहता है, फ्रेंचमैन 'अहि' कहता है, अँगरेज 'ओह' कहता है और एक हिन्दुस्तानी व्यक्ति 'आह' या 'उह' कहकर कराहता है। अर्थात् आज जो विस्मयादिबोधक शब्द उपलब्ध हैं वे सर्वथा स्वाभाविक न होकर प्रायः सांकेतिक हैं।

मनोभावाभि-व्यंजकतावाद

एक तीसरा सिद्धांत यो-हे हो-वाद कहलाता है। जब कोई मनुष्य शारीरिक परिश्रम करता है तो श्वास-प्रश्वास का वेग बढ़

जाना स्वाभाविक और विश्राम देनेवाला होता है। इसी प्रकार स्वर-तंत्रियों में भी कंपन होने लगता है। जब आदि काल में लोग मिलकर कुछ काम करते थे तो स्वभावतः उस काम का किसी ध्वनि अथवा किन्हीं ध्वनियों के साथ संसर्ग हो जाता था। प्रायः वही ध्वनि उस क्रिया अथवा कार्य का वाचक हो जाती थी।

यो-हे-हो-वाद

मैक्समूलर ने एक चौथे मत का प्रचार किया था। उसके अनुसार शब्द और अर्थ में एक स्वाभाविक संबंध होता है। समस्त प्रकृति में यह नियम पाया जाता है कि चोट लगने पर प्रत्येक वस्तु ध्वनि करती है। प्रत्येक पदार्थ में अपनी अनोखी आवाज (झंकार) होती है। आदि काल में मनुष्य में भी इसी प्रकार की एक स्वाभाविक विभाविका शक्ति थी, जो बाह्य अनुभवों के लिये वाचक शब्द बनाया करती थी। मनुष्य जो कुछ देखता सुनता था, उसके लिये आप से आप ध्वनि-संकेत अर्थात् शब्द बन जाते थे। जब मनुष्य की भाषा विकसित हो गई तब उसकी वह सहज शक्ति नष्ट हो गई। विचार करने पर यह मत इतना सदोष हुआ कि स्वयं मैक्समूलर ने पीछे से उसका त्याग कर दिया था।

डिंग-डैंग-वाद

मैक्समूलर के इस वाद की चर्चा अब मनोरंजन के लिये ही की जाती है। पर इसके पहले के तीन मत अंशतः सत्य हैं, यद्यपि उनमें सबसे बड़ा दोष यह है कि एक सिद्धांत एक ही बात को अति प्रधान मान बैठता है। इससे विचारशील विद्वान् और 'स्वीट' जैसे वैयाकरण इन तीनों का समन्वय करना अच्छा समझते हैं। वे भाषा के विकासवाद को तो मानते हैं, पर उन्हें इसकी चिंता नहीं होती कि मनुष्य द्वारा उच्चरित पहला शब्द 'भो भो' था अथवा 'पूह् पूह्'। विचारणीय बात केवल इतनी है कि मनुष्य के आदिम शब्द अव्यक्तानुकरण-मूलक भी थे, मनोभावाभिव्यंजक भी थे और साथ ही ऐसे भी अनेक शब्द बनते थे जो किसी क्रिया अथवा घटना के संकेत अथवा प्रतीक थे। ये

विकासवाद का समन्वित रूप

संकेत लोग बनाते नहीं थे पर वे कई कारणों से बन जाते थे। इसी से स्वीट[१] ने आदिम भाषा के तीन भेद किए हैं—अनुकरणात्मक, मनोभावाभिव्यंजक (अथवा विस्मयादिबोधक) और प्रतीकात्मक। पहली श्रेणी में संस्कृत के काक, कोकिल, कुक्कुट, अँगरेजी के Cuckoo, Coc, Buzz, Bang, Pop तथा हिंदी के कौवा, कोयल, घुग्घू, भनभन, हिनहिनाना, हें हें करना आदि अनेक शब्द आ जाते हैं। पशु-पक्षियों के नाम प्रायः अव्यक्तानुकरण के आधार पर बने थे और आज भी बनते हैं। यह देखकर कि चीन, मिस्र और भारत की भाषा सजातीय नहीं है तो भी उनमें बिल्ली जैसे शब्द के लिये वही 'म्याउ' शब्द प्रयुक्त होता है, मानना पड़ता है कि प्रारंभिक भाषा में अव्यक्तानुकरण-मूलक[२] शब्द अवश्य रहे होंगे।

अनुकरणात्मक शब्द

आदि भाषा का दूसरा भाग मनोभावाभिव्यंजक शब्दों से बना होगा। जो मनुष्य मनुष्येतर प्राणियों और वस्तुओं की अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण करता था वह अवश्य ही अपने सहचर मनुष्यों के 'आह', 'वाह' आदि विस्मयादिबोधकों का अनुकरण और उचित उपयोग भी करता होगा। इसी से धिक्कारना, दुरदुराना, वाहवाही, हाय हाय आदि के समान शब्द बने होंगे। आजकल की भाषा बनाने की प्रवृत्ति से हम उस काल का भी अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार पुरानी अँगरेजी का शत्रुवाचक फेऑंड (feond) और आधुनिक अँगरेजी का

मनोभावाभिव्यंजक शब्द

---

(१) देखो—स्वीट-कृत हिस्ट्री आफ लैंग्वेज, पृ० ३३-३५ और उसी की न्यू इंगलिश ग्रामर, पृ० १६२।

(२) इन अनुकरण-मूलक शब्दों से एक बात पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। पहले के विद्वान् संस्कृत और गाथिक के स्वरों को देखकर कहा करते थे कि 'अ' 'इ' और 'उ' ये ही तीन मूल स्वर है, पर आधुनिक खोजों ने सिद्ध कर दिया है कि 'ए' 'ओ' भी मूल स्वर थे। यह साधारणीकरण और समीकरण पीछे की वस्तु है। यही बात अनुकरण-मूलक शब्दों की परीक्षा से भी मालूम होती है।

fiend शब्द पाह (pah) और फाइ (fie) जैसे किसी विस्मयादि बोधक से बना जान पड़ता है। अरबी में वेल (wail) शब्द आपत्ति के अर्थ में आता है और उसी से मिलता शब्द 'वो' विस्मयादिबोधक माना जाता है। इसी प्रकार अँगरेजी में 'वो' (woe) शब्द विस्मयादि-बोधक होने के अतिरिक्त संज्ञावाचक भी है। ऐसी बातों से विस्म-यादिबोधक शब्दों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

इन दोनों सिद्धान्तों में कोई वास्तविक भेद नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार पहले के अनुसार जड़ वस्तुओं और चेतन प्राणियों की अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण शब्दों को जन्म देता है उसी प्रकार दूसरे के अनुसार मनुष्य की अपनी तथा अपने साथियों की हर्ष-विस्मय आदि की सूचक ध्वनियों द्वारा शब्द उत्पन्न होते हैं। दोनों में नियम एक ही काम करता है, पर आधार का थोड़ा सा भेद है। एक बाह्य जगत् को प्राधान्य देता है तो दूसरा मानस जगत् को। दोनों प्रकार के ही शब्द शब्द-कोष में आते हैं और भाषा के विकास की अन्य अवस्थाओं में— जिनका इतिहास हम जानते हैं—भाषा में शब्द अव्यक्तानुकरण और भावाभिव्यंजन दोनों कारणों से बनते हैं, अतः इन दोनों सिद्धांतों का व्यापक अर्थ लेने से दोनों एक दूसरे के पूरक सिद्ध हो जाते हैं। यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि अनुकरण करने से किसी ध्वनि का बिलकुल ठीक ठीक नकल करने का अर्थ न लेना चाहिए। वर्णनात्मक शब्द में अव्यक्त ध्वनि का—चाहे वह किसी पशु-पक्षी की हो अथवा किसी मनुष्य की—थोड़ा सादृश्य मात्र उस वस्तु का स्मरण करा देता है।

तीसरे प्रकार के शब्द प्रतीकात्मक होते हैं। स्वीट ने इस भेद को बड़ा व्यापक माना है। उन दो भेदों से जो शब्द शेष रह जाते हैं वे प्रायः सब इसके अंतर्गत आ जाते हैं। सचमुच ये प्रतीकात्मक शब्द बड़े मनोहर और महत्त्वपूर्ण होते हैं। जैसे लैटिन की 'बिबेरे', संस्कृत की 'पिबति', हिंदी की 'पीना' जैसी क्रियाएँ इस बात का प्रतीक हैं कि

प्रतीकात्मक शब्द

आदिम मनुष्य पीने में किस प्रकार भीतर साँस खींचता था। इसी से तो 'प' और 'ब' के समान ओष्ठ्य वर्ण इस क्रिया के ध्वनि-संकेत हो गए। अरबी भाषा की 'शरब' (पीना) धातु में भी प्रतीकवाद ही काम करता देख पड़ता है। उसी से हिंदी का 'शरबत' और अँगरेजी का Sherbet निकला है। इसी प्रकार यह भी कल्पना होती है कि किसी समय हस्तादि से दाँत, ओष्ठ, आँख आदि की ओर संकेत करने के साथ ही ध्यान आकर्षित करने के लिये आदि-मानव किसी ध्वनि का उच्चारण करता होगा, पर धीरे धीरे वह ध्वनि ही प्रधान बन गई, जैसे दाँत की ओर संकेत करता हुआ मनुष्य अअ, आ, अत अथवा आत् जैसी विवृत ध्वनि का उच्चारण करता होगा, इसी से वह ध्वनि-संकेत 'अत्' अथवा 'अद्' के रूप में 'दाँत' और 'दाँत से खाना'-आदि कई अर्थों के लिये उपयुक्त होने लगा। संस्कृत के अद् और दंत लैटिन के 'edere' (eat) और 'dens' (tooth) आदि शब्द इसी प्रकार बन गए।

प्रत्येक सर्वनाम भी इसी प्रकार बने होंगे। अँगरेजी के दी (the दैट (that), ग्रीक के टो (to), अँगरेजी के thou, लैटिन के तू और हिंदी के तू आदि निर्देशवाचक सर्वनामों से ऐसा मालूम होता है कि अँगुली से मध्यम पुरुष की ओर संकेत करते हुए ऐसी संवेदनात्मक ध्वनि जिह्वा से निकल पड़ती होगी। इसी प्रकार 'यह' 'वह' के लिये कुछ भाषाओं में 'इ' और 'उ' से निर्देश किया जाता है। 'दिस' और 'दैट' 'इदम्' और 'अदस्' जैसे सभ्य भाषाओं के शब्दों में भी सामीप्य और दूरी का भाव प्रकट करने के लिये स्वर-भेद देख पड़ता है। इस प्रकार निर्देश के कारण स्वरों का बदलना आज भी कई असभ्य और सभ्य जातियों में देख पड़ता है। इसी के आधार पर अक्षरावस्थान (vowel-gradation) का अर्थ भी समझ में आ सकता है। अँगरेजी Sing, Sang और Sung में अक्षर (=स्वर) अर्थ-भेद के कारण परिवर्तित हो जाता है। इसे अक्षरावस्थान कहते हैं और इसका कारण कई विद्वान् प्रतीकवाद को ही समझते हैं।

जैस्पर्सन ने इस बात का बड़ा रोचक वर्णन किया है कि किस प्रकार

बच्चे मामा, पापा, बाबा, ताता आदि शब्द अकारण ही बोला करते हैं। वे बुद्धिपूर्वक उन शब्दों का प्रयोग नहीं करते, पर मा-बाप उस बच्चे के मुख से निकले हुए शब्द को अपने लिये प्रयुक्त समझ लेते हैं। इस प्रकार ये ध्वनियाँ मा और बाप का प्रतीक बन जाती हैं। इसीलिये ये शब्द प्राय: समस्त संसार की भाषाओं में किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं और यही कारण है कि वही 'मामा' शब्द किसी भाषा में मा के लिये और किसी भाषा में पिता के लिये प्रयुक्त होता है। कभी कभी यह प्रतीक-रचना बड़ी धुँधली भी होती है पर प्राय: शब्द और अर्थ के संबंध के मूल में प्रतीक की भावना अवश्य रहती है।

इस त्रिविध रूप में प्रारंभिक शब्द-कोष की कल्पना की जाती है। पर साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उत्पन्न तो बहुत से शब्द हो जाते हैं, पर जो शब्द समाज की परीक्षा में योग्य सिद्ध होता है वही जीवन-दान पाता है। जो मुख और कान दोनों के अनुकूल काम करता है अर्थात् जो व्यक्त-ध्वनि मुख से सुविधापूर्वक उच्चरित होती है और कानों को स्पष्ट सुन पड़ती है वही योग्यतमावशेष के नियमानुसार समाज की भाषा में स्थान पाती है। यही मुख-सुख और श्रवण-सुख की इच्छा किसी शब्द को किसी देश और जाति में जीवित रहने देती है और किसी में उसका बहिष्कार अथवा वध करा देती है।

पर यदि प्राचीन से प्राचीन उपलब्ध शब्द-कोष देखा जाय तो उसका भी अधिकांश भाग ऐसा मिलता है जिसका समाधान इन तीनों उपर्युक्त सिद्धांतों से नहीं होता। इन परंपरा-प्राप्त शब्दों की उत्पत्ति का कारण उपचार माना जाता है। शब्दों के विकास और विस्तार में उपचार का बड़ा हाथ रहता है। जो जाति जितनी ही सभ्य होती है उसके शब्द उतने ही औपचारिक होते हैं। उपचार का साधारण अर्थ है ज्ञात के द्वारा अज्ञात की व्याख्या करना, किसी ध्वनि के मुख्य अर्थ के अतिरिक्त उसी ध्वनि के संकेत से एक अन्य तथा सदृश और संबद्ध अर्थ का बोध कराना। उदाहरणार्थ आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों को जब पहले

औपचारिक शब्द

पहल पुस्तक देखने को मिली तो वे उसे 'मूयूम' कहने लगे। 'मूयूम' उनकी भापा में स्नायु को कहते हैं और पुस्तक भी उसी प्रकार खुलती और बन्द होती है। अँगरेजी का पाइप (pipe) शब्द आज नल के अर्थ में आता है। पहले pipe गड़रिये के बाजे के लिये आता था। बायविल के अनुवाद तक में 'पाइप' वाद्य के अर्थ में आया है पर उसका अर्थ अब बिलकुल बदल गया है। इसी प्रकार पिक्यूलियर (peculiar) शब्द भी उपचार की कृपा से क्या से क्या हो गया है। पहले पशु एक शब्द था। वह संस्कृत की पश् धातु से बना है। पश् का अर्थ होता है बाँधना, फाँसना। इसी प्रकार पशु पहले पालतू और घरेलू जानवर को कहते थे और हिंदी में आज भी पशु का वही प्राचीन अर्थ चलता है, पर इसके लेटिन रूप पेकस (pecus) से, जिसका पशु ही अर्थ होता था, पेकुनिआ, (pecunia) बना जिसका अर्थ हुआ 'किसी भी प्रकार की संपत्ति'। उसी से आज का अँगरेजी शब्द पेकुनिअरी (pecuniary=सांपत्तिक) बना है। पर उसी पेक्यूनिया से पेक्यूलियम (peculium) बना और उसका अर्थ हुआ 'दास की निजी संपत्ति'। फिर उसके विशेषण पेक्यूलिअरिस (peculiaries) से फ्रेंच के द्वारा अँगरेजी का पिक्यूलियर (peculiar) शब्द बना। इसी प्रकार अन्य शब्दों की जीवनी में भी उपचार की लीला देखने को मिलती है। पहले संस्कृत की 'व्यथ्' और 'कुप्' धातुएँ काँपने और चलने आदि के भौतिक अर्थों में आती थीं। व्यथमाना पृथ्वी का अर्थ होता था 'काँपती और चलती हुई पृथ्वी' और कुपित पर्वत का अर्थ होता था 'चलता-फिरता पहाड़' पर कुछ दिन बाद उपचार से इन क्रियाओं का अर्थ मानसिक हो गया। इसी से लौकिक संस्कृत और हिंदी प्रभृति आधुनिक भारतीय भापाओं में 'व्यथा' और 'कोप' मानसिक जगत् से संबद्ध देख पड़ते हैं। इसी प्रकार 'रम्' धातु का ऋग्वेद में— 'टिकाने आना' अथवा 'स्थिर कर देना' अर्थ था, पर धीरे धीरे इसका औपचारिक अर्थ 'आनंद देना' होने लगा। आज 'रमण', 'मनोरम' आदि शब्दों में रम का वह पुराना स्थिर होनेवाला अर्थ नहीं है। स्थिर

होने से विश्राम का सुख मिलता है, धीरे धीरे उसी शब्द में अन्य प्रकार के सुखों का भी भाव आ गया। ऐसे औपचारिक तथा लाक्षणिक प्रयोगों के संस्कृत तथा हिंदी जैसी भाषाओं में प्रचुर उदाहरण मिल सकते हैं। इसी से हमें इस बात का आश्चर्य न करना चाहिए कि शब्द-कोष के अधिक शब्द उपर्युक्त अनुकरणात्मक आदि तीन भेदों अंतर्गत नहीं आते। इन सब के कलेवर तथा जीवन को उपचार विकसित और परिवर्तित किया करता है।

यह तो शब्द-कोष अर्थात् भाषा के भांडार की कथा है, पर उसी के साथ साथ भाषण की क्रिया भी विकसित हो रही थी। जब संसर्गज्ञान बढ़ चला तब आदि-मानव उसका वाक्य के रूप में भी प्रयोग करने लगे। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि पहले शब्द बने तब वाक्यों द्वारा भाषण का प्रारंभ हुआ। पर पहले किसी एक ध्वनि-संकेत का एक अर्थ से संसर्ग हो जाने पर मनुष्य उस शब्द का वाक्य के ही रूप में प्रयोग कर सकते हैं। वह वाक्य आज के वाक्य जैसा शब्दमय पहले भले ही न हो, पर वह अर्थ में वाक्य ही रहता है। बच्चा जब 'गाय' अथवा 'कौआ' कहता है तब वह एक पूरी बात कहता है। अर्थात् 'देखो गाय आई' अथवा 'कौआ बैठा है'। वह जब 'दूध' अथवा 'पानी' कहता है, तो उसके इन शब्दों से 'दूध पिलाओ या चाहिए' आदि पूरे वाक्य का अर्थ लिया जाता है। आदि काल के वाक्य भी ऐसे ही शब्द-वाक्य अथवा वाक्य शब्द होते थे। कोई मनुष्य अँगुली से दिखलाकर कहता था 'कोकिल' अर्थात् वह कोकिल है अथवा कोकिल गा रही है। धीरे-धीरे शब्दों के विस्तार ने हस्तादि चेष्टाओं का अर्थात् इंगित भाषा का लोप कर दिया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आदि काल में शाब्दिक-भाषा की पूर्त्ति पाणि-विहार, अक्षिनिकोच आदि से होती थी। इसके अनंतर जब शब्द-भांडार बढ़ चला तब 'कोकिल गा' अथवा 'कोकिल गाना' जैसे दो शब्दों के द्वारा भूत और वर्तमान आदि सभी का एक वाक्य में अर्थ लिया जाने लगा। धीरे धीरे काल, लिंग आदि का भेद

भाषण का विकास

भी बढ़ गया। इस प्रकार पहले भाषा की कुछ ध्वनियाँ 'स्वांत:सुखाय' अथवा 'स्वात्माभिव्यंजनाय' उत्पन्न होती हैं पर उनको भाषण का रूप देनेवाली मनुष्य की समाज-प्रिय प्रकृति है। वह एकाकी रह नहीं सकता। अकेले उसका मन ही नहीं लगता। वह साथी चाहता है। उनसे व्यवहार करने की चेष्टा में ही वह भाषण की कला को विकसित करता है। भाषा को सुरक्षित रखता है। भाषा की उत्पत्ति चाहे व्यक्तियों में आप से आप हो गई हो; पर भाषण की उत्पत्ति तो समाज में ही हो सकती है।

इस आदि-मानव-समाज में शब्द और अर्थ का संबंध इतना काल्पनिक और धुँधला (दूर का) था कि उसे यदृच्छा संबंध ही मानना चाहिए। इसी बात को भारतीय भाषा-वैज्ञानिकों के ढंग से कहें तो प्रत्येक शब्द चाहे जिस अर्थ का बोध करा सकता है। सर्वे (शब्दाः) सर्वार्थवाचकाः। एक शब्द में इतनी शक्ति है कि वह किसी भी अर्थ (= वस्तु) का बोध करा सकता है। अब यह लोकेच्छा पर निर्भर है। वह उसे जितना चाहे 'अर्थ' दे। इसी अर्थ में यह कहा जाता है कि लोकेच्छा शक्ति शब्दार्थ-संबंध की कर्त्री और नियामिका है। किस शब्द से किस नियत अर्थ का बोध होना चाहिए—इस संकेत को लोग ही बनाते हैं। यही भाषा की सांकेतिक अवस्था है। पर यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि इस अवस्था में भी लोग सभा में इकट्ठे होकर भाषा पर शासन नहीं करते। समाज की परिस्थिति और आवश्यकता भाषा से अपने इच्छानुकूल काम करवा लेती है। ऐसे सामाजिक संगठन की कल्पना प्रारंभिक अवस्थाओं में नहीं हो सकती। यह बहुत पीछे के उन्नत युग की बात है कि वैयाकरणों और कोषकारों ने बैठकर भाषा का शासन अथवा अनुशासन किया। यह तो भाषा के यौवन की बात है। इसके पूर्व ही भाषा इतनी सांकेतिक और पारंपरिक हो गई थी कि शब्द और अर्थ का संबंध समाज के बच्चों और अन्य अनभिज्ञों को परंपरा द्वारा अर्थात् आप्त व्यक्तियों से ही सीखना पड़ता है। वह भाषा अब स्वयंप्रकाश नहीं रह गई है।

इस प्रकार इस समन्वित विकासवाद के सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति में ध्वनियों के रूप में भाषा के बीज पहले से ही विद्यमान थे। समाज ने उन्हें विकसित किया, भाषण का रूप दिया और आज तक उसे संरक्षित रखा। जहाँ तक इतिहास की साक्षी मिलती है, समाज और भाषा का अन्योन्याश्रय संबंध है।

भाषा के प्रयोजन

इस विवेचन में हम यह भी देख चुके हैं कि भाषा चाहे कुछ अंश तक व्यक्तिगत हो, पर भाषण तो सामाजिक और सप्रयोजन वस्तु है और विचार करने पर उसके तीन प्रयोजन स्पष्ट देख पड़ते हैं। प्रथम तो वक्ता श्रोता को प्रभावित करने के लिये बोलता है। विशेष वस्तुओं की ओर ध्यान आकर्षित करना भाषा का दूसरा प्रयोजन होता है। इन मुख्य प्रयोजनों ने भाषण को जन्म दिया, पर पीछे से भाषण का संबंध विचार से सबसे अधिक घनिष्ठ हो गया। भाषण में विचार की कल्पना पहले से ही विद्यमान रहती है, पर यह भाषण की क्रिया का ही प्रसाद है जो मनुष्य विचार करना सीख सका है। किसी किसी समय तो अध्ययन में भाषा से भाषण अधिक सहायक होता है।

तीसरा प्रकरण

भाषाओं का वर्गीकरण

ह्विटनें का कथन था कि वाक्य से भाषण का आरंभ मानन अनर्गल और निराधार है; शब्दों के बिना वाक्य की स्थिति ही कैसी परंतु आधुनिक खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है वि भाषा के आदि काल में वाक्यों अथवा वाक्य शब्दों का ही प्रयोग होता है। बच्चे की भाष सीखने की प्रक्रिया पर ध्यान देने से यही बात स्पष्ट होती है कि वह पहले वाक्य सीखता है, वाक्य बोलता है और वाक्यों में ही सोचत समझता है। धीरे धीरे उसे पदों और शब्दों का पृथक् पृथक् ज्ञान होत है। उस आरंभिक काल के वाक्य निश्चय ही आजकल के शब्दोंवाले वाक्य न रहे होंगे, जिनके पृथक् पृथक् अवयव देखे जा सकें, पर थे वे संपूर्ण विचारों के वाचक वाक्य ही। अर्थ के विचार से तो वे वाक्य ही थे, रूप के विचार से वे भले ही ध्वनि-समूह रहे हों। धीरे धीरे भाष और भाषण में वाक्य के अवयवों का विकास हुआ तथा वाक्यों क शब्दों से विश्लेषण संभव हुआ। आज वाक्य और शब्दों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत हो चुकी है। साधारण व्यवहार में वाक्य एक शब्द-समूह ही माना जाता है। इस प्रकार यद्यपि व्यावहारिक तथा शास्त्रीय दृष्टि से शब्द भाषा का चरम अवयव होता है, तथापि तात्पर्य की दृष्टि से वाक्य ही भाषा का चरमावयव सिद्ध होता है। स्वाभाविक भाष अर्थात् भाषण में वाक्य से पृथक् शब्दों की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं होती। एक एक शब्द में सांकेतिक अर्थ होता है, पर उनके पृथक् पृथक प्रयोग से किसी बात अथवा विचार का बोध नहीं हो सकता। केवल 'गाय' अथवा 'राम' कहने से कोई भी अभिप्राय नहीं निकलता। यद्यपि

वाक्य से भषाण का आरंभ

ये सार्थक शब्द हैं, तथापि जब ये 'गाय है' अथवा 'राम है' के समान वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं तभी इनके श्रोता को वाक्य के अभिप्राय का ज्ञान होता है। भाषा के व्यवहार का प्रयोजन वक्ता के तात्पर्य का प्रकाशन ही होता है। उच्चारण के विचार से भी शब्दों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं प्रतीत होता। स्वर और लहजे के लिए श्रोता की दृष्टि पृथक् पृथक् शब्दों पर न जाकर पूरे वाक्य पर ही जाती है। यद्यपि लिखने में शब्दों के बीच स्थान छोड़ा जाता है, तथापि वाक्य के उन सब शब्दों का उच्चारण इतनी शीघ्रता से होता है कि एक वाक्य एक ध्वनि-समूह कहा जा सकता है। जिस प्रकार एक शब्द का विश्लेषण वर्णों में किया जाता है, उसी प्रकार एक वाक्य का विश्लेषण उसके भिन्न भिन्न शब्दों में किया जाता है। परन्तु यह कार्य वैज्ञानिक का है, वक्ता का नहीं। वक्ता एक वाक्य का ही व्यवहार करता है, चाहे वह 'आ' 'जा' और 'हाँ' के समान एक अक्षर अथवा एक शब्द से ही क्यों न बना हो।

वाक्य के इस प्राधान्य को मानकर समस्त भाषाओं का वाक्य-मूलक आकृति-मूलक अथवा रूपात्मक वर्गीकरण किया जाता है। रूप अथवा रचना की दृष्टि से वाक्य चार प्रकार के होते हैं

वाक्यों के चार भेद — समास-प्रधान, व्यास-प्रधान, प्रत्यय-प्रधान और विभक्ति-प्रधान।

(१) समास-प्रधान वाक्य वाक्यों का यह भेद वाक्य-रचना अर्थात् वाक्य और उसके अवयव शब्दों के संबंध के आधार पर किया जाता है। जिस वाक्य में उद्देश्य विधेय आदि वाचक शब्द एक होकर समास का रूप धारण कर लेते हैं उसे समस्त अथवा समास-प्रधान वाक्य कहते हैं। प्रायः ऐसे वाक्य एक समस्त शब्द के समान व्यवहृत होते हैं। जैसे मेक्सिको भाषा में 'नेवत्ल' 'नकत्ल' और 'क' का क्रमशः 'मैं' 'मांस' और 'खाना' अर्थ होता है। अब यदि तीनों शब्दों का समास कर दें तो नी-नक-क वाक्य बन जाता है जिसका अर्थ होता है 'मैं मांस खाता हूँ' अथवा उसी को तीन तीन भाग करके भी कह सकते है, जैसे 'निकइन नकत्ल'। इस वाक्य में निक्क एक समस्त वाक्य है जिसका अर्थ होता है 'मैं उसे खाता हूँ।'

उसी के आगे उसी के समानाधिकरण्य से नये शब्दों के रखने से दूसरा वाक्य बन जाता है। उत्तर अमेरिका की चेरो की भाषा में भी ऐसी ही वाक्य-रचना देख पड़ती है; जैसे नातन (लाना), अमोखल (नाव) और निन (हम) का एक समास-वाक्य बनकर 'नाधोलिनिन' कहने से यह अर्थ होता है कि 'हमें (हमारे लिए) एक नाव लाओ'।

दूसरे प्रकार के वाक्य ऐसे होते हैं, जिनमें प्रवृत्ति व्यास की ओर अधिक रहती है। उनके यहाँ धातु जैसे शब्दों का प्रयोग होता है। सभी शब्द स्वतंत्र रहते हैं। उनके संघात से ही एक वाक्य की पूर्णता होती है। वाक्य में उद्देश्य, विधेय आदि का संबंध स्थान, निपात अथवा स्वर के द्वारा प्रकट किया जाता है। अर्थात् संज्ञा, क्रिया या विशेषण आदि सबका रूप एक ही सा होता है, वाक्य में केवल उनके स्थान से यह निश्चित होता है कि यह शब्द क्या है। इसी कारण ऐसी भाषाओं में रूपात्मक विकार नहीं दिखाई पड़ता। इसके शब्दों के रूप सदा एक से बने रहते हैं। भाषा की इस अवस्था का सबसे अच्छा उदाहरण चीनी भाषा है। इस भाषा के शब्दों में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, सब शब्द ज्यों के त्यों बने रहते हैं। जैसे यदि हम यह कहना चाहें कि 'मैं तुम्हें मारता हूँ, तो चीनी भाषा में हम कहेंगे 'न्गो ता नी' इस वाक्य में तीन शब्द हैं। पहले शब्द का अर्थ है 'मैं', दूसरे का 'मारना' और तीसरे का 'तुम्हें'। अब यदि हम कहना चाहें कि 'तुम मुझे मारते हो' तो हमें केवल इन शब्दों का स्थान उलट कर 'नी ता न्गो' कहना होगा। इसी प्रकार यदि हम कहना चाहें कि 'मनुष्य आम खाता है' तो हमको चीनी भाषा के मनुष्य, आम और खाना के वाचक शब्द कहने होंगे। 'मनुष्य' शब्द का बहुवचन कहना होगा तो 'मनुष्य' और झुंड के बोधक चीनी शब्द कहेंगे। हिंदी में भी कभी कभी इसी प्रकार शब्द बनाकर भाव प्रकट किये जाते हैं। जैसे राजालोग, बालकगण, हमलोग आदि। चीनी भाषा के अतिरिक्त बर्मी, स्यामी, अनामी, मलय आदि अनेक भाषाओं की वाक्य-रचना भी प्राय: इसी प्रकार की होती है

(२) व्यास-प्रधान वाक्य

(३) प्रत्यय-प्रधान वाक्य

तीसरे प्रकार के वाक्यों में प्रत्ययों की प्रधानता रहती है। व्याकरण के कारक, लिंग, वचन, काल आदि के सभी भेद प्रत्ययों द्वारा सूचित किये जाते हैं। ऐसे वाक्यों के शब्द न तो विल्कुल समस्त ही होते हैं और न विल्कुल पृथक् पृथक्। शब्द सभी पृथक् पृथक् रहते हैं। पर कुछ प्रत्यय उनमें लगे रहते हैं, और वे ही उनको दूसरे शब्दों से तथा सम्पूर्ण वाक्य से जोड़ते हैं। ऐसे वाक्य में एक शब्द से अनेक प्रत्यय लगाकर अनेक भिन्न अर्थ निकाले जाते हैं। उदाहरणार्थ बां परिवार की काफिर भाषा के 'उमुंतु वेतु ओमुचिल उयवोनकल' का अर्थ होता है 'हमारा आदमी देखने में भला है'। इसी का वहुवचन 'अंवतु वेतु अवचिल वयवोनकल' होता है। यहाँ न्तु (आदमी), तु (हमारा) चिल (प्रियदर्शन) और यवोनकल (देख पड़ता है) शब्दों की प्रकृतियाँ हैं। इनको तनिक भी विकृत न करते हुए भी प्रत्यय अपना कारक और वचन का भेद दिखला रहे है। इसी प्रकार तुर्की भाषा में कारक, वचन आदि प्रत्येक के लिये पृथक् पृथक् प्रत्यय है। जैसे 'एव' का अर्थ घर होता है। वहुवचन प्रत्यय जोड़ देने पर 'एव-लेर' अनक घर वन जाता है। उसी में 'मेरा' का वाचक प्रत्यय जोड़ देने से 'एवलेरिम' (मेरे घर) वन जाता है। इस शब्द की कारक-रचना देख लेने से प्रत्यय-प्रधानता स्पष्ट झलक जाती है।

(४) विभक्ति-प्रधान वाक्य

चौथे प्रकार के वाक्य ऐसे होते है जिनमें शब्द का परस्पर संबंध—उनका कारक वचन आदि का व्याकरणिक संबंध—विभक्तियों द्वारा प्रकट किया जाता है। विभक्तियाँ परतंत्र और विकृत प्रत्यय कही जा सकती हैं। विभक्ति प्रधान वाक्य में प्रत्यय संबंध का ज्ञान कराते हैं, पर वे स्वयं अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। इसी से उनके इस विकृत रूप को विभक्ति कहना अधिक अच्छा होता है। ऐसी विभक्ति-प्रधान वाक्य-रचना संस्कृत अरबी में प्रचुर मात्रा में मिलती है। जैसे संस्कृत में 'अहं ग्रामं गतवान्'

वाक्य में से कारक अथवा लिंग के द्योतक प्रत्यय उनकी प्रकृति से अलग नहीं किए जा सकते।

हम देख चुके हैं कि शब्द भाषण की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखते, पर वैज्ञानिक दृष्टि से इनके भी चार भेद किए जाते हैं। कुछ शब्द एकाक्षर धातु के समान होते हैं। वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी वे अव्यय ही रहते हैं। कुछ शब्दों की रचना में प्रकृति और प्रत्यय का योग स्पष्ट दिखाई पड़ता है और कुछ में विद्वानों की सूक्ष्म दृष्टि ही देख पाती है। अंत में ऐसे समस्त पद होते हैं जिनमें अनेक पद मिले रहते हैं। पहले प्रकार के शब्द धातु, दूसरे प्रकार के प्रत्यय-प्रधान तीसरे प्रकार के विभक्ति-प्रधान और चौथे प्रकार के समस्त अथवा वाक्य-शब्द कहे जाते हैं।

शब्दों का भेद

इन चार प्रकार के शब्दों में विकास की चार अवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं। पहले शब्द धातु अवस्था में रहते हैं। फिर थोड़े दिनों में वे घिस कर प्रत्यय बन जाते हैं। वे अकेले वाचक न रहकर दूसरे शब्दों के साथ रहकर उनके विशेष अर्थों का द्योतन करते हैं। इस अवस्था का अतिरेक विभक्ति को जन्म देता है और समस्त शब्दों में मिलता है। यही अंतिम अवस्था शब्द की पूर्णावस्था सी प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ 'राम' धातु-अवस्था में, 'राम सहित' अथवा 'रामान्' प्रत्ययावस्था में 'रामाय' विभक्ति-अवस्था में और 'अस्मि' 'समासावस्था में है। इसी प्रकार वाक्यों के विकास की भी चार अवस्थाएँ पाई जाती हैं। भाषा पहले समासावस्था में रहती है और धीरे धीरे प्रत्यय और विभक्ति की अवस्था में से होती हुई व्यास-प्रधान हो जाती है। परन्तु वैज्ञानिक इतना ही कहते हैं कि संसार की भाषाओं में चार प्रकार की वाक्य-रचना और चार प्रकार की शब्द-रचना दिखाई पड़ती है। अतः रचना अथवा रूप (आकृति) के आधार पर भाषाओं का चार विभागों में वर्गीकरण किया जा सकता है।

विकास की अवस्थाएँ

यद्यपि विद्वानों का यह कथन था कि भाषा वियोग से संयोग की

ओर जाती है और फिर घूमकर व्यासोन्मुख हो जाती है। भाषा-चक्र सतत घूमता रहता है, परंतु यह कल्पना प्रमाणों से पुष्ट न हो सकी। अस्तु, भाषा की सामान्य प्रवृत्ति संयोग से वियोग की ओर रहती है। भाषा प्रारंभिक काल में जटिल, समस्त और स्थूल रहती है। धीरे धीरे वह सरल, व्यस्त, सूक्ष्म और सुकुमार होती जाती है। भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसका ज्वलंत उदाहरण हैं कि किस प्रकार पहले वे संहिति-प्रधान थीं और पीछे धीरे धीरे व्यवहिति-प्रधान हो गईं। लिथुआनियन भाषा आज भी पूर्ण रूप से संहित कही जा सकती है। उसकी आकृति और रचना आज तीन हजार वर्षों से अपरिवर्त्तित और स्थिर है। इसका कारण इसकी भौगोलिक स्थिति है। लिथुआनिया की भूमि बड़ी आर्द्र और पंकिल है। दुर्लंघ्य पर्वतों के कारण आक्रमणकारी भी वहाँ जाने की इच्छा नहीं करते और यहाँ का समुद्र-तट भी व्यापार के काम का नहीं। इसी कारण यहाँ की भाषा इतनी अक्षुण्ण और अक्षत है।

भाषा-चक्र—संहिति से व्यवहिति

हिब्रू और अरबी भाषाएँ एक ही परिवार की हैं और दो हजार वर्ष पूर्व दोनों ही संहित और संयुक्त थीं। परंतु आज हिब्रू अरबी की अपेक्षा अधिक व्यवहित और व्यास-प्रधान हो गई है। इनके प्राचीन धर्म-ग्रंथों की भाषा तो बिलकुल सुरक्षित है पर जातीय भाषाएँ कुछ व्यासोन्मुख हो गई हैं। यहूदी सदा विजित और त्रस्त होकर फिरते रहे। इससे इनकी भाषा संघर्ष के कारण अधिक विकसित और व्यवहित हो गई है। पर अरबी सदा विजेताओं की भाषा होने के कारण आज भी बहुत कुछ संहित है।

फारसी का भी बहुत कुछ ऐसा ही इतिहास है। ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व की प्राचीन भाषा वैदिक संस्कृत की नाईं संहित थी। परंतु सिकंदर की चढ़ाई के पीछे की मध्यकालीन फारसी बहुत कुछ व्यवहित और वियुक्त हो गई थी, और आज की फारसी भारोपीय परिवार की सबसे अधिक व्यवहित भाषा मानी जाती है। इसका व्याकरण

के सभी स्वर स्वतंत्र होते हैं। वे धातु और प्रातिपदिक के समान नियोग और प्रधान होते हैं। उनमें कभी कोई विकार नहीं होता। व्यास-प्रधान भाषा के वाक्य में स्वतंत्र और शुद्ध प्रकृति का व्यवहार होता है। इन भाषाओं के शब्द प्राय: एकाच् होते हैं। उनकी रचना एक अक्षर और एक अथवा अनेक व्यंजनों से होती है।

व्यास-प्रधान रचना में वाक्य के सभी शब्द पृथक् पृथक् रहते हैं। समास-प्रधान रचना में उसका ठीक उलटा होता है। वाक्य में शब्द एक दूसरे से इतने संश्लिष्ट रहते हैं कि वाक्य और शब्दों में भेद करना कठिन हो जाता है। व्यास-प्रधान वाक्य में जो अर्थ अनेक शब्दों से निकलता है, उसके लिये सामास-प्रधान वाक्य में एक ही शब्द पर्याप्त हो जाता है। जैसे 'नाधोलिनिन' एक शब्द से 'हम लोगों के लिये नाव लाओ' इतने बड़े वाक्य का अर्थ निकलता है। दोनों अमेरिका की भाषाएँ इसी प्रकार की पूर्णत: समान-प्रधान हैं।

समास-प्रधान अथवा बहु-संहित

कुछ भाषाएँ अंशत: ही समास-प्रधान होती हैं। सच्ची समस्त भाषा के एक ही शब्द में कर्त्ता, क्रिया, कर्म, विशेषण आदि सभी का समाहार रहता है। पर कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें स्वतंत्र शब्द भी रहते हैं और वाक्य में पृथक् व्यवहृत भी होते हैं। तो भी वे समास-प्रधान मानी जाती हैं। क्योंकि उनकी क्रिया अपने कर्त्ता और कर्म के वाचक सर्वनामों का और कभी कभी और शब्दों का भी समाहार कर लेती हैं। यूरोप की वास्क इसका सुंदर उदाहरण है। उसकी एक क्रिया 'दकर्किआत्' का अर्थ होता है 'मैं उसे उसके पास ले जाता हूँ।' इसी प्रकार 'नर्कसु' का अर्थ होता है 'तू मुझे ले जाता है।' इस प्रकार का आंशिक समास प्रत्यय-प्रधान और विभक्ति प्रधान-भाषाओं में भी काम में आता है। जैसे संस्कृत का 'अस्मि' (मैं हूँ), 'गच्छामि' (मैं जाता हूँ) अथवा गुजराती का 'मकुं जे' (मैंने कहा कि)।

प्रत्यय-प्रधान भाषा में व्याकरणिक संबंध प्रत्ययों के संयोग से सूचित किया जाता है। यद्यपि ये प्रत्यय सर्वांगपूर्ण नहीं होते, तथापि

इनका स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट रहता है। ये अपनी प्रकृति में सर्वथा लीन नहीं होते। इनका संयोग, संचय अथवा उपचय इतना नियमित और व्यावहारिक होता है कि रचना बिलकुल पारदर्शी होती है। उसका व्याकरण सर्वथा सरल और सीधा होता है। तुर्की ऐसी अपवाद-रहित और ऋजुमार्गगामिनी भाषा का व्याकरण एक शीट कागज पर लिखा जा सकता है। यदि हम इस भाषा का एक शब्द 'सेव', जिसका अर्थ प्रेम करना होता है, ले लें तो उसमें प्रत्यय जोड़कर अनेक शब्द बनाए जा सकते हैं। सेवमेक् (प्यार करने के लिये), सेव-मे-मेक (प्यार नहीं करने के लिये), सेवइश मेक (एक दूसरे को परस्पर प्यार करने के लिये) इत्यादि। ऐसी साधारण रचना के अतिरिक्त सेव-इश-दिर-इल-मे-मेक (परस्पर प्यार नहीं किए जाने के लिये) के समान बहु-संहित रूप भी सहज ही निष्पन्न हो जाते हैं।

प्रत्यय-प्रधान

प्रत्यय-प्रधान भाषा में विभक्ति-प्रधान भाषा की तरह न तो प्रकृति और प्रत्यय का भेद सर्वथा लुप्त हो जाता है, और न प्रत्यय में ही कोई विकार होता है। यदि संयोग से किसी प्रत्यय में कोई विकार भी होता है तो वह भी स्वरों की अनुरूपता (Vowel Harmony) के नियम से होता है। अर्थात् प्रत्यय का स्वर प्रकृति के अंतिम स्वर के अनुरूप होना चाहिए। जैसे 'अत्' (घोड़ा) और 'एव' (घर) में एक ही बहुवचन का प्रत्यय दो भिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है जैसे—'अत्लर' (घोड़े) और एवलेर (अनेक घर)।

प्रत्यय-प्रधान भाषाओं के चार उपविभाग किए जाते हैं पुरः-प्रत्यय-प्रधान, पर-प्रत्यय-प्रधान, सर्व प्रत्यय-प्रधान और ईषत्-प्रत्यय-प्रधान। अफ्रीका की बांटू परिवार की भाषाएँ पुर-प्रत्यय-प्रधान होती हैं, अर्थात् प्रकृति के पूर्व प्रत्यय लगता है। यूराल-आल्टिक और द्राविड़ परिवार की भाषाएँ पर-प्रत्यय-प्रधान होती हैं। यूराल-आल्टिक परिवार की तुर्की भाषा के उदाहरण पीछे आ चुके हैं। यहाँ पर द्राविड़ का उदाहरण दे देना उचित होगा और संस्कृत के साथ

तुलना करने पर विभक्ति-प्रधान और प्रत्यय-प्रधान रचना का भेद भी स्पष्ट हो जायगा।

शब्द-सेवक

कारक	संस्कृत (बहु०)	कन्नड़ी (बहु०)
कर्त्ता	सेवका:	सेवक-रु
कर्म	सेवकान्	सेवक-रन्नु
करण	सेवकै:	सेवक-रिंद
संप्रदान	सेवकेभ्य:	सेवक-रिगे
अपादान	सेवकेभ्य:	
संबंध	सेवकानाम्	सेवक-र
अधिकरण	सेवकेषु	सेवक-रल्ली

कन्नड़ी के इन सब रूपों में र बहुवचन का चिह्न है। इसके स्थान पर 'न' कर देने से एकवचन के रूप बन जाते हैं।

मलयन और मलनेशिया परिवार की भाषाएँ सर्व प्रत्यय-प्रधान होती हैं। उनकी रचना में सभी प्रत्ययों का संयोग दिखाई पड़ता है।

जिन भाषाओं में प्रत्यय-प्रधानता के साथ व्यास, समास अथवा विभक्ति का भी पुट रहता है, वे ईषत्-प्रत्यय-प्रधान कहलाती हैं। इनमें अनेक भाषाएँ हैं। जापानी और काकेशी भाषाओं में विभक्ति की ओर झुकाव दिखाई पड़ता है। हाउसा का व्यास की ओर और बास्क परिवार की भाषाओं का समास की ओर झुकाव दिखाई पड़ता है।

प्रत्यय-प्रधान भाषा की तरह विभक्ति-प्रधान भाषा में भी प्रत्ययों के द्वारा ही व्याकरणिक संबंध का बोध होता है। परंतु एक अंतर यह है कि विभक्ति-प्रधान रचना में प्रकृति और प्रत्यय का एक दूसरे में पूर्णतया समाहार हो जाता है, यहाँ तक कि कभी कभी प्रत्यय का प्रत्यक्ष अस्तित्व ही नहीं प्रतीत होता।

विभक्ति-प्रधान

अस्तु; इस वर्ग की भाषा का प्रधान लक्षण प्रकृति और प्रत्यय का अभेद है। ऐसी रचना में अपवाद और व्यत्यय की भी प्रधानता रहती है। इसी कारण इनमें विविधता और जटिलता भी अधिक रहती है। फलतः इसका व्याकरण भी अधिक विशाल और विस्तृत होता है।

इस वर्ग के दो उपविभाग होते हैं—अंतर्मुख-विभक्ति-प्रधान और बहिर्मुख-विभक्ति-प्रधान। सेमेटिक और हेमेटिक परिवार की भाषाएँ अंतर्मुख-विभक्ति-प्रधान होती हैं और भारोपीय परिवार की बहिर्मुख विभक्ति-प्रधान। अंतर्मुख-विभक्ति-संपन्न भाषा में पूर्व-विभक्तियाँ, अंतः-विभक्तियाँ और पर-विभक्तियाँ होती तो हैं, पर वास्तव में व्याकरणिक संबंध शब्द के भीतर होनेवाले स्वर-परिवर्तन से ही सूचित होता है। जैसे 'कत्ल' अरबी की एक धातु है, उससे कतल (उसने मारा), 'कुतिल' (वह मारा गया), 'यक्तुलु' (वह मारता है), कातिल (मारनेवाला) 'कित्ल' (शत्रु), 'कितल' (प्रहार, चोट) आदि अनेक रूप स्वरों के परिवर्तन करने से ही बन जाते हैं। व्यंजन वही के वही रहते हैं। सेमेटिक परिवार के अतिरिक्त हेमेटिक परिवार में भी यही लक्षण बहुत कुछ मिलते हैं। इन भाषाओं में भी संहित से व्यवहृत होने की स्पष्ट प्रवृत्ति देखी जाती है।

दूसरे उपविभाग में सुप्रसिद्ध भारोपीय परिवार आता है। यहाँ विभक्तियाँ बहिर्मुख और प्रायः परिवर्तिनी होती हैं। इन भाषाओं की धातुएँ न तो त्रैवर्णिक ही होती हैं और न व्याकरणिक संबंध ही अंतरंग स्वर-भेद द्वारा प्रकट होता है। इसी से इनमें पर-विभक्तियों का अधिक व्यवहार होता है। पर संहित से व्यवहृत की प्रवृत्ति इसमें भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इस परिवार की एक विशेषता अक्षरावस्थान भी है। इस परिवार की विभक्तियों और प्रत्ययों की संपत्ति सबसे अधिक है। संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि विभक्ति-प्रधान भाषाओं के उदाहरण यहाँ गिनाने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि भारोपीय परिवार के वर्णन में इनके अनेक उदाहरण मिलेंगे। परन्तु इतना अवश्य ध्यान में रखना

चाहिए कि भारोपीय भाषाओं के विकसित रूपों को विद्वान् पूर्णतः विभक्ति-प्रधान नहीं मानते।

हिंदी का स्थान

अँगरेजी और हिंदी जैसी आधुनिक भारोपीय भाषाएँ इतनी व्यवहित होती हैं कि उनमें व्यास और संयोग के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। इसी से स्वीट जैसे विद्वान् अँगरेजी को व्यवहित विभक्ति-प्रधान भाषा कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं, अर्थात् इनके व्यास और प्रत्यय-संयोग के ही उदाहरण अधिक मिलते हैं। विभक्ति के लक्षण थोड़े मिलते हैं। हिंदी के विषय में भी ठीक यही कहा जा सकता है।

(ख) वंशानुक्रम वर्गीकरण

भाषा में निरंतर परिवर्तन

सब भाषाओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है और एक मुख्य भाषा में प्रायः उतने ही विभेद हो जाते हैं जितने उसके बोलनेवालों के समुदाय होते हैं। हम यह जानते हैं कि भाषण का अवलंब कुछ प्राकृतिक तथा मानसिक क्रियाएँ होती हैं और मनुष्य मात्र में इन क्रियाओं का एक सा होना सर्वथा असंभव है। दूसरे जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भाषा एक प्रकार की अर्जित संपत्ति है। इसके अर्जन में कुछ पुराने तथ्य लुप्त हो जाते हैं और कुछ नये तथ्यों का आविर्भाव हो जाता है; क्योंकि किसी संपत्ति का अर्जन करना अर्जनकर्त्ता की योग्यता तथा स्थिति पर निर्भर रहता है। इसी प्रकार भाषा के अर्जन पर भी प्रत्येक मनुष्य की सुनने और बोलने की योग्यता तथा उसकी भौगोलिक परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति के भाषण के भावों में परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के पाल ने तीन मुख्य कारण बताए हैं—(१) प्रत्येक अनुभव या चित्त का संस्कार, यदि वह बार बार न हो अथवा ज्ञानावस्था में उसकी उद्धरणी न हो तो, क्रमशः क्षीण पड़ता जाता है, (२) बोलने, सुनने और विचार करने की प्रत्येक क्रिया से भाषण-संपत्ति के भंडार में कुछ न कुछ वृद्धि होती जाती है, और (३) भाषण-तत्त्वों के दृढ़ होने तथा

उनमें नए तत्त्वों के आ जाने से नाद-यंत्रों की अवस्था में सदा परिवर्तन होता रहता है। इन कारणों से प्रत्येक बोलनेवाले की भाषा दूसरे बोलनेवालों की भाषा से कुछ न कुछ भिन्न होनी चाहिए। यदि इन प्रवृत्तियों में रुकावटें न उपस्थित हों तो किसी एक मुख्य भाषा की उतनी ही सजातीय बोलियाँ हो जायँ जितनी संख्या उस मुख्य भाषा के बोलनेवालों की होगी। परंतु मनुष्य को सदा इस बात की आवश्यकता बनी रहती है कि वह अपना भाव दूसरों को समझावे और दूसरों का भाव आप समझे। इस आवश्यकता के कारण उसके भाषण की परिवर्तनशील प्रकृति में रुकावटें उपस्थित होती रहती हैं और भाषाओं के उपविभागों की संख्या अपरिमित नहीं होने पाती।

अतएव हम कह सकते हैं कि बोली मनुष्यों के एक विशिष्ट समुदाय की भाषा है जिसे उस समुदाय के सब मनुष्य भली भाँति समझते हैं। उसके द्वारा उनमें परस्पर भावों और विचारों का विनिमय हुआ करता है।

विभेदता में एकता

यद्यपि भाषण में प्रत्येक मनुष्य की कोई न कोई विशेषता होती है, परंतु उन विशेषताओं के कारण प्रत्येक व्यक्ति के भाषण को 'बोली' कहलाने का गौरव नहीं प्राप्त होता। भिन्न भिन्न सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक या व्यापारिक संप्रदायों के लोगों के परस्पर भाषण में मुख्य भाषा से जो विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है उसी को बोली कहते हैं। एक ब्राह्मण 'एकादशी' शब्द का प्रयोग करता है। साधारण जन-समुदाय में भी 'एकादशी' शब्द प्रयुक्त होता है। अपढ़ लोगों में 'एकादशी' या 'इकासती' शब्द चलता है। इसी प्रकार 'अष्टमी' का 'असमटी' 'असटमी' या 'आठैं' शब्द प्रयुक्त होते हैं। ये शब्द वास्तव में एक ही हैं, पर भिन्न भिन्न श्रेणी के लोगों में इन्होंने भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिया है। संप्रदायभेद के कारण एक ही भाव के बोध के लिये अलग अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं। साधारण लोग 'भोजन करना' या 'खाना' शब्द का प्रयोग करते हैं, पर वैष्णव-मंडली में इसी भाव को प्रकट करने के लिये 'प्रसाद पाना' कहा जाता

है। इसी प्रकार नमक के लिये 'रामरस' और पीली मिट्टी के लिये 'रामरज' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। शिक्षा और शिष्टता एक ओर तो भाषा में विभेद उत्पन्न करती है और दूसरी ओर राष्ट्रीय भावों का उदय करके एकता स्थापित करने में सहायक होती है। एक शिक्षित पुरुष 'व्यक्तिगत भाव' 'निसर्गसिद्ध अधिकार' 'प्राकृतिक सौंदर्य' 'भाव-विवेचन' 'साम्यवाद' आदि शब्दों का भाव जितनी सुगमता से समझ सकेगा, उतनी सुगमता से दूसरे लोग नहीं समझ सकेंगे। परंतु इन विभेदों का विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न भिन्न बोलियों का स्रोत एक मूल भाषा में होता है। उसी से भिन्न भिन्न बोलियाँ या देशभाषाएँ क्रमशः परिवर्तित होकर निकलती हैं। हम का भाव प्रकट करने के लिये गुजराती में 'अमे', मराठी में 'आह्मी', बँगला में 'आमि' शब्द प्रयुक्त होते हैं। खोज करने पर इसका पता चल जाता है कि ये सब संस्कृत के 'अस्मद्' शब्द से निकले हैं। इसी प्रकार बहिन के लिये मराठी में 'बहीण' गुजराती में 'बेहेण' पंजाबी में 'भैण' शब्द चलते हैं, पर सब निकले हैं संस्कृत के 'भगिनी' शब्द से। अतएव यह प्रकट होता है कि इस प्रत्यय विभेदता में भी अगोचर रूप से एकता छिपी पड़ी है; अर्थात् भारतवर्ष की भिन्न भिन्न भाषाओं के बोलनेवाले यद्यपि एक दूसरे से इस समय सर्वथा अलग-अलग जान पड़ते हैं, पर वास्तव में वे एक ही मूल वा स्रोत से निकले हैं। यह मूल भाषा संस्कृत है, और वह जाति जिससे इस समय भारतवर्ष में इतनी अधिक जातियाँ और उपजातियाँ हो गई हैं 'आर्य' जाति है।

वंशानुसार भाषाओं का वर्गीकरण

परंतु यहीं पर यह अनुसंधान समाप्त नहीं होता। जब हम कई भाषाओं की परस्पर तुलना करते हैं तब हम उनमें बहुत सी समानताएँ पाते हैं। कुछ भाषाओं के शब्द भाण्डार, वाक्यान्वय, रूप आदि में इतना साम्य रहता है कि उसकी सजातीयता अर्थात् उन्हें किसी एक प्राचीन भाषा की संतान मान लेने में कोई संकोच नहीं होता। पर इस प्रकार का संबंध स्थापित करने में बहुत

विवेक से काम लेना चाहिए, क्योंकि केवल कुछ शब्दों के साम्य से ही दो भाषाओं को एक प्राचीन भाषा की संतान मान लेना भ्रमात्मक एवं मूर्खतापूर्ण कार्य होगा। अँगरेजी में लैटिन और ग्रीक शब्दों का आधिक्य देखकर यह न कहना चाहिए कि अँगरेजी भाषा लैटिन या ग्रीक से उत्पन्न हुई है। इसी प्रकार प्राचीन काल के भाषा-वैज्ञानिक फारसी में अरबी शब्दों का आधिक्य देखकर उसे सेमेटिक वर्ग की भाषा मानकर भ्रम में पड़े हुए थे। यूरोप के प्राचीन भाषा-वैज्ञानिक संसार की सब भाषाओं को हिब्रू भाषा से उत्पन्न मानकर शब्दों की ऊटपटाँग व्युत्पत्तियाँ निकाला करते थे। परंतु थोड़े से अध्ययन और तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जैसे भारत की पंजाबी, हिंदी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं की परस्पर तुलना करने से यह बात सहज ही ध्यान में आ जाती है कि ये सब भाषाएँ सजातीय हैं और इनकी उत्पत्ति एक ही मूल से हुई है।

इसके अतिरिक्त भाषाओं के इस प्रकार के वंशनिर्णय करने के लिये विद्वानों ने कुछ सिद्धांत बनाये हैं। उनका कहना है कि निकट संबंधी व्यक्तियों—जैसे माता, पिता, भाई, बहिन इत्यादि—के लिये प्रयुक्त शब्द, सर्वनाम, संख्याओं के नाम तथा नित्य-व्यवहार की वस्तुओं के नाम जिन भाषाओं में समान हों, वे एक सामान्य भाषा से उत्पन्न मानी जा सकती हैं। नीचे कुछ भाषाओं के परस्पर संबद्ध शब्दों के उदाहरण दिए जाते हैं।

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	जर्मन	पु०अँग०	आ० अँग०	फारसी
पितृ (पितर)	Pater	Pater	Vater	Fæder	Father	पिदर
मातृ (मातर)	Mater	Meter	Mutter	Modor	Mother	मादर
भ्रातृ(भ्रातर)	Frater	Phrater	Bruder	Brothor	Brother	बिरादर

ऐसे शब्दों को देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि ये भाषाएँ परस्पर किसी न किसी रूप में संबद्ध हैं। इनके अतिरिक्त आलोच्य भाषाओं के व्याकरण की समानता भी परस्पर संबंध का परिचायक है। व्याकरण के नियमों का सादृश्य ढूँढ़ते समय सब भाषाओं के

व्याकरणों का ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक है; क्योंकि व्याकरण के नियम भी शाश्वत नहीं हैं; उनमें समयानुसार परिवर्तन हुआ करता है। जो भाषा एक समय संयोगावस्था में है उसी का विकसित रूप वियोगावस्था को प्राप्त हो जाता है। संस्कृत से लैटिन ग्रीक आदि भाषाओं की तुलना हो सकती है, पर उसी के विकसित रूप हिंदी से उक्त भाषाओं की तुलना कठिन है। अतएव, इस विषय में इतिहास की सहायता अनिवार्य है।

उपर्युक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने संसार भर की भाषाओं का अध्ययन करके उनके परस्पर संबंध का पता लगाया है; और उनको वंश के अनुसार परिवारों में विभाजित किया है। उनमें भारोपीय, सेमेटिक, हेमेटिक, यूराल-अलताई, द्राविड़, एकाक्षर (चीनी परिवार), काकेशस, बांतू आदि प्रसिद्ध भाषा-परिवार हैं।

इस प्रकार भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण करने में सरलता, स्पष्टता और सुविधा की दृष्टि से भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रखना अच्छा होता है। इस दृष्टि से विश्व के चार खंड होते हैं—(१) दोनों अमेरिका, (२) प्रशान्त महासागर, (३) अफ्रीका और (४) यूरेशिया। दोनों अमेरिका भाषा की दृष्टि से जगत् से सर्वथा भिन्न माने जा सकते हैं। इस परिवार की भाषाओं की साधारण विशेषता यह है कि इनकी रचना समास-प्रधान होती है। उनकी प्रायः सभी अवस्थाएँ पाई जाती हैं।

अमेरिका खंड

इस खंड की प्रधान भाषाओं का स्थूल वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—उत्तरी अमेरिका के पाँच देशों—ग्रीनलैंड, कनेडा, संयुक्तराज्य, मेक्सिको और यूकतन—में क्रमशः एस्किमो, अथवास्कन, अलगोंकिन, इरोक्वाइन्स, आधुनिक तथा नहुआनल्स और मय भाषाएँ हैं। मध्य अमेरिका में कोई वर्गीकरण नहीं है। दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी भाग में कारिब और अरवाक, मध्यदेश में गुआर्नी-तूपी, पश्चिमी भाग में किचुआ और अरौकन और दक्षिणी भाग में चाको और तीराडेल फूआगो भाषाएँ हैं। इन भाषाओं में तीराडेल और फूआगो जंगी

असंस्कृत भाषाओं से लेकर मय और नहुआतूल्स जैसी साहित्यिक और संस्कृत भाषाएँ भी हैं जो प्राचीन मेक्सिको-साम्राज्य में व्यवहृत होती थीं।

इस दूसरे खंड में भी अनेक भाषाएँ, विभाषाएँ और बोलियाँ हैं। ये प्रायः संयोगी होती हैं। इनके पाँच मुख्य परिवार हैं—मलयन, मेलानेसिअन, थालीनेसिअन, पापुअन और आस्ट्रेलियन। तीसरे खंड में अफ्रीका की सब भाषाएँ आती हैं। इनके भी पाँच मुख्य परिवार हैं—बुशमान, बांतू, सूडान, हेमेटिक और सेमेटिक।

प्रशांत-महासागरखंड और अफ्रीका खंड

बुशमान परिवार की भाषाएँ दक्षिण अफ्रीका में बोली जाती हैं। ये संयोग-प्रधान से व्यास-प्रधान हो रही हैं। इनमें लिंग-भेद केवल सजीव और निर्जीव का भेद ही सूचित करता है। भूमध्य रेखा के दक्षिण में पूर्व से पश्चिम तक बांतू परिवार की भाषाएँ पाई जाती हैं। ये भाषाएँ पूर्व-प्रत्यय-प्रधान होती हैं। इनमें व्याकरणिक लिंग का अभाव रहता है। भूमध्य रेखा के उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक सूडान परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। ये व्यास-प्रधान हैं और इनकी धातुएँ एकाक्षर होती हैं। इनमें भी लिंग-भेद का अभाव रहता है। इस परिवार की चार शाखाएँ हैं—मिस्र देशी, इथियोपी, मिश्रित और विकृत बोलियाँ और फूला भाषाएँ।

इनमें से मिस्री शाखा की प्राचीन मिस्री और उससे निकली हुई काप्टिक भाषा दोनों ही अब प्राचीन लेखों में रक्षित हैं। वे अब बोली नहीं जातीं। उनके क्षेत्र में अब सेमेटिक परिवार की अरबी भाषा बोली जाती है। इसी प्रकार इथिओपी शाखा की लिबिअन और नुमिदिअन बोलियाँ भी अब जीवित नहीं हैं। उनका अस्तित्व शिलालेखों में पाया जाता है। शेष अर्थात् बर्बर तथा अन्य भाषाएँ (टावारेक और शिल्हा) अभी तक बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त इस शाखा में की खामीर (एबिसीनिया), सोमाली, गल्ला, सहो आदि बोलियाँ भी हैं। तीसरी शाखा में हाउसा, साई और नम बोलियाँ

आधुनिक जीवित भाषाओं में से वास्क भाषा (फ्रांस और स्पेन की सीमा पर) वेस्ट पिरेनीज में बोली जाती है। यह भाषा संयोग-प्रधान है और इसकी क्रिया थोड़ी बहुसंहित होती है। इस भाषा के सर्वनाम सेमेटिक और हेमेटिक सर्वनामों से मिलते से हैं और लिंग-भेद केवल क्रियाओं में होता है। समास बनते हैं, पर समास-प्रधान भाषाओं की नाईं इनके समासों में भी समस्त शब्दों के कई अंश लुप्त हो जाते हैं। शब्द-भांडार बहुत छोटा और हीन है। कभी कभी बहुत के समान संबंधियों के लिये भी शब्द नहीं मिलते। वाक्य-विचार बड़ा सरल होता है। क्रिया प्रायः अंत में आती है।

इस समुदाय की दूसरी जीवित भाषा जापानी है। इसमें पर-प्रत्यय-प्रधानता तो मिलती है, पर दूसरे लक्षण नहीं मिलते। यह बड़ी उन्नत भाषा है। इस पर चीनी भाषा और संस्कृत का प्रभाव पड़ा है।

इसी प्रकार कोरियाई भाषा भी यूराल अल्ताई परिवार में निश्चित रूप से नहीं रखी जा सकती। यद्यपि कोरिया की राज-भाषा तो चीनी है, पर लोक-भाषा यही कोरियाई है।

इस परिवार की कुछ भाषाएँ, जिन्हें 'हाइपर बोरी' कहते हैं, एशिया के उत्तर-पूर्वी किनारे पर लेना नदी के पूरब से दक्षिण में सखालिन तक व्यवहार में आती हैं।

यूराल-अल्ताई परिवार

भाषा-विज्ञान के आरंभिक काल में विद्वानों ने भारोपीय (इंडो-यूरोपियन) और सेमेटिक के अतिरिक्त एक तीसरे परिवार 'तूरानी' की कल्पना की थी और इस तीसरे परिवार में वे तुर्की, चीनी आदि उन सभी भाषाओं को रख देते थे जो उन दोनों परिवारों में नहीं आ सकती थीं, पर अब अधिक खोज होने पर यह नाम (तूरानी) छोड़ दिया गया है और अब तुर्की भाषा से संबंध रखनेवाले परिवार का दूसरा नाम यूराल-अल्ताई परिवार ठीक समझा जाता है।

यूराल-अल्ताई परिवार के क्षेत्र से आगे बढ़कर एशिया के पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी भाग में एकाक्षर भाषाएँ बोली जाती हैं। भारोपीय परिवार को छोड़कर इसी परिवार के वक्ता संख्या में सबसे अधिक हैं। यह परिवार बड़ा ही संहित और संश्लिष्ट भाषा-समुदाय है। इस परिवार में चीनी भाषा प्रधान होने से उसी के नाम से इस परिवार का नाम पड़ गया है और कुछ भाषाओं के भारत में होने से इस परिवार को लोग 'भारत-चीनी' (Indo-Chinese) भी कहते हैं। इसके मुख्य भेद चार हैं—(१) अनामी, (२) स्यामी, (३) तिब्बत-बर्मी और (४) चीनी।

एकाक्षर अथवा चीनी परिवार

इनमें से अनामी और स्यामी पर चीनी का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है और चीनी के समान ही वे एकाक्षर, स्थान-प्रधान तथा स्वर-प्रधान भाषाएँ हैं। तिब्बती और बर्मी भाषाओं पर भारती भाषाओं का अधिक प्रभाव पड़ा है। उनकी लिपि तक ब्राह्मी से निकली है और तिब्बती (भोट) भाषा में तो संस्कृत और पाली के अनेक ग्रंथ अनुवादित भरे पड़े हैं। इन तीनों वर्गों की अपेक्षा चीनी का महत्त्व अधिक है। वही एकाक्षर और व्यासप्रधान भाषा का आदर्श उदाहरण मानी जाती है। वह पाँच हजार वर्षों की पुरानी संस्कृति और सभ्यता का खजाना है, उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों और भावों तक के अभिव्यक्त करने की शक्ति है। उनकी लिपि भी निराली है। उसमें एक शब्द के लिये एक प्रतीक होता है। उसमें व्याकरण की प्रक्रिया का भी अभाव ही है। स्वर और स्थान का प्राधान्य तो चीनी का साधारण लक्षण है।

द्राविड़ परिवार भारत में ही सीमित है। भारत की अन्य भाषाओं से उसका इतना घनिष्ट संबंध है कि उसका वर्णन भारत की भाषाओं के प्रकरण में ही करना अच्छा होगा।

द्राविड़ परिवार

काकेशस परिवार की भाषाएँ पूर्व-प्रत्यय और पर-प्रत्यय दोनों का

संचय करती हैं, अतः अब निश्चित रूप से वे संयोग-प्रधान भाषाएँ मानी जाती हैं। इनकी रचना इतनी जटिल होती है कि पहले विद्वान् इन्हें विभक्ति-प्रधान समझा करते थे और इनकी विभाषाएँ और बोलियाँ एक दूसरे से इतनी कम मिलती हैं कि कभी कभी यह संदेह होने लगता है कि ये एक परिवार की हैं या नहीं।

काकेशस परिवार

इस परिवार के दो विभाग किये जाते हैं—(१) उत्तरी काकेशस और (२) दक्षिणी काकेशस।

उत्तरी विभाग में किरकासियन, किस्तियन, लेस्गियन तथा अन्य विभाषाएँ हैं। दक्षिणी में जार्जियन, सुआनियन, मिंग्रेलियन, तथा अन्य विभाषाएँ हैं।

वक्ताओं की दृष्टि से चीनी परिवार बड़ा है पर राजनीतिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक दृष्टि से सेमेटिक परिवार उससे भी अधिक महत्त्व का है। केवल भारोपीय परिवार सभी बातों में इससे बड़ा है।

सेमेटिक परिवार की भाषाओं ने संसार की अनेक जातियों को लिपि की कला सिखाई है। केवल भारत और चीन की लिपि अपनी निजी और स्वदेशी कही जा सकती है। भारत की भी खरोष्टी आदि कई लिपियाँ सेमेटिक मूल से निकली हैं। कुछ विद्वान् ब्राह्मी को भी सेमेटिक से उत्पन्न बतलाते हैं।

सेमेटिक परिवार

इन भाषाओं की सबसे पहली विशेषता यह है कि इनकी धातुएँ तीन व्यंजनों से बनती हैं। उनमें स्वर एक भी नहीं रहता, और उच्चारण के लिये जिन स्वरों अर्थात् अक्षरों का व्यवहार होता है वे ही वाक्य-रचना को जन्म देते हैं। इन भाषाओं के रूप स्वरों के विकार से ही उत्पन्न होते हैं। इन स्वरों के द्वारा ही मात्रा, संख्या, स्थान, कारक आदि बातों का बोध होता है; अर्थात् इन सेमेटिक भाषाओं में विभक्तियाँ अंतर्मुखी होती हैं। अतः विभक्तियों के साथ ही पूर्व और पर विभक्तियों का भी व्यवहार होता है। जैसे 'क्तब्' (लिखना) तीन व्यंजनों की एक धातु है, इससे अक्तब (उसने लिखाया), कतबत्

(उसने लिखा), तक्तुबू (वह लिखती है), कतबूना (हमने लिखा) और ताक्तूबू (हम लिखते हैं) आदि अनेक रूप बन जाते हैं।

इन भाषाओं की एक विशेषता यह भी है कि इनमें हेमेटिक और भारोपीय परिवार की नाई व्याकरणिक लिंग-भेद होता है। इनमें कारक तीन ही होते हैं—कर्त्ता, कर्म और संबंध। अंतिम दो कारकों की विभक्तियों द्वारा सभी अवशिष्ट विभक्तियों का काम चल जाता है। सेमेटिक की एक विचित्रता यह भी है कि कुछ सर्वनाम क्रियाओं के अंत में जोड़ दिये जाते हैं, जैसे—दरब-नी (उसने मुझे मारा), कतब-ई (मेरी किताब) इत्यादि। पर सेमेटिक में वैसे समास नहीं बनते जैसे भारोपीय भाषाओं में पाए जाते हैं। इस परिवार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी भाषाओं में परस्पर बहुत कम अंतर पाया जाता है। अन्य परिवार की भाषाएँ एक दूसरे से बहुत दूर जा पड़ती हैं पर इस परिवार की भाषाओं में थोड़े ध्वनिविकार-जन्य भेदों को छोड़कर कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है। कुछ भाषाएँ बहुसंहित से व्यवहित हो गई हैं पर इससे कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं हो गया है।

सेमेटिक परिवार के दो विभाग किए जा सकते हैं—उत्तरी सेमेटिक और दक्षिणी सेमेटिक। उत्तरी सेमेटिक में असीरियो और केनानिटिक और दक्षिणी सेमेटिक में अरबी तथा जोक्तानिद (अबीसीनियन) भाषाएँ आती हैं।

साहित्यिक अरबी सेमेटिक भाषा की प्रतिनिधि है। यह मध्य अरब की कुरश जाति की बोली थी। इसको कुरान और इस्लाम धर्म ने अधिक उन्नत और साहित्यिक बना दिया।

भारोपीय परिवार

अब यूरेशिया का ही नहीं, विश्व का भी सबसे बड़ा भाषा-परिवार सामने आता है। इस भरोपीय (भारत-यूरोपीय) परिवार के बोलनेवाले भी सबसे अधिक हैं और इसका साहित्यिक और धार्मिक महत्त्व भी सबसे अधिक है। इस परिवार का अध्ययन भी सबसे अधिक हुआ है।

इसकी विभक्तियाँ प्रायः बहिर्मुखी होती हैं और प्रकृति के अंत में लगती हैं। इस परिवार की प्रायः सभी भाषाएँ संहित से व्यवहित हो रही हैं। इनकी धातुएँ प्रायः एकाच् (अर्थात् एकाक्षर) होती हैं और उनमें कृत् और तद्धित प्रत्यय लगने से अनेक रूप बनते हैं। इसमें पूर्व-विभक्तियाँ अथवा पूर्वसर्ग नहीं होते। उपसर्ग होते हैं, पर उनका वाक्य के अन्वय से कोई संबंध नहीं होता। पर सेमेटिक भाषाओं में ऐसी पूर्व विभक्तियाँ होती हैं जो वाक्य का अन्वय सूचित करती हैं। इस परिवार में विशुद्ध समास-रचना की विशेष शक्ति पाई जाती है जो अन्य सेमेटिक परिवारों में नहीं होती। इसी प्रकार अक्षराव-स्थान इस परिवार की अपनी विलक्षणता है। यद्यपि सेमेटिक में भी इससे मिलती-जुलती बात देख पड़ती है पर दोनों के कारणों में बड़ा अंतर है। भारोपीय भाषा के अक्षरावस्थान का कारण स्वर अथवा बल होता है और सेमेटिक अपश्रुति वाक्य के अन्वय से संबंध रखती है।

इस परिवार की भाषाओं में सभी प्रकार के संबंधों के लिये विभक्तियाँ आवश्यक होने के कारण विभक्तियों का भी अनुपम बाहुल्य हो गया है। इस परिवार में सेमेटिक के समान एकता न होने के कारण उन विभक्तियों में नित्य नूतन परिवर्तन होते रहते हैं। इससे इनमें विभक्तियों की संपत्ति बहुत अधिक बढ़ गई है।

परिवार का नामकरण

इस परिवार के नाम भी अनेक प्रचलित हैं। पहले मेक्समूलर प्रभृति लेखकों ने इसे 'आर्य' नाम दिया, पर अब आर्य शब्द से केवल भारत-ईरानी वर्ग का बोध होता है। कुछ दिनों तक इंडो-जर्मन अथवा भारत-जर्मनी नाम व्यवहार में आता था और जर्मन देश में आज भी यह नाम चलता है, पर सबसे अधिक प्रचलित नाम भारोपीय ही है। जर्मन को छोड़कर सभी यूरोपीय देशों और भारत में भी यह नाम स्वीकृत हो चुका है। यह इस परिवार की भाषाओं के भौगोलिक विस्तार का भी निर्देश कर देता है। इसके अतिरिक्त इंडो-केल्टिक, संस्कृतिक, और

काकेशियन नाम भी प्रयोग में आए पर इनका कभी प्रचार नहीं हुआ और न उनमें कोई विशेषता ही है। यद्यपि इंडो-कैल्टिक नाम में इस भाषा-क्षेत्र के दोनों छोर आ जाते हैं तो भी वह नाम चल न सका।

इस भारोपीय परिवार में प्रधान, नव वर्ग अथवा शाखाएँ मानी जाती हैं—कैल्टिक, जर्मनिक, इटालिक (लैटिन), ग्रीक (हैलेनिक), तोखारी, अल्बेनियन (इलीरिअन), लैटोस्लाव्हिक (बाल्टोस्लाव्हिक), आर्मेनियन और आर्य (इंडो-ईरानी)। इसके अतिरिक्त डेसियन, थ्रेसियन, फ्रीजियन, हित्ताइट आदि परिवारों का शिलालेख से पता चलता है। इनमें से अधिक महत्त्व का परिवार हित्ताइट है पर उसके विषय में बड़ा मतभेद है। एशिया-माइनर के बोगाजकुई में जो ईसा से पूर्व चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी के इस हित्ताइट भाषा के शिलालेख मिले हैं उनकी भाषा, प्रो० साइस के अनुसार, सेमेटिक है, उस पर थोड़ा भारोपीय परिवार का प्रभाव पड़ा है, पर प्रो० ह्राज्नी और कई भारतीय विद्वान् कहते हैं कि वह भाषा वास्तव में भारोपीय है जिस पर सेमेटिक का प्रभाव पड़ा है। जो हो, यह भाषा भारोपीय और सेमेटिक के सम्मिश्रण का सुंदर उदाहरण है।

विद्वानों की कल्पना है कि प्रागैतिहासिक काल में भी इस भारोपीय भाषा में दो विभाषाएँ थीं। इसी से उनसे निकली हुई भाषाओं की ध्वनियों में पीछे भी भेद लक्षित होता है। ग्रीक, लैटिन आदि कुछ भाषाओं में प्राचीन मूल भाषा के चवर्ग ने कवर्ग का रूप धारण कर लिया है और संस्कृत, ईरानी आदि में वही चवर्ग 'घर्षक ऊष्म' बन गया है, अर्थात् कुछ भाषाओं में जहाँ कवर्ग का कंठ्य वर्ण देख पड़ता है वहीं (उसी शब्द में) दूसरी भाषाओं में ऊष्म वर्ण पाया जाता है; जैसे लैटिन में केंटुम्, आक्टो, डिक्टिओ, गेनुस रूप पाए जाते हैं पर उन्हीं के संस्कृत प्रतिशब्द शतम्, अष्टौ, दिष्टिः, जन आदि में ऊष्म वर्ण देख पड़ते हैं। इसी भेद के आधार पर इन भारोपीय भाषाओं के दो वर्ग माने जाते हैं एक केंटुम् वर्ग, दूसरा शतम् (अथवा सतम्) वर्ग। सौ का वाचक शब्द सभी

केंटुम् और शतम् वर्ग

भारोपीय भाषाओं में पाया जाता है, अतः इसी को भेदक मानकर यह नामकरण किया गया है। यथा—मूल भा० चंतोम्, लैटिन केंटुम्, ग्रीक हेक्तोम, प्राचीन आयरिश केन्, गाथिक खुंद, तोखारी कंध, और दूसरे वर्ग की संस्कृत में शतम्, अवेस्ता में सतम्, लिथु (शिंतस) स्जिम्तस, रूसी स्तो। पहले पहल जब आस्कोली ने १८७० ई० में इस भेद की खोज की थी और फान ब्राडके ने यह द्विधा वर्गीकरण किया था, तब यह समझा जाता था कि केंटुम् वर्ग पश्चिमी और शतम् वर्ग पूर्वी देशों में प्रचलित हुआ है, पर अब एशिया-माइनर की हित्ताइट (हित्ती) और मध्य एशिया (तुरफान) की तोखारिश भाषाओं की खोज ने इस पूर्व और पश्चिम के भेद को भ्रामक सिद्ध कर दिया है। ये दोनों भाषाएँ पूर्वीय होती हुई भी केंटुम् वर्ग की हैं। इस वर्गीकरण की विशेषता यह है कि किसी भी वर्ग की भाषा में दोनों प्रकार की बोलियाँ नहीं मिलतीं अर्थात् कभी नियम का अतिक्रमण नहीं होता और न भेद अस्पष्ट होता है। इस प्रकार भारोपीय-भाषा परिवार के केंटुम् वर्ग में केल्टिक, जर्मन, लैटिन, ग्रीक, हित्ताइट और तोखारी भाषाएँ तथा शतम् वर्ग में अल्बेनियन, लैटो-स्लाव्हिक, आर्मेनियन और आर्य भाषाएँ आती हैं।

केल्टिक शाखा

यूरेशिया के पश्चिमी कोने में केल्टिक शाखा की भाषाएँ बोली जाती हैं। एक दिन था जब इस शाखा का एशिया-माइनर में गेलेटिया तक प्रसार था, पर अब तो वह यूरोप के पश्चिमोत्तरी कोने से भी धीरे-धीरे लुप्त हो रही है। इस शाखा का इटालियन शाखा से इतना अधिक साम्य है कि स्यात् उतना अधिक साम्य भारतीय और ईरानी को छोड़कर किन्हीं दो भारोपीय शाखाओं में न मिल सकेगा। इटालियन शाखा ही की नाईं केल्टिक में उच्चारण-भेद के कारण दो विभाग किये जाते हैं—एक क-वर्गीय केल्टिक; और दूसरा प-वर्गीय केल्टिक; एक वर्ग की भाषाओं में जहाँ 'क' पाया जाता है दूसरे वर्ग की भाषा में वही 'प' मिलता है। जैसे 'पांच' के लिए वेल्स में पंप पाया जाता है और आयरिश में कोइक। इस

शाखा के तीन मुख्य वर्ग होते हैं—गायलिक, गालिश और ब्रिटानिक। गालिश लुप्त हो गई है परंतु अन्य वर्ग की कुछ भाषाएँ अभी जीवित हैं।

जर्मन अथवा ट्यूटानिक शाखा, भारोपीय परिवार की बड़ी महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसका प्रसार और प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा है। इस शाखा की अँगरेजी भाषा विश्व की अंतर्राष्ट्रीय भाषा हो रही है। इस शाखा का इतिहास भी बड़ा मनोहर तथा शिक्षापूर्ण है। प्राचीन काल से ही इस शाखा की भाषाओं में संहित से व्यवहित होने की प्रवृत्ति रही है और इन सभी भाषाओं में प्रायः आद्यक्षर पर 'बल' का प्रयोग होता है केवल स्वीडन की भाषा स्वीडिस इसका अपवाद है। उसमें स्वर का प्रयोग होता है। इन सब भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता है उनका निराला वर्ण-परिवर्तन। प्रत्येक भाषाविज्ञानी ग्रिम-सिद्धांत से परिचित रहता है। वह इन्हीं भाषाओं की विशेषता है। पहला वर्ण-परिवर्तन प्रागैतिहासिक काल में हुआ था। ग्रिम-सिद्धांत उसी का विचार करता है। इस वर्ण-परिवर्तन के कारण ही जर्मन-शाखा अन्य भारोपीय शाखाओं से भिन्न देख पड़ती है। दूसरा वर्ण-परिवर्तन ईसा की सातवीं शताब्दी में पश्चिमी जर्मन भाषाओं में ही हुआ था और तभी से लो-जर्मन और हाई-जर्मन का भेद चल पड़ा। वास्तव में हाई-जर्मन जर्मनी की उत्तरी हाइलैंड्स की भाषा थी और लो-जर्मन दक्षिण जर्मनी की लो-लैंड्स में बोली जाती थी। इस शाखा के दो मुख्य विभाग होते हैं—पूर्वी जर्मन और पश्चिमी जर्मन। पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी जर्मन का प्रचार अधिक है; उसमें अधिक भाषाएँ है। पूर्वी जर्मन में गाथिक और नार्थ जर्मन (स्कैंडिनेवियन्) भाषाएँ हैं। पश्चिमी जर्मन के दो विभाग हाई और लो जर्मन के अंतर्गत आधुनिक जर्मन और आधुनिक अँगरेजी भाषा क्रमशः आती हैं।

इटाली की लैटिन प्रधान साहित्यिक भाषा होने से इस शाखा का नाम लैटिन शाखा अथवा लैटिन भाषा-वर्ग है। कैल्टिक के समान इस

इटाली शाखा

शाखा के भी उच्चारण संबंधी दो भाषा-वर्ग होते हैं—प-वर्ग और क-वर्ग; अर्थात् जहाँ प-वर्ग की

लैटिन में पंपेरिअस होता है वहाँ क-वर्ग की लैटिन में क्विक्व होता है। राजनीतिक कारणों से रोम की क-प्रधान विभाषा का प्रसार इतना बढ़ा कि प-वर्ग की भाषाओं का लोप ही हो गया, और अब अंब्रियन, ओस्कन, सेवाइन आदि का शिलालेखों से ही पता लगता है। इस वर्ग को अंब्रोसेमनिटिक भी कहते हैं। क-प्रधान अर्थात् प्राचीन लैटिन के दो विभाग होते हैं—संस्कृत लैटिन और प्राकृत लैटिन। प्राकृत लैटिन के अंतर्गत इटैलियन, स्पेनिश, पुर्तगाली, रेटोरोमैनिक, रोमानियन, प्राह्वेंसल और फ्रेंच भाषाएँ हैं।

इन सब में प्रधान लैटिन ही है। यद्यपि वह ग्रीक भाषा से रूपों और विभक्तियों में बराबरी नहीं कर सकती तो भी उसके प्राचीन संहित रूपों में भारोपीय परिवार के लक्षण स्पष्ट देख पड़ते हैं। इसकी एक विशेषता बल-प्रयोग भी है। लैटिन के जो प्राचीन लेख हैं उनमें भी बल-प्रयोग ही मिलता है और वह उपधा वर्ण पर ही प्राय: रहता है। अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति लैटिन की भी संहिति से व्यवहिति की ओर प्रवृत्ति हुई है; और सबसे अधिक महत्त्व की बात लैटिन का इतिहास है। जिस प्रकार लैटिन से इटाली, फ्रेंच आदि अनेक रोमांस भाषाएँ विकसित हुई हैं उसी प्रकार मूल भारोपीय भाषा से भिन्न भिन्न केल्टिक, ग्रीक, लैटिन आदि शाखाएँ निकली होंगी। कई विद्वान् इस लैटिन के इतिहास से भारतीय देश-भाषाओं के विकास-क्रम की तुलना करते हैं। इस प्रकार यह रोमांस भाषाओं का इतिहास भाषा-विज्ञान में एक आदर्श हो गया है।

परंतु इटली देश की संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से इटाली भाषा का महत्त्व सबसे अधिक है। रोमन-साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर प्रांतीयता का प्रेम बढ़ गया था। कवि और लेखक प्राय: अपनी विभाषा में ही रचना किया करते थे। इटली के तेरहवीं शताब्दी के महाकवि दांते (Dante) ने अपनी जन्म-भूमि फ्लारेंस की विभाषा में ही अपना अमर काव्य लिखा। इसके पीछे रिनेसाँ (जागर्ति) के दिनों में भी इस

इटाली भाषा

नगर की भाषा में बड़ा काम हुआ। इस सब का फल यह हुआ कि फ्लारेंटाइन अथवा फ्लारेंस भाषा इटली की साहित्यिक भाषा बन गई। पुस्तक, समाचार-पत्र आदि आज इसी भाषा में लिखे जाते हैं। इस प्रकार इटली में आज एक साहित्य-भाषा प्रचलित है।

पुर्तगाली और स्पेनी में अधिक भेद नहीं है। केवल राजनीतिक कारणों से ये दोनों भिन्न भाषाएँ मानी जाती हैं। रोमांस अथवा रेटोरोमानिक पूर्वी स्विटजरलैंड की भाषा है और रोमानी भाषा इस रोमांस वर्ग की सबसे अधिक पूर्वीय भाषा है। वह रोमानिया की प्रधान भाषा है। अब इन रोमांस भाषाओं के ऐतिहासिक विकास के साथ भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की तुलना करें तो कई बातें एक सी मिलती देख पड़ती हैं। जिस प्रकार प्राचीन परिष्कृत लैटिन, बोलचाल की लोकभाषा के बदल जाने पर भी, शिक्षितों, साहित्यिकों और धर्माचार्यों के व्यवहार में प्रतिष्ठित रही; उसी प्रकार अनेक शताब्दियों तक संस्कृत भी अमर हो जाने पर अर्थात् बोलचाल में प्राकृतों का चलन हो जाने पर भी भारत की 'भारती' बनी रही। जिस प्रकार एक दिन लैटिन रोमन-साम्राज्य की राष्ट्रभाषा थी, उसी प्रकार संस्कृत (वैदिक संस्कृत अथवा आर्ष अपभ्रंश) आर्य भारत की राष्ट्रभाषा थी। लैटिन और संस्कृत दोनों में ही प्रांतीय विशेषताएँ थीं पर वे उस समय नगण्य थीं। जिस प्रकार वास्तविक एकता के नष्ट हो जाने पर और प्रांतीयता का बोलबाला हो जाने पर भी लैटिन धर्म और संस्कृति के द्वारा अपने अधीन प्रांतीय भाषाओं पर शासन करती रही है उसी प्रकार संस्कृत ने भी सदा प्राकृतों और अपभ्रंशों पर अपना प्रभुत्व स्थिर रखा है; आज भी देशभाषाएँ संस्कृत से बड़ी सहायता ले रही हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ही शाखाओं में आधुनिक भाषाओं ने प्राचीन भाषा को पदच्युत कर दिया है। जिस प्रकार यूरोप में अब इटालियन, फ्रेंच आदि का प्रचार है, न कि लैटिन का; उसी प्रकार भारत में आज हिंदी, मराठी, बँगला आदि देशभाषाओं का व्यवहार होता है, न कि संस्कृत का। रोमांस भाषाओं के विकास में जैसे उच्चारण

और व्याकरण-संबंधी विकार देख पड़ते हैं वैसे ही विकार भारतीय प्राकृतों के इतिहास में भी पाए जाते हैं, अर्थात् लैटिन से तुलना करने पर जो ध्वनि और रूप के परिवर्तन उससे निकली इटालियन, फ्रेंच आदि में देख पड़ते हैं, वैसे ही परिवर्तन संस्कृत से प्राकृतों तथा आधुनिक भापाओं की तुलना करने पर दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे लैटिन और संस्कृत में, जहाँ दो विभिन्न व्यंजनों का संयोग मिलता है वहाँ इटाली और प्राकृत में समान व्यंजनों का संयोग हो जाता है। उदाहरणार्थ—लैटिन का सेप्टेम् (Septem) और ऑक्टो (Octo) इटाली में सेत्ते (Sette) और ओत्तो (Otto) हो जाते हैं उसी प्रकार संस्कृत के सप्त और अष्ट पाली में सत्त और अट्ठ हो जाते हैं।

इसी प्रकार की अनेक समानताओं को देखकर विद्वान् लोग जहाँ कहीं भारतीय देशभापाओं के संबद्ध इतिहास की एकाध कड़ी टूटती हुई देखते हैं और लिखित साक्षी का अभाव पाते हैं, वहाँ उपमान के बल से उसकी पूर्त्ति करने का यत्न करते हैं। उनके उपमान का आधार प्रायः यही रोमांस वर्ग का इतिहास हुआ करता है।

ग्रीक भापा का प्राचीनतम रूप होमर की रचनाओं में मिलता है। होमर की भाषा ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व की मानी जाती है।

ग्रीक भापा

उसके पीछे के भी लेख, ग्रंथ और शिला-लेख आदि इतनी मात्रा में उपलब्ध होते हैं कि उनसे ग्रीक भापा का साधारण परिचय ही नहीं, उसकी विभापाओं तक का अच्छा ज्ञान हो जाता है। अतः ग्रीक भाषा का सुंदर इतिहास प्रस्तुत हो जाता है और वह भाषा-विज्ञान की सुंदर सामग्री उपस्थित करता है।

ग्रीक भाषा में संस्कृत की अपेक्षा स्वर-वर्ण अधिक हैं, ग्रीक में संध्यक्षरों का बाहुल्य है, इसी से विद्वानों का मत है कि भारोपीय

ग्रीक और संस्कृत

भापा के स्वरों का रूप ग्रीक में अच्छी तरह सुरक्षित है, पर संस्कृत की अतुल व्यंजन संपत्ति ग्रीक को नहीं मिल सकी। मूल भाषा के व्यंजनों की रक्षा संस्कृत ने ही अधिक की है। दोनों भाषाओं में एक घनिष्ठ समानता यह है कि

दोनों ही सस्वर भाषाएँ हैं, दोनों में स्वर (गीतात्मक स्वराघात) का प्रयोग होता था और पीछे से दोनों में बल-प्रयोग का प्राधान्य हुआ। रूप-संपत्ति के विषय में यद्यपि दोनों ही संहित भाषाएँ हैं, तथापि संस्कृत में संज्ञाओं और सर्वनामों के रूप अधिक हैं; काल-रचना की दृष्टि से भी संस्कृत अधिक संपन्न कही जा सकती है, पर ग्रीक में अव्यय, कृदंत, क्रियार्थक संज्ञाएँ आदि अधिक होती हैं। संस्कृत के परस्मैपद और आत्मनेपद के समान ग्रीक में भी एक्टिव (Active) और मिडिल (Middle) वाइस (Voice) होते हैं। दोनों में द्विवचन पाया जाता है, दोनों में निपातों की संख्या भी प्रचुर है और दोनों में समास रचना की अद्भुत शक्ति पाई जाती है।

ग्रीक भाषा के विकास की चार अवस्थाएँ स्पष्ट देख पड़ती हैं—होमरिक (प्राचीन), संस्कृत और साहित्यिक, मध्यकालीन और आधुनिक। मध्यकालीन ग्रीक भाषा के दो उपवर्ग होते हैं। एक उपवर्ग में डोरिक, एओलिक, साइप्रीरियन आदि विभाषाएँ आती हैं और दूसरे में आयोनिक और एटिक।

प्राचीन आयोनिक में होमर ने अपनी काव्य-रचना की थी। उसके पीछे आर्कीलोकस, मिमनर्मस आदि कवियों की भाषा मिलती है। इसे मध्यकालीन आयोनिक कहते हैं। आयोनिक का अंतिम रूप हेरोडोटस की भाषा में मिलता है। यह नवीन आयोनिक कहलाती है।

इससे भी अधिक महत्त्व की विभाषा है एटिक। साहित्यिक ग्रीक की कहानी वास्तव में इसी एटिक विभाषा की कहानी है। उसी विभाषा का विकसित और वर्तमान रूप आधुनिक ग्रीक है। क्लैसिकल (प्राचीन) और पोस्ट-क्लैसिकल (परवर्ती) ग्रीक (१) पेगन (Pagon) और (२) निओ-हैलेनिक (अर्वाचीन) तथा आधुनिक भाषा (३) क्रिश्चियन ग्रीक कही जा सकती हैं। प्राचीन साहित्यिक ग्रीक वह है जिसमें एस्काइलस, सोफोक्लीज, प्लेटो और अरिस्टाटिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे हैं। इसका काल ईसा के पूर्व ५००—३०० माना

और व्याकरण-संबंधी विकार देख पड़ते हैं वैसे ही विकार भारतीय प्राकृतों के इतिहास में भी पाए जाते हैं, अर्थात् लैटिन से तुलना करने पर जो ध्वनि और रूप के परिवर्तन उससे निकली इटालियन, फ्रेंच आदि में देख पड़ते हैं, वैसे ही परिवर्तन संस्कृत से प्राकृतों तथा आधुनिक भाषाओं की तुलना करने पर दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे लैटिन और संस्कृत में, जहाँ दो विभिन्न व्यंजनों का संयोग मिलता है वहाँ इटाली और प्राकृत में समान व्यंजनों का संयोग हो जाता है। उदाहरणार्थ—लैटिन का सेप्टेम् (Septem) और ऑक्टो (Octo) इटाली में सेत्ते (Sette) और ओत्तो (Otto) हो जाते हैं उसी प्रकार संस्कृत के सप्त और अष्ट पाली में सत्त और अट्ठ हो जाते हैं।

इसी प्रकार की अनेक समानताओं को देखकर विद्वान् लोग जहाँ कहीं भारतीय देशभाषाओं के संबद्ध इतिहास की एकाध कड़ी टूटती हुई देखते हैं और लिखित साक्षी का अभाव पाते हैं, वहाँ उपमान के बल से उसकी पूर्त्ति करने का यत्न करते हैं। उनके उपमान का आधार प्रायः यही रोमांस वर्ग का इतिहास हुआ करता है।

ग्रीक भाषा

ग्रीक भाषा का प्राचीनतम रूप होमर की रचनाओं में मिलता है। होमर की भाषा ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व की मानी जाती है। उसके पीछे के भी लेख, ग्रंथ और शिला-लेख आदि इतनी मात्रा में उपलब्ध होते हैं कि उनसे ग्रीक भाषा का साधारण परिचय ही नहीं, उसकी विभाषाओं तक का अच्छा ज्ञान हो जाता है। अतः ग्रीक भाषा का सुंदर इतिहास प्रस्तुत हो जाता है और वह भाषा-विज्ञान की सुंदर सामग्री उपस्थित करता है।

ग्रीक और संस्कृत

ग्रीक भाषा में संस्कृत की अपेक्षा स्वर-वर्ण अधिक हैं, ग्रीक में संध्यक्षरों का बाहुल्य है, इसी से विद्वानों का मत है कि भारोपीय भाषा के स्वरों का रूप ग्रीक में अच्छी तरह सुरक्षित है, पर संस्कृत की अतुल व्यंजन संपत्ति ग्रीक को नहीं मिल सकी। मूल भाषा के व्यंजनों की रक्षा संस्कृत ने ही अधिक की है। दोनों भाषाओं में एक घनिष्ठ समानता यह है कि

दोनों ही सस्वर भाषाएँ हैं, दोनों में स्वर (गीतात्मक स्वराघात) का प्रयोग होता था और पीछे से दोनों में बल-प्रयोग का प्राधान्य हुआ। रूप-संपत्ति के विषय में यद्यपि दोनों ही संहित भाषाएँ हैं, तथापि संस्कृत में संज्ञाओं और सर्वनामों के रूप अधिक हैं; काल-रचना की दृष्टि से भी संस्कृत अधिक संपन्न कही जा सकती है, पर ग्रीक में अव्यय, कृदंत, क्रियार्थक संज्ञाएँ आदि अधिक होती हैं। संस्कृत के परस्मैपद और आत्मनेपद के समान ग्रीक में भी एक्टिव (Active) और मिडिल (Middle) वाइस (Voice) होते हैं। दोनों में द्विवचन पाया जाता है, दोनों में निपातों की संख्या भी प्रचुर है और दोनों में समास रचना की अद्भुत शक्ति पाई जाती है।

ग्रीक भाषा के विकास की चार अवस्थाएँ स्पष्ट देख पड़ती हैं—होमरिक (प्राचीन), संस्कृत और साहित्यिक, मध्यकालीन और आधुनिक। मध्यकालीन ग्रीक भाषा के दो उपवर्ग होते हैं। एक उपवर्ग में डोरिक, एओलिक, साइपीरियन आदि विभाषाएँ आती हैं और दूसरे में आयोनिक और एटिक।

प्राचीन आयोनिक में होमर ने अपनी काव्य-रचना की थी। उसके पीछे आर्कीलोकस, मिमनर्मस आदि कवियों की भाषा मिलती है। इसे मध्यकालीन आयोनिक कहते हैं। आयोनिक का अंतिम रूप हेरोडोटस की भाषा में मिलता है। यह नवीन आयोनिक कहलाती है।

इससे भी अधिक महत्त्व की विभाषा है एटिक। साहित्यिक ग्रीक की कहानी वास्तव में इसी एटिक विभाषा की कहानी है। उसी विभाषा का विकसित और वर्तमान रूप आधुनिक ग्रीक है। क्लैसिकल (प्राचीन) और पोस्ट-क्लैसिकल (परवर्ती) ग्रीक (१) पेगन (Pagon) और (२) निओ-हैलेनिक (अर्वाचीन) तथा आधुनिक भाषा (३) क्रिश्चियन ग्रीक कही जा सकती हैं। प्राचीन साहित्यिक ग्रीक वह है जिसमें एस्काइलस, सोफोक्लीज, प्लेटो और अरिस्टाटिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे हैं। इसका काल ईसा के पूर्व ५००—३०० माना

जाता है। इसके पीछे सिकंदर की विजय ने एटिक को निश्चित रूप से राष्ट्रीय बना दिया और वह तभी से काइन डायलेक्टोस (common dialect) कही जाने लगी। इस प्रकार जब एटिक ग्रीस देश भर की लोक-व्यवहार की भाषा हो गई थी तब वह हेलेनिस्टिक ग्रीक कहलाने लगी थी। उसका विशेष वर्धन अलेक्जेंड्रिया में हुआ था। इसी भाषा में ईसाइयों की धर्म-पुस्तक न्यू टेस्टामेंट (नव विधान) लिखी गई थी, पर यह परवर्ती ग्रीक भी पेगन ही थी। वह धर्म-भाषा तो ईसा के ३०० वर्ष पीछे बनी। इसी धार्मिक और कृत्रिम ग्रीक का विकसित रूप निओ-हेलेनिक कहलाता है। इस पर लोक-भाषा की भी छाप स्पष्ट देख पड़ती है। यही भाषा मध्य युग में से होती हुई आज आधुनिक ग्रीक कहलाती है। १४५० ई० के पीछे की भाषा आधुनिक कही जाती है।

मध्ययुग में बोलचाल की भाषा का इतना प्राधान्य हो गया था कि उस समय की ग्रीक सामयिक बोली का ही साहित्यिक रूप थी, पर अब फिर ग्रीक में प्राचीन एटिक शब्दों के भरने की प्रवृत्ति जाग उठी है। तो भी आधुनिक ग्रीक और प्राचीन एटिक ग्रीक में बड़ा अंतर हो गया है। आज की ग्रीक में कई समानाक्षरों और संध्यक्षरों का लोप हो गया है। व्यंजनों के उच्चारण में भी कुछ परिवर्तन हो गया है। आधुनिक ग्रीक में न तो अक्षरों की मात्रा का विचार रहता है और न स्वर-प्रयोग ही होता है। इस बल-प्रयोग के प्राधान्य से कभी-कभी कर्णकटुता भी आ जाती है। इनके अतिरिक्त बहुत सी विभक्तियाँ भी अब लुप्त अथवा विकृत हो गई हैं और विभक्त्यर्थ अव्ययों का प्रयोग अधिक हो गया है। क्रियाओं में प्रायः सहायक क्रियाओं ने विभक्तियों का स्थान ले लिया है। शब्द-भांडार भी बढ़ गया है। अनेक नये शब्द गढ़ लिए गए हैं और बहुत से विदेशी शब्द अपना लिए गए हैं। यदि प्राचीन संस्कृत और वर्तमान हिंदी की तुलना की जाय तो ऐसी ही अनेक समान बातें मिलेंगी।

एशिया माइनर के बोगाजकुई में जो खुदाई और खोज हुई है उससे

एक हित्ताइट राज्य का पता लगा है। इसका काल ईसा से कोई चौदह पंद्रह शताब्दी पूर्व माना जाता है। उसी काल की भाषा हित्ताइट (अथवा हित्ती) कही जाती है। प्रो० साइस उसे सेमेटिक समझते हैं, पर प्रो० हाजनी उसे निश्चित रूप से भारोपीय परिवार की भाषा मानते हैं ।

हित्ताइट भाषा

हित्ताइट के समान ही यह भी केंटुमवर्ग की भाषा है और आधुनिक खोज का फल है। यह सेंट्रल एशिया के तुरफान की भाषा है। इसका अच्छा अध्ययन हुआ है और वह निश्चित रूप से भारोपीय मान ली गई है। उस पर यूराल-अल्ताई प्रभाव इतना अधिक पड़ा है कि अधिक विचार करने पर ही उसमें भारोपीय लक्षण देख पड़ते हैं । यद्यपि सर्वनाम और संख्यावाचक सर्वथा भारोपीय हैं तथापि उसमें संस्कृत की अपेक्षा व्यंजन कम हैं और संधि के नियम भी सरल हो गए हैं। संज्ञा के रूपों की रचना में विभक्ति की अपेक्षा प्रत्यय-संयोग ही अधिक मिलता है और क्रिया में कृदंतों का प्रचुर प्रयोग होता है । पर शब्द-भांडार बहुत कुछ संस्कृत से मिलता है।

तुखारी भाषा

यद्यपि इस भाषा का पता जर्मन विद्वानों ने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में लगाया है तथापि प्राचीन ग्रीक लोगों ने एक ताखारोइ जाति का और महाभारत ने भी एक तुखार जाति का वर्णन किया है।

एल्बेनियन भाषा का भाषा-वैज्ञानिकों ने अच्छा अध्ययन किया है और अब यह निश्चित हो गया है कि रूप और ध्वनि की विशेषताओं के कारण इसे एक भिन्न परिवार ही मानना चाहिए। पर कुछ शिलालेखों को छोड़कर इस भाषा में कोई प्राचीन साहित्य नहीं है। किसी समय की विशाल शाखा इलीरियन की अब यही एक छोटी शाखा बच गई है और उसका भी सत्रहवीं ईसवी से पूर्व का कोई साहित्य नहीं मिलता। वह आजकल बालकन प्रायद्वीप के पश्चिमोत्तर में बोली जाती है।

एल्बेनियन शाखा

लैटो-स्लाह्विक भी कोई बहुत प्राचीन शाखा नहीं है। इसके दो मुख्य वर्ग हैं—लैटिक और स्लाह्विक। लैटिक (या बाल्टिक) वर्ग में तीन भाषाएँ आती हैं जिनमें से एक (ओल्ड-प्रशियन) सत्रहवीं शताब्दी में ही नष्ट हो गई है।

लैटो-स्लाह्विक शाखा

शेष दो लिथुआनियन और लैटिक रूस के कुछ पश्चिमी प्रदेशों में आज भी बोली जाती हैं। इनमें से लिथुआनियन सबसे अधिक आर्ष है। इतनी अधिक आर्ष कोई भी जीवित भारोपीय भाषा नहीं पाई जाती। उसमें आज भी esti (सं० अस्ति), gyyas (सं जीवः) के समान आर्ष रूप मिलते हैं और उसकी एक विशेषता यह है कि इसमें वैदिक भाषा और प्राचीन ग्रीक में पाया जानेवाला स्वर अभी तक वर्तमान है।

स्लाह्विक अथवा स्लैह्वोनिक इससे अधिक विस्तृत भाषावर्ग है। उसमें रूस, पोलैंड, बुहेमिया, जुगोस्लाह्विया आदि की सभी भाषाएँ आ जाती हैं।

रूसी भाषाओं में 'बड़ी रूसी' साहित्यिक भाषा है। उसमें साहित्य तो ग्यारहवीं सदी के पीछे तक का मिलता है, पर वह टकसाली और साधारण-भाषा अठारहवीं शताब्दी से ही हो सकी है। श्वेत रूसी में पश्चिमी रूस की सब विभाषाएँ आ जाती हैं; और छोटी रूसी में दक्षिणी रूस की विभाषाएँ आ जाती हैं। चर्च स्लाह्विक का प्राचीनतम रूप नवीं शताब्दी के ईसाई साहित्य में मिलता है; उसकी रचना ग्रीक और संस्कृत से बहुत मिलती है। इसका वर्तमान रूप बल्गेरिया में बोला जाता है। पर रचना में वर्तमान बल्गेरियन सर्वथा व्यवहित हो गई है और उसमें तुर्की, ग्रीक, रूमानी, अल्बेनियन आदि भाषाओं के अधिक शब्द स्थान पा गए हैं। सर्वोक्रोत्सियन और स्लोह्वेनियन जुगोस्लाह्विया में बोली जाती हैं। इनका दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी तक का साहित्य भी पाया जाता है। जेक और स्लोव्हाकिया जेकोस्लोव्हाकिया के नये राज्य में बोली जाती हैं; स्लोव्हाकियन जेक की ही विभाषा है। सोरेवियन (वेंडी) प्रशिया के एकाध लाख लोग बोलते हैं

और अब धीरे धीरे वह लुप्त होती जा रही है। पोलाबिश अब बिलकुल नष्ट हो गई पर पोलिश एक सुंदर-साहित्य-संपन्न भाषा है।

आर्मेनियन शाखा

आर्मेनियन भाषा में प्राचीन साहित्य होने के चिह्न मिलते हैं। इसके प्रामाणिक लेख ग्यारहवीं शताब्दी से पाए जाते हैं। इस समय की प्राचीन आर्मेनियन आज भी कुछ ईसाइयों में व्यवहृत होती है। अर्वाचीन आर्मेनियन की दो विभाषाएँ पाई जाती हैं जिनमें से एक एशिया में और दूसरी यूरोप में अर्थात् कुस्तुनतुनिया तथा ब्लैक सी (काला सागर) के किनारे किनारे बोली जाती है। फ्रीजियन भी इसी आर्मेनियन शाखा से संबद्ध मानी जाती है। फ्रीजियन के अतिरिक्त लिसियन और थेसियन आदि कई अन्य भारोपीय भाषाओं के भी अवशेष मिलते हैं जो प्राचीन काल में बाल्टो-स्लाव्हिक शाखा से आर्मेनियन का संबंध जोड़नेवाली थीं। आर्मेनियन स्वयं स्लाव्हिक और भारत-ईरानी (आर्य) परिवार के बीच की एक कड़ी मानी जा सकती है। उसके व्यंजन संस्कृत से अधिक मिलते हैं और स्वर ग्रीक से। उसमें संस्कृत की नाईं ऊष्म वर्णों का प्रयोग होता है अर्थात् वह शतम्-वर्ग की भाषा है।

आर्य अर्थात् भारत-ईरानी शाखा

भारोपीय परिवार में आर्य शाखा, साहित्य और भाषा दोनों के विचार से, सबसे प्राचीन और आर्ष है। कदाचित् संसार के इतिहास में भी इससे प्राचीन कोई भाषा-परिवार जीवित अथवा सुरक्षित नहीं है। इसी शाखा के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान को सच्चा मार्ग दिखाया था और इसी के अध्ययन से भारोपीय भाषा के मूल रूप की कल्पना बहुत कुछ संभव हुई है। इसमें दो उप-परिवार माने जाते हैं—ईरानी और भारतीय। इन दोनों में आपस में बड़ा साम्य है और कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ हैं जिनसे वे इसके अन्य उप-परिवारों से भिन्न माने जाते हैं। मुख्य विशेताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भारोपीय मूल भाषा के अ, ए और ओ के ह्रस्व और दीर्घ

लैटो-स्लाह्विक भी कोई बहुत प्राचीन शाखा नहीं है। इसके दो मुख्य वर्ग हैं—लैटिक और स्लाह्विक। लैटिक (या बाल्टिक) वर्ग में तीन भाषाएँ आती हैं जिनमें से एक (ओल्ड-प्रशियन) सत्रहवीं शताब्दी में ही नष्ट हो गई है।

लैटो-स्लाह्विक शाखा

शेष दो लिथुआनियन और लैटिक रूस के कुछ पश्चिमी प्रदेशों में आज भी बोली जाती हैं। इनमें से लिथुआनियन सबसे अधिक आर्ष है। इतनी अधिक आर्ष कोई भी जीवित भारोपीय भाषा नहीं पाई जाती। उसमें आज भी esti (सं० अस्ति), gyyas (सं जीवः) के समान आर्ष रूप मिलते हैं और उसकी एक विशेषता यह है कि इसमें वैदिक भाषा और प्राचीन ग्रीक में पाया जानेवाला स्वर अभी तक वर्तमान है।

स्लाह्विक अथवा स्लैह्वोनिक इससे अधिक विस्तृत भाषावर्ग है। उसमें रूस, पोलैंड, बुहेमिया, जुगोस्लाह्विया आदि की सभी भाषाएँ आ जाती हैं।

रूसी भाषाओं में 'बड़ी रूसी' साहित्यिक भाषा है। उसमें साहित्य तो ग्यारहवीं सदी के पीछे तक का मिलता है, पर वह टकसाली और साधारण-भाषा अठारहवीं शताब्दी से ही हो सकी है। श्वेत रूसी में पश्चिमी रूस की सब विभाषाएँ आ जाती हैं; और छोटी रूसी में दक्षिणी रूस की विभाषाएँ आ जाती हैं। चर्च स्लाह्विक का प्राचीनतम रूप नवीं शताब्दी के ईसाई साहित्य में मिलता है; उसकी रचना ग्रीक और संस्कृत से बहुत मिलती है। इसका वर्तमान रूप बल्गेरिया में बोला जाता है। पर रचना में वर्तमान बल्गेरियन सर्वथा व्यवहित हो गई है और उसमें तुर्की, ग्रीक, रूमानी, अल्बेनियन आदि भाषाओं के अधिक शब्द स्थान पा गए हैं। सर्वोक्रोत्सियन और स्लोह्वेनियन जुगोस्लाह्विया में बोली जाती हैं। इनका दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी तक का साहित्य भी पाया जाता है। जेक और स्लोव्हाकिया जेकोस्लोव्हाकिया के नये राज्य में बोली जाती हैं; स्लोव्हाकियन जेक की ही विभाषा है। सोरेबियन (वेंडी) प्रशिया के एकाध लाख लोग बोलते हैं

और अब धीरे धीरे वह लुप्त होती जा रही है। पोलाबिश अब बिलकुल नष्ट हो गई पर पोलिश एक सुंदर-साहित्य-संपन्न भाषा है।

आर्मेनियन शाखा

आर्मेनियन भाषा में प्राचीन साहित्य होने के चिह्न मिलते हैं। इसके प्रामाणिक लेख ग्यारहवीं शताब्दी से पाए जाते हैं। इस समय की प्राचीन आर्मेनियन आज भी कुछ ईसाइयों में व्यवहृत होती है। अर्वाचीन आर्मेनियन की दो विभाषाएँ पाई जाती हैं जिनमें से एक एशिया में और दूसरी यूरोप में अर्थात् कुस्तुनतुनिया तथा ब्लैक सी (काला सागर) के किनारे किनारे बोली जाती है। फ्रीजियन भी इसी आर्मेनियन शाखा से संबद्ध मानी जाती है। फ्रीजियन के अतिरिक्त लिसियन और थेसियन आदि कई अन्य भारोपीय भाषाओं के भी अवशेष मिलते हैं जो प्राचीन काल में बाल्टो-स्लाविक शाखा से आर्मेनियन का संबंध जोड़नेवाली थीं। आर्मेनियन स्वयं स्लाविक और भारत-ईरानी (आर्य) परिवार के बीच की एक कड़ी मानी जा सकती है। उसके व्यंजन संस्कृत से अधिक मिलते हैं और स्वर ग्रीक से। उसमें संस्कृत की नाईं ऊष्म वर्णों का प्रयोग होता है अर्थात् वह शतम्-वर्ग की भाषा है।

आर्य अर्थात् भारत-ईरानी शाखा

भारोपीय परिवार में आर्य शाखा, साहित्य और भाषा दोनों के विचार से, सबसे प्राचीन और आर्ष है। कदाचित् संसार के इतिहास में भी इससे प्राचीन कोई भाषा-परिवार जीवित अथवा सुरक्षित नहीं है। इसी शाखा के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान को सच्चा मार्ग दिखाया था और इसी के अध्ययन से भारोपीय भाषा के मूल रूप की कल्पना बहुत कुछ संभव हुई है। इसमें दो उप-परिवार माने जाते हैं—ईरानी और भारतीय। इन दोनों में आपस में बड़ा साम्य है और कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ हैं जिनसे वे इसके अन्य उप-परिवारों से भिन्न माने जाते हैं। मुख्य विशेताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भारोपीय मूल भाषा के अ, ए और ओ के ह्रस्व और दीर्घ

लैटो-स्लाह्विक शाखा

लैटो-स्लाह्विक भी कोई बहुत प्राचीन शाखा नहीं है। इसके दो मुख्य वर्ग हैं—लैटिक और स्लाह्विक। लैटिक (या बाल्टिक) वर्ग में तीन भाषाएँ आती हैं जिनमें से एक (ओल्ड-प्रशियन) सत्रहवीं शताब्दी में ही नष्ट हो गई है। शेष दो लिथुआनियन और लैटिक रूस के कुछ पश्चिमी प्रदेशों में आज भी बोली जाती हैं। इनमें से लिथुआनियन सबसे अधिक आर्ष है। इतनी अधिक आर्ष कोई भी जीवित भारोपीय भाषा नहीं पाई जाती। उसमें आज भी esti (सं० अस्ति), gyyas (सं जीवः) के समान आर्ष रूप मिलते हैं और उसकी एक विशेषता यह है कि इसमें वैदिक भाषा और प्राचीन ग्रीक में पाया जानेवाला स्वर अभी तक वर्तमान है।

स्लाह्विक अथवा स्लैह्वोनिक इससे अधिक विस्तृत भाषावर्ग है। उसमें रूस, पोलैंड, बुहेमिया, जुगोस्लाह्विया आदि की सभी भाषाएँ आ जाती हैं।

रूसी भाषाओं में 'बड़ी रूसी' साहित्यिक भाषा है। उसमें साहित्य तो ग्यारहवीं सदी के पीछे तक का मिलता है, पर वह टकसाली और साधारण-भाषा अठारहवीं शताब्दी से ही हो सकी है। श्वेत रूसी में पश्चिमी रूस की सब विभाषाएँ आ जाती हैं; और छोटी रूसी में दक्षिणी रूस की विभाषाएँ आ जाती हैं। चर्च स्लाह्विक का प्राचीनतम रूप नवीं शताब्दी के ईसाई साहित्य में मिलता है; उसकी रचना ग्रीक और संस्कृत से बहुत मिलती है। इसका वर्तमान रूप बल्गेरिया में बोला जाता है। पर रचना में वर्तमान बल्गेरियन सर्वथा व्यवहित हो गई है और उसमें तुर्की, ग्रीक, रूमानी, अल्बेनियन आदि भाषाओं के अधिक शब्द स्थान पा गए हैं। सर्वोक्रोत्सियन और स्लोह्वेनियन जुगोस्लाह्विया में बोली जाती हैं। इनका दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी तक का साहित्य भी पाया जाता है। जेक और स्लोव्हाकिया जेकोस्लोव्हाकिया के नये राज्य में बोली जाती हैं; स्लोव्हाकियन जेक की ही विभाषा है। सोरेबियन (वेंडी) प्रशिया के एकाध लाख लोग बोलते हैं

और अब धीरे धीरे वह लुप्त होती जा रही है। पोलाविश अब बिलकुल नष्ट हो गई पर पोलिश एक सुंदर-साहित्य-संपन्न भाषा है।

आर्मेनियन शाखा

आर्मेनियन भाषा में प्राचीन साहित्य होने के चिह्न मिलते हैं। इसके प्रामाणिक लेख ग्यारहवीं शताब्दी से पाए जाते हैं। इस समय की प्राचीन आर्मेनियन आज भी कुछ ईसाइयों में व्यवहृत होती है। अर्वाचीन आर्मेनियन की दो विभाषाएँ पाई जाती हैं जिनमें से एक एशिया में और दूसरी यूरोप में अर्थात् कुस्तुनतुनिया तथा ब्लैक सी (काला सागर) के किनारे किनारे बोली जाती है। फ्रीजियन भी इसी आर्मेनियन शाखा से संबद्ध मानी जाती है। फ्रीजियन के अतिरिक्त लिसियन और थेसियन आदि कई अन्य भारोपीय भाषाओं के भी अवशेष मिलते हैं जो प्राचीन काल में बाल्टो-स्लाह्विक शाखा से आर्मेनियन का संबंध जोड़ने-वाली थीं। आर्मेनियन स्वयं स्लाह्विक और भारत-ईरानी (आर्य) परिवार के बीच की एक कड़ी मानी जा सकती है। उसके व्यंजन संस्कृत से अधिक मिलते हैं और स्वर ग्रीक से। उसमें संस्कृत की नाईं ऊष्म वर्णों का प्रयोग होता है अर्थात् वह शतम्-वर्ग की भाषा है।

आर्य अर्थात् भारत-ईरानी शाखा

भारोपीय परिवार में आर्य शाखा, साहित्य और भाषा दोनों के विचार से, सबसे प्राचीन और आर्ष है। कदाचित् संसार के इतिहास में भी इससे प्राचीन कोई भाषा-परिवार जीवित अथवा सुरक्षित नहीं है। इसी शाखा के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान को सच्चा मार्ग दिखाया था और इसी के अध्ययन से भारोपीय भाषा के मूल रूप की कल्पना बहुत कुछ संभव हुई है। इसमें दो उप-परिवार माने जाते हैं—ईरानी और भारतीय। इन दोनों में आपस में बड़ा साम्य है और कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ हैं जिनसे वे इसके अन्य उप-परिवारों से भिन्न माने जाते हैं। मुख्य विशेताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भारोपीय मूल भाषा के अ, ए और ओ के ह्रस्व और दीर्घ

लैटो-स्लाह्विक भी कोई बहुत प्राचीन शाखा नहीं है। इसके दो मुख्य वर्ग हैं--लैटिक और स्लाह्विक। लैटिक (या बाल्टिक) वर्ग में तीन भाषाएँ आती हैं जिनमें से एक (ओल्ड-प्रशियन) सत्रहवीं शताब्दी में ही नष्ट हो गई है। शेष दो लिथुआनियन और लैटिक रूस के कुछ पश्चिमी प्रदेशों में आज भी बोली जाती हैं। इनमें से लिथुआनियन सबसे अधिक आर्ष है। इतनी अधिक आर्ष कोई भी जीवित भारोपीय भाषा नहीं पाई जाती। उसमें आज भी esti (सं० अस्ति), gyyas (सं जीवः) के समान आर्ष रूप मिलते हैं और उसकी एक विशेषता यह है कि इसमें वैदिक भाषा और प्राचीन ग्रीक में पाया जानेवाला स्वर अभी तक वर्तमान है।

लैटो-स्लाह्विक शाखा

स्लाह्विक अथवा स्लैह्वोनिक इससे अधिक विस्तृत भाषावर्ग है। उसमें रूस, पोलैंड, बुहेमिया, जुगोस्लाह्विया आदि की सभी भाषाएँ आ जाती हैं।

रूसी भाषाओं में 'बड़ी रूसी' साहित्यिक भाषा है। उसमें साहित्य तो ग्यारहवीं सदी के पीछे तक का मिलता है, पर वह टकसाली और साधारण-भाषा अठारहवीं शताब्दी से ही हो सकी है। श्वेत रूसी में पश्चिमी रूस की सब विभाषाएँ आ जाती हैं; और छोटी रूसी में दक्षिणी रूस की विभाषाएँ आ जाती हैं। चर्च स्लाह्विक का प्राचीनतम रूप नवीं शताब्दी के ईसाई साहित्य में मिलता है; उसकी रचना ग्रीक और संस्कृत से बहुत मिलती है। इसका वर्तमान रूप बल्गेरिया में बोला जाता है। पर रचना में वर्तमान बल्गेरियन सर्वथा व्यवहित हो गई है और उसमें तुर्की, ग्रीक, रूमानी, अल्बेनियन आदि भाषाओं के अधिक शब्द स्थान पा गए हैं। सर्वोक्रोत्सियन और स्लोह्वेनियन जुगोस्लाह्विया में बोली जाती हैं। इनका दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी तक का साहित्य भी पाया जाता है। जेक और स्लोव्हाकिया जेकोस्लोव्हाकिया के नये राज्य में बोली जाती हैं; स्लोव्हाकियन जेक की ही विभाषा है। सोरेबियन (वेंडी) प्रशिया के एकाध लाख लोग बोलते हैं

और अब धीरे धीरे वह लुप्त होती जा रही है। पोलाविश अब बिलकुल नष्ट हो गई पर पोलिश एक सुंदर-साहित्य-संपन्न भाषा है।

आर्मेनियन शाखा

आर्मेनियन भाषा में प्राचीन साहित्य होने के चिह्न मिलते हैं। इसके प्रामाणिक लेख ग्यारहवीं शताब्दी से पाए जाते हैं। इस समय की प्राचीन आर्मेनियन आज भी कुछ ईसाइयों में व्यवहृत होती है। अर्वाचीन आर्मेनियन की दो विभाषाएँ पाई जाती हैं जिनमें से एक एशिया में और दूसरी यूरोप में अर्थात् कुस्तुनतुनिया तथा ब्लैक सी (काला सागर) के किनारे किनारे बोली जाती है। फ्रीजियन भी इसी आर्मेनियन शाखा से संबद्ध मानी जाती है। फ्रीजियन के अतिरिक्त लिसियन और थेसियन आदि कई अन्य भारोपीय भाषाओं के भी अवशेष मिलते हैं जो प्राचीन काल में बाल्टो-स्लाव्हिक शाखा से आर्मेनियन का संबंध जोड़नेवाली थीं। आर्मेनियन स्वयं स्लाव्हिक और भारत-ईरानी (आर्य) परिवार के बीच की एक कड़ी मानी जा सकती है। उसके व्यंजन संस्कृत से अधिक मिलते हैं और स्वर ग्रीक से। उसमें संस्कृत की नाईं ऊष्म वर्णों का प्रयोग होता है अर्थात् वह शतम्-वर्ग की भाषा है।

आर्य अर्थात् भारत-ईरानी शाखा

भारोपीय परिवार में आर्य शाखा, साहित्य और भाषा दोनों के विचार से, सबसे प्राचीन और आर्ष है। कदाचित् संसार के इतिहास में भी इससे प्राचीन कोई भाषा-परिवार जीवित अथवा सुरक्षित नहीं है। इसी शाखा के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान को सच्चा मार्ग दिखाया था और इसी के अध्ययन से भारोपीय भाषा के मूल रूप की कल्पना बहुत कुछ संभव हुई है। इसमें दो उप-परिवार माने जाते हैं—ईरानी और भारतीय। इन दोनों में आपस में बड़ा साम्य है और कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ है जिनसे वे इसके अन्य उप-परिवारों से भिन्न माने जाते है। मुख्य विशेताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भारोपीय मूल भाषा के अ, ए और ओ के ह्रस्व और दीर्घ

लैटो-स्लाह्विक भी कोई बहुत प्राचीन शाखा नहीं है। इसके दो मुख्य वर्ग हैं--लैटिक और स्लाह्विक। लैटिक (या बाल्टिक) वर्ग में

लैटो-स्लाह्विक शाखा

तीन भाषाएँ आती हैं जिनमें से एक (ओल्ड-प्रशियन) सत्रहवीं शताब्दी में ही नष्ट हो गई है। शेष दो लिथुआनियन और लैटिक रूस के कुछ पश्चिमी प्रदेशों में आज भी बोली जाती हैं। इनमें से लिथुआनियन सबसे अधिक आर्ष है। इतनी अधिक आर्ष कोई भी जीवित भारोपीय भाषा नहीं पाई जाती। उसमें आज भी esti (सं० अस्ति), gyyas (सं जीवः) के समान आर्ष रूप मिलते हैं और उसकी एक विशेषता यह है कि इसमें वैदिक भाषा और प्राचीन ग्रीक में पाया जानेवाला स्वर अभी तक वर्तमान है।

स्लाह्विक अथवा स्लैह्वोनिक इससे अधिक विस्तृत भाषावर्ग है। उसमें रूस, पोलैंड, बुहेमिया, जुगोस्लाह्विया आदि की सभी भाषाएँ आ जाती हैं।

रूसी भाषाओं में 'बड़ी रूसी' साहित्यिक भाषा है। उसमें साहित्य तो ग्यारहवीं सदी के पीछे तक का मिलता है, पर वह टकसाली और साधारण-भाषा अठारहवीं शताब्दी से ही हो सकी है। श्वेत रूसी में पश्चिमी रूस की सब विभाषाएँ आ जाती हैं; और छोटी रूसी में दक्षिणी रूस की विभाषाएँ आ जाती हैं। चर्च स्लाह्विक का प्राचीनतम रूप नवीं शताब्दी के ईसाई साहित्य में मिलता है; उसकी रचना ग्रीक और संस्कृत से बहुत मिलती है। इसका वर्तमान रूप बल्गेरिया में बोला जाता है। पर रचना में वर्तमान बल्गेरियन सर्वथा व्यवहित हो गई है और उसमें तुर्की, ग्रीक, रूमानी, अल्बेनियन आदि भाषाओं के अधिक शब्द स्थान पा गए हैं। सर्वोक्रोत्सियन और स्लोह्वेनियन जुगोस्लाह्विया में बोली जाती हैं। इनका दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी तक का साहित्य भी पाया जाता है। जेक और स्लोव्हाकिया जेकोस्लोव्हाकिया के नये राज्य में बोली जाती हैं; स्लोव्हाकियन जेक की ही विभाषा है। सोरेवियन (वेंडी) प्रशिया के एकाध लाख लोग बोलते हैं

और अब धीरे धीरे वह लुप्त होती जा रही है। पोलाविश अब बिलकुल नष्ट हो गई पर पोलिश एक सुंदर-साहित्य-संपन्न भाषा है।

आर्मेनियन शाखा

आर्मेनियन भाषा में प्राचीन साहित्य होने के चिह्न मिलते हैं। इसके प्रामाणिक लेख ग्यारहवीं शताब्दी से पाए जाते हैं। इस समय की प्राचीन आर्मेनियन आज भी कुछ ईसाइयों में व्यवहृत होती है। अर्वाचीन आर्मेनियन की दो विभाषाएँ पाई जाती हैं जिनमें से एक एशिया में और दूसरी यूरोप में अर्थात् कुस्तुनतुनिया तथा ब्लैक सी (काला सागर) के किनारे किनारे बोली जाती है। फ्रीजियन भी इसी आर्मेनियन शाखा से संबद्ध मानी जाती है। फ्रीजियन के अतिरिक्त लिसियन और थेसियन आदि कई अन्य भारोपीय भाषाओं के भी अवशेष मिलते हैं जो प्राचीन काल में बाल्टो-स्लाव्हिक शाखा से आर्मेनियन का संबंध जोड़नेवाली थीं। आर्मेनियन स्वयं स्लाव्हिक और भारत-ईरानी (आर्य) परिवार के बीच की एक कड़ी मानी जा सकती है। उसके व्यंजन संस्कृत से अधिक मिलते हैं और स्वर ग्रीक से। उसमें संस्कृत की नाईं ऊष्म वर्णों का प्रयोग होता है अर्थात् वह शतम्-वर्ग की भाषा है।

आर्य अर्थात् भारत-ईरानी शाखा

भारोपीय परिवार में आर्य शाखा, साहित्य और भाषा दोनों के विचार से, सबसे प्राचीन और आर्ष है। कदाचित् संसार के इतिहास में भी इससे प्राचीन कोई भाषा-परिवार जीवित अथवा सुरक्षित नहीं है। इसी शाखा के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान को सच्चा मार्ग दिखाया था और इसी के अध्ययन से भारोपीय भाषा के मूल रूप की कल्पना बहुत कुछ संभव हुई है। इसमें दो उप-परिवार माने जाते हैं—ईरानी और भारतीय। इन दोनों में आपस में बड़ा साम्य है और कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ हैं जिनसे वे इसके अन्य उप-परिवारों से भिन्न माने जाते हैं। मुख्य विशेताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भारोपीय मूल भाषा के अ, ए और ओ के ह्रस्व और दीर्घ

लैटो-स्लाह्विक भी कोई बहुत प्राचीन शाखा नहीं है। इसके दो मुख्य वर्ग हैं--लैटिक और स्लाह्विक। लैटिक (या बाल्टिक) वर्ग में

लैटो-स्लाह्विक शाखा

तीन भाषाएँ आती हैं जिनमें से एक (ओल्ड-प्रशियन) सत्रहवीं शताब्दी में ही नष्ट हो गई है। शेष दो लिथुआनियन और लैटिक रूस के कुछ पश्चिमी प्रदेशों में आज भी बोली जाती हैं। इनमें से लिथुआनियन सबसे अधिक आर्ष है। इतनी अधिक आर्ष कोई भी जीवित भारोपीय भाषा नहीं पाई जाती। उसमें आज भी esti (सं० अस्ति), gyyas (सं जीवः) के समान आर्ष रूप मिलते हैं और उसकी एक विशेषता यह है कि इसमें वैदिक भाषा और प्राचीन ग्रीक में पाया जानेवाला स्वर अभी तक वर्तमान है।

स्लाह्विक अथवा स्लैह्वोनिक इससे अधिक विस्तृत भाषावर्ग है। उसमें रूस, पोलैंड, बुहेमिया, जुगोस्लाह्विया आदि की सभी भाषाएँ आ जाती हैं।

रूसी भाषाओं में 'बड़ी रूसी' साहित्यिक भाषा है। उसमें साहित्य तो ग्यारहवीं सदी के पीछे तक का मिलता है, पर वह टकसाली और साधारण-भाषा अठारहवीं शताब्दी से ही हो सकी है। श्वेत रूसी में पश्चिमी रूस की सब विभाषाएँ आ जाती हैं; और छोटी रूसी में दक्षिणी रूस की विभाषाएँ आ जाती हैं। चर्च स्लाह्विक का प्राचीनतम रूप नवीं शताब्दी के ईसाई साहित्य में मिलता है; उसकी रचना ग्रीक और संस्कृत से बहुत मिलती है। इसका वर्तमान रूप बल्गेरिया में बोला जाता है। पर रचना में वर्तमान बल्गेरियन सर्वथा व्यवहित हो गई है और उसमें तुर्की, ग्रीक, रूमानी, अल्बेनियन आदि भाषाओं के अधिक शब्द स्थान पा गए हैं। सर्वोक्रोत्सियन और स्लोह्वेनियन जुगोस्लाह्विया में बोली जाती हैं। इनका दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी तक का साहित्य भी पाया जाता है। जेक और स्लोव्हाकिया जेकोस्लोव्हाकिया के नये राज्य में बोली जाती हैं; स्लोव्हाकियन जेक की ही विभाषा है। सोरेवियन (वेंडी) प्रशिया के एकाध लाख लोग बोलते हैं

और अब धीरे धीरे वह लुप्त होती जा रही है। पोलाबिश अब बिलकुल नष्ट हो गई पर पोलिश एक सुंदर-साहित्य-संपन्न भाषा है।

आर्मेनियन शाखा

आर्मेनियन भाषा में प्राचीन साहित्य होने के चिह्न मिलते हैं। इसके प्रामाणिक लेख ग्यारहवीं शताब्दी से पाए जाते हैं। इस समय की प्राचीन आर्मेनियन आज भी कुछ ईसाइयों में व्यवहृत होती है। अर्वाचीन आर्मेनियन की दो विभाषाएँ पाई जाती हैं जिनमें से एक एशिया में और दूसरी यूरोप में अर्थात् कुस्तुनतुनिया तथा ब्लैक सी (काला सागर) के किनारे किनारे बोली जाती है। फ्रीजियन भी इसी आर्मेनियन शाखा से संबद्ध मानी जाती है। फ्रीजियन के अतिरिक्त लिसियन और थेसियन आदि कई अन्य भारोपीय भाषाओं के भी अवशेष मिलते हैं जो प्राचीन काल में बाल्टो-स्लाविक शाखा से आर्मेनियन का संबंध जोड़नेवाली थीं। आर्मेनियन स्वयं स्लाविक और भारत-ईरानी (आर्य) परिवार के बीच की एक कड़ी मानी जा सकती है। उसके व्यंजन संस्कृत से अधिक मिलते हैं और स्वर ग्रीक से। उसमें संस्कृत की नाईं ऊष्म वर्णों का प्रयोग होता है अर्थात् वह शतम्-वर्ग की भाषा है।

आर्य अर्थात् भारत-ईरानी शाखा

भारोपीय परिवार में आर्य शाखा, साहित्य और भाषा दोनों के विचार से, सबसे प्राचीन और आर्ष है। कदाचित् संसार के इतिहास में भी इससे प्राचीन कोई भाषा-परिवार जीवित अथवा सुरक्षित नहीं है। इसी शाखा के अध्ययन ने भाषा-विज्ञान को सच्चा मार्ग दिखाया था और इसी के अध्ययन से भारोपीय भाषा के मूल रूप की कल्पना बहुत कुछ संभव हुई है। इसमें दो उप-परिवार माने जाते हैं—ईरानी और भारतीय। इन दोनों में आपस में बड़ा साम्य है और कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ हैं जिनसे वे इसके अन्य उप-परिवारों से भिन्न माने जाते हैं। मुख्य विशेताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भारोपीय मूल भाषा के अ, ए और ओ के ह्रस्व और दीर्घ

सभी रूपों के स्थान में, आर्य भाषाओं में आकर, केवल 'अ' अथवा 'आ' रह गया है।

(२) भारोपीय ə अर्थात् अर्धमात्रिक 'अ' के स्थान में आर्य भाषाओं में i (इ) हो जाता है।

इसी प्रकार वैदिक ईर्मः (भुजा), सं० दीर्घः (लंबा) आदि का ईकार भी भा० ə वर्ण का प्रतिनिधि है।

(३) र् और ल् (और उन्हीं के समान स्वर ऋ और ऌ) का आर्य भाषाओं में आकर अभेद हो गया है। रलयोरभेदः।

(४) भारोपीय S आर्य भाषाओं में इ, उ, य्, व् स् और क् वर्णों के पीछे आने पर 'श्' हो जाता है और संस्कृत में उश श् का स्थान 'ष्' ले लेता है।

(५) इस प्रकार की ध्वनि-संबंधी विशेषताओं के अतिरिक्त ईरानी और भारतीय भाषाओं में कुछ व्याकरणिक विशेषताएँ भी ऐसी हैं जो अन्य वर्ग की भाषाओं में नहीं पाई जातीं; जैसे षष्ठी बहुवचन में नाम् विभक्ति अथवा लोट् लकार के एकवचन की 'तु' विभक्ति।

इस प्रकार आर्य शाखा के दो प्रधान भेद हैं—ईरानी और भारतीय। ईरान के एक पश्चिमी प्रांत का नाम फारस (पारसीक देश) है। अतः ईरानी में फारसी के अतिरिक्त प्रागैतिहासिक जेंद भाषा और अन्य आधुनिक प्रांतीय विभाषाएँ तथा बोलियाँ भी अंतर्भूत हैं। यद्यपि इन सब ईरानी भाषाओं का शृंखलाबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं है तो भी उनके मुख्य भेदों का विवेचन किया जा सकता है। उसका सबसे प्राचीन रूप पारसियों के धर्मग्रंथ अवेस्ता की भाषा में मिलता है। ईरानी का दूसरा प्राचीन रूप प्राचीन फारसी कहलाता है; प्राचीनता में ईरान के पश्चिम की यह फारसी भाषा अवेस्ता के ही समकक्ष रखी जा सकती है। इसी प्राचीन फारसी का आगे वंश भी चलता और मध्य युग में उसी की संतान मध्य-फारसी का राज्य था और फिर लगभग ९०० ईसवी पीछे उसी का तीसरा विकसित रूप काम में

आर्य शाखा के भेद तथा उपभेद

आने लगा। इसे हम आधुनिक फारसी कहते हैं। मुसलमान-काल में फारस और भारत दोनों स्थानों में उसे राजपद मिल चुका है और आज भी वह एक साहित्य-संपन्न उच्च भाषा मानी जाती है। आजकल ईरान में प्रधान फारसी के अतिरिक्त कई प्रांतीय बोलियाँ प्रचलित हैं; उनके अतिरिक्त ओसेटिक कुर्दी, गालचा, बलूची, पश्तो आदि अन्य आधुनिक विभाषाएँ ईरानी भाषा-वर्ग में मानी जाती हैं।

इस आर्य उप-परिवार की दूसरी गोष्ठी भारतीय-आर्य-भाषा-गोष्ठी कही जाती है। इसमें वैदिक से लेकर आजकल की उत्तरापथ की सभी देशभाषाएँ आ जाती हैं। इसी में भारोपीय परिवार का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद पाया जाता है। उस समय की विभाषाओं का भी इस विशाल ग्रंथ से कुछ पता लगता है। इसमें छंदस् अथवा काव्य की भाषा की समकालीन प्राकृतों का कोई इतिहास अथवा साहित्य तो नहीं उपलब्ध है तो भी अर्थापत्ति से विद्वानों ने उन प्राथमिक प्राकृतों की कल्पना कर ली है। उसी काल की एक विभाषा का विकसित राष्ट्रीय और साहित्यिक रूप पाणिनि की भाषा में मिलता है। इसी अमर भारती में हिंदुओं का विशाल वाङ्मय प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन प्राकृतों का साहित्य भी छोटा नहीं है। पाली, प्राकृत (महाराष्ट्री, शौरसेनी, अर्धमागधी, पैशाची), गाथा और अपभ्रंश सभी मध्य-प्राकृत (या मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ) कही जाती हैं और तृतीय प्राकृतों अथवा आधुनिक प्राकृतों में अपभ्रंश के अर्वाचीन रूप अवहट्ट और देश भाषाएँ आती हैं।

ईरानी और भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त एक ऐसा भाषा-वर्ग भी है जो काश्मीर के सीमांत से भारत के पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त तक बोला जाता है। उसे दार्दीय भाषा-वर्ग कहते हैं, ग्रियर्सन तथा अन्य अनेक विद्वान् इसे दोनों वर्गों की संधि मानते हैं। ये दरद भाषाएँ निश्चय ही मिश्र और संधिज हैं, क्योंकि इनमें भारतीय और ईरानी दोनों के लक्षण मिलते हैं। इन्हें ही स्यात् भारत के प्राचीन वैयाकरणों ने 'पैशाच' नाम दिया था। इस भारत-ईरान-मध्यवर्ती भाषा-वर्ग में

(काफिरिस्तान की बोली) वशगली, खोवार (या चित्राली), शीना और पश्चिमी काश्मीरी मुख्य बोलियाँ हैं। इन्हें कुछ लोग काफिर भाषा भी कहते हैं।

प्राचीन काल से लेकर आज तक ईरानी भाषाओं का भारत से बड़ा संबंध रहा है। मुसलमान काल में तो उन्हीं में से एक भारत की राजभाषा हो गई थी। भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं में फारसी संसर्ग के अनेक चिह्न भी मिलते हैं।

ईरानी देश के दो भाग किये जाते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी भाग की सबसे प्राचीन भाषा अवेस्ता कहलाती है। संस्कृत अभ्यस् (अभि + अस्) धातु से मिलती-जुलती धातु से यह शब्द बना है और 'वेद' के समान उसका शास्त्र अथवा 'ग्रंथ' अर्थ होता था, पर अब यह पारसी शास्त्रों की भाषा के लिये प्रयुक्त होता है। जेंद (या जिंद) उसी मूल अवेस्ता की टीका का नाम था जो टीकाएँ पहलवी में लिखी गई हैं। इससे अवेस्ता को जेंद भाषा भी कहते हैं। जो अवेस्ता का साहित्य उपलब्ध है उसमें कई कालों की भाषाएँ हैं। उनमें से सबसे प्राचीन 'गाथा' कहलाती है। उसी में जरथुस्त्र के वचनों का संग्रह है। गाथा की भाषा भारोपीय भाषाओं में वैदिक को छोड़कर सबसे प्राचीन है। परवर्ती अवेस्ता (या यंगर अवेस्ता) इतनी अधिक प्राचीन नहीं है; उसमें लिखे व्हेंदीदाद के कुछ भाग ईसा के समकालीन माने जाते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि वर्तमान अफगानी उसी प्राचीन अवेस्ता के वंशज हैं।

पूर्वी ईरानी की एक और प्राचीन भाषा सोग्दी अथवा सोग्दियन है। यह परवर्ती अवेस्ता से भी अर्वाचीन मानी जाती है। इसकी अभी इसी शताब्दी में खोज हुई है। विद्वानों की कल्पना है कि आधुनिक पामीरी-भाषाएँ इसी सोग्दी से निकली हैं।

बलूची भाषा की उत्पत्ति का अनुमान अभी नहीं किया जा सका है पर ग्रे ने लिखा है कि आधुनिक ईरानी भाषाओं में यह सबसे अधिक असंस्कृत और अविकसित है।

पश्चिमी ईरानी की एक भाषा मीडियन है। नाम के अतिरिक्त इस भाषा का कुछ पता नहीं है। ईरान की अन्य भाषाएँ भी सर्वथा लुप्त हो गई हैं। ये सब पश्चिमी ईरान की विभाषाएँ थीं। फारस प्रांत की विभाषा राजाश्रय पाकर इतनी बढ़ी कि अन्य विभाषाओं और बोलियों का उसने उन्मूलन ही कर दिया।

प्राचीन फारसी की वर्णमाला अवेस्ता से अधिक सरल मानी जाती है। उदाहरणार्थ अवेस्ता में ह्रस्व एँ और ओं होते हैं पर प्राचीन फारसी में उनके स्थान में संस्कृत की नाईं अ ही होता है; जैसे जहाँ अवेस्ता में 'यँजी' होता है, वहाँ संस्कृत में 'यदि' और प्राचीन फारस में 'यदिय' होता है। इसी प्रकार प्राचीन फा० व्यंजनों में भी परिवर्तन देख पड़ता है। उदाहरणार्थ अवेस्ता में भारोपीय ज़ (घोप ज़) पाया जाता है पर प्राचीन फारसी में उसके स्थान में द हो जाता है और संस्कृत में ऐसे स्थानों में 'ह्' पाया जाता है; जैसे—

सं०	अवेस्ता	प्रा० फा०	सं०	अ०	प्रा० फा०
अहम्	अज़ॅम	अदम	हस्त	ज़स्त	दस्त

प्राचीन फारसी में प्राकृतों की नाईं पदांत में व्यंजन प्रायः नहीं रहते। ऐसे उदारण वैदिक में भी मिलते हैं पर प्राचीन फारसी में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ गई है। जहाँ सं० में अमरत् और अवस्ता में अवरत आता है, वहाँ प्राचीन फारसी में अवर आता है। इन्हीं बातों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अवेस्ता और वैदिक भाषा प्राचीन फारसी से प्राचीनतर हैं।

फिर कोई ५०० वर्ष तक साहित्य नहीं मिलता। ईसा की तीसरी शताब्दी में फिर मध्यकालीन फारसी अथवा पहलवी के लेख तथा ग्रंथ मिलते हैं। सेसेनियन राजाओं के उत्कीर्ण लेखों के अतिरिक्त इस भाषा में पारसियों का धार्मिक साहित्य भी मिलता है। अवस्ता का पहलवी अनुवाद आज भी उपलब्ध है। भाषा में विकास के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। जैसा प्राचीन फारसी में व्याकरणिक रूपों का बाहुल्य था वैसा इस मध्य फारसी में नहीं पाया जाता। विभक्तियों

के स्थान में पर-सर्गों का प्रयोग होने लगता है। लिंग-भेद का भी समीकरण अथवा लोप प्रारंभ हो गया है, जैसे एक (अव्हो) सर्वनाम संस्कृत के सः, सा और तद् तीनों के लिये प्रयुक्त होता है। अर्थात् इस मध्यकालीन फारसी में अपभ्रंश भाषा के अधिक लक्षण मिलते हैं, और उसमें तथा अर्वाचीन फारसी में वही भेद है जो परवर्ती अपभ्रंश और पुरानी हिंदी में है। जिस प्रकार वही अपभ्रंश की धारा आज हिंदी में विकसित हो गई, उसी प्रकार पहलवी का ही विकसित रूप आधुनिक फारसी है। अर्थात् विकास की दृष्टि से पहलवी अर्वाचीन फारसी और आधुनिक फारसी की, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी और आधुनिक हिंदी से तुलना कर सकते हैं।

अर्वाचीन फारसी हिंदी की नाईं ही बहुत कुछ व्यवहित हो गई है और उसका आधुनिक रूप तो जीवित भारोपीय भाषाओं में सबसे अधिक व्यवहित माना जाता है। इस पर अरबी का विशेष प्रभाव पड़ा है। अर्वाचीन फारसी की वाक्य-रचना तक पर अरबी का प्रभाव पड़ा है। भारत में यही अरबी से प्रभावित फारसी पढ़ी पढ़ाई जाती है। इस अर्वाचीन फारसी में ध्वनि और रूप का भी कुछ विकास तथा विकार हुआ है। मध्यकालीन फारसी की अपेक्षा उसके रूप कम और सरल हो गए हैं तथा उसके ध्वनि विकारों में मुख्य यह है कि प्राचीनतर 'क' त, प और च के स्थान में ग द ब और ज़ हो जाता है। इसी प्रकार प्राचीनतर य के स्थान में ज हो जाता है।

शब्दों के आदि में संयुक्त व्यंजन भी इस काल में नहीं देख पड़ता। अवेस्ता और प्राचीन फारस के स्ता (ठहरना) के स्थान में अर्वाचीन फारसी में सितादन या इस्तादन आने लगता है। इसी प्रकार प्राचीन रूप ब्रातर (भाई) के स्थान में अर्वाचीन फारसी में बिरादर आता है। अर्थात् प्राकृतों की भाँति यहाँ भी युक्त-विकर्ष और अक्षरागम की प्रवृत्ति देख पड़ती है।

अधिक व्यवहार में आने और विदेशी संपर्क से भाषा कैसे व्यवहित और रूपहीन हो जाती है, इसका सबसे अच्छा उदाहरण फारसी है। यह मुस्लिम दरबार की भाषा थी और एक समय समस्त एशिया

की राजनीतिक भाषा थी। इसी प्रकार की दशा प्राचीन काल में संस्कृत और आजकल अँगरेजी की है। फलतः इन दोनों की भी प्रवृत्ति व्यवहित और रूप-त्याग की ओर स्पष्ट देखी जाती है।

आधुनिक फारसी और उसकी प्रांतीय विभाषाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भाषाएँ भी बोली जाती हैं जिनका संबंध ईरानी वर्ग की किसी

अन्य विभाषाएँ और बोलियाँ

अन्य प्राचीन भाषा से है। सुदूर उत्तरी पहाड़ी में बोली जानेवाली गालचा आदि पामीरी बोलियाँ सोग्दी से और पश्तो (अफगानी) अवेस्ता से निकली मानी जाती हैं। बलोचिस्तान की बलूची का भी इसी पूर्वी वर्ग से संबंध है, पर अभी निश्चय नहीं हो सका है कि इसकी पूर्वज कौन है, क्योंकि इसने अर्वाचीन फारसी से बड़ी घनिष्ठता कर ली है। इसके अतिरिक्त ओसेटिक, कुर्दी (कुर्दिश) और कई कास्पियन बोलियाँ भी मिलती हैं। ओसेटिक काकेशस के एक प्रांत की भाषा है। इस पर अनार्य भाषाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा है। कुर्दी पर अर्वाचीन फारसी की छाप लगी है। अन्य बोलियों का विशेष अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है।

इस प्रकार ईरानी वर्ग का थोड़ा अध्ययन करने से भी कुछ ऐसी ध्वनि-संबंधी सामान्य विशेषताएँ देख पड़ती हैं जो उसकी सजातीय

ईरानी भाषावर्ग की सामान्य विशेषताएँ

भाषा संस्कृत में नहीं मिलतीं। जैसे भारोपीय मूल-भाषा का स् संस्कृत में ज्यों का त्यों सुरक्षित है पर ईरानी में उसका विकार ह होता है।

(१) सं०	अवेस्ता	प्रा० फा०	अर्वा० फा०
सिंधु	हिंदु	हिंदु	हिंद
सर्व	हौर्व	हौर्व	हर
सप्त	हप्त	......	हफ्ता
सचा	हचा (साथ)	......	......

(२) भारोपीय घ, ध, भ के स्थान में ईरानी ग, द, ब आते हैं। यथा—

सं०	अवे०	प्रा० फा०	अ० फा०	हिंदी
घर्म	गर्म	गर्म	गर्म	घाम
धित (हित)	दात	दात	दाद	(गर्म
भूमि	बूमि	बूमि	बूम	विदेशी है)

(३) भारोपीय सघोष ज़ आदि के समान अनेक वर्ण ईरानी में मिलते हैं पर संस्कृत में उनका सर्वथा अभाव है।

इसके अतिरिक्त भी अनेक विशेषताएँ ईरानी भाषावर्ग में पाई जाती हैं पर वे अवेस्ता में ही अधिक मिलती हैं और अवेस्ता तो संस्कृत के इतनी अधिक समान है कि थोड़े ध्वनि-परवर्तनों को छोड़ दें तो दोनों एक ही भाषा प्रतीत होती हैं। अब तो तुलना-मूलक भाषा-विज्ञान, वंशान्वय-शास्त्र धर्म-शास्त्र आदि के अध्ययन ने इन दोनों के एक होने की कल्पना को ठीक मान लिया है। अत: अवेस्ता भाषा का संक्षिप्त परिचय और उसका संस्कृत से भेद और ऐक्य जानना प्रत्येक भाषा-विज्ञानी के लिए आवश्यक हो जाता है; क्योंकि इसका महत्त्व ईरान और भारत के लिये ही नहीं, प्रत्युत भारोपीय परिवार मात्र के लिये है। वाकरनेगल और बारथोलोमी ने इन प्राचीन ईरानी भाषाओं का सुंदर तुलनात्मक अध्ययन किया है।

अवेस्ता भाषा का संक्षिप्त परिचय

अवेस्ता भारोपीय परिवार के शतम्-वर्ग की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है। उसका यह वर्तमान नाम पहलवी अविस्ताक से निकला है। उसकी प्राचीन लिपि का कुछ पता नहीं है। अब वह सेसेनियन पहलवी से उत्पन्न दाहिने से बायें को लिखी जानेवाली एक लिपि में लिखी मिलती है। इस भाषा में संस्कृत के समान दो अवस्थाएँ भी पाई जाती हैं—पहली गाथा की अवस्था वैदिक के समान आर्ष है और दूसरी परवर्ती अवेस्ता लौकिक संस्कृत के समान कम आर्ष मानी जा सकती है। गाथा अवेस्ता में कभी कभी तो वैदिक से भी प्राचीन रूप या उच्चारण मिल जाया करते हैं। सामान्य रूप से गाथा अवेस्ता और वैदिक संस्कृत में थोड़े ध्वनि-विकारों को छोड़कर कोई भी भेद नहीं

पाया जाता। अवेस्ता का वाक्य सहज ही में वैदिक-संस्कृत बन जाता है। जैसे अवेस्ता का—

तं	अमवन्तं	यज़तम
सूरं	दामोहू	शविस्तम्
मिथम्	यज़ै	ज़ोथ्राव्यो

का संस्कृत पाठ इस प्रकार होगा—

तम्	अमवंतं	यजतम्
शूरं	धामसु	शविष्ठम्
मित्रं	यजै	होत्राभ्य:

(अर्थात् मैं उस मित्र की आहुतियों से पूजा करता हूँ जो शूर..........शविष्ठ.....है।)

अवेस्ता वैदिक भाषा से इतनी अधिक मिलती है कि उसका अध्ययन संस्कृत भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिये बड़ा लाभकर होता है; और इसी प्रकार प्राचीन फारसी प्राकृत और पाली से, मध्य फारसी अपभ्रंश से और आधुनिक फारसी आधुनिक हिंदी से बराबरी पर रखी जा सकती है। यह अध्ययन बड़ा रोचक और लाभकर होता है। ग्रे ने अपने Indo Iranian Phonology में इसी प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

भारतवर्ष यूरेशिया खंड में ही अंतर्भूत हो जाता है पर कई ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों से भाषा-विज्ञानी को—विशेषकर भारतीय भाषा के विद्यार्थी को भारतवर्ष की भाषाओं का विस्तृत विवेचन करना पड़ता है।

भारतवर्ष की भाषाएँ

भारत की भाषाओं ने भाषा-विज्ञान में एक ऐतिहासिक कार्य किया है; इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का देश एक पूरा महादेश अथवा महाद्वीप जैसा है। उसमें विभिन्न परिवार की इतनी भाषाएँ और बोलियाँ इकट्ठी हो गई हैं कि उसे एक पृथक् भाषा-खंड ही मानना सुविधाजनक और सुंदर होता है। पाँच से अधिक आर्य तथा अनार्य परिवारों की भाषाएँ इस देश में मिलती हैं। दक्खिन के साढ़े चार प्रांतों अर्थात

आंध्र, कर्णाटक, केरल, तामिलनाड और आधे सिंहल में सभ्य द्राविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं; भारत के शेष प्रांतों में आर्य भाषाओं का व्यवहार होता है; आंध्र, उड़ीसा, बिहार, चेदि-कोशल, राजस्थान और महाराष्ट्र के सीमांत पर वन्य प्रदेशों में और सिंध की सीमा के पार कलात में भी कुछ अपरिष्कृत द्राविड़ बोलियाँ पाई जाती हैं। इन प्रधान भाषाओं और बोलियों के अतिरिक्त कुछ अप्रधान बोलियाँ भी हिमालय और विंध्य-मेखला के पड़ोस में बोली जाती हैं। आस्ट्रिक परिवार की मुख्य भाषा-शाखा मुंडा ही भारत में है और वह भी मुख्यत: झाड़खंड में। तिब्बत-बर्मी भाषाएँ केवल हिमालय के ऊपरी भाग में पाई जाती हैं। कुछ ऐसी भाषाएँ भी ब्रह्मा देश में पाई जाती हैं जिनका किसी परिवार में निश्चित रूप से वर्गीकरण नहीं किया जा सकता है। इन सबका सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—

१—आस्ट्रिक परिवार—

(क) इंडोनेशियन (मलयद्वीपी अथवा मलायुद्वीपी)।

(ख) आस्ट्रो-एशियाटिक—(१) मोन ख्मेर।

(२) मुंडा (कोल अथवा शाबर)।

२—एकाक्षर (अथवा चीनी) परिवार—

(क) श्यामी-चीनी,

(ख) तिब्बती-बर्मी।

३—द्राविड़ परिवार।

४—आर्य परिवार (अथवा भारत-ईरानी भाषाएँ)

(क) ईरानी शाखा,

(ख) दरद शाखा,

(ग) भारतीय आर्य शाखा।

५—विविध अर्थात् अनिश्चित समुदाय।

मुंडा भाषा उस विशाल 'आस्ट्रिक' (अथवा आग्नेय) परिवार की शाखा है जो पूर्व-पश्चिम में मदागास्कर से लेकर प्रशान्त महासागर के ईस्टर द्वीप तक और उत्तर-दक्षिण में पंजाब से लेकर सुदूर न्यूजीलैंड तक फैला हुआ है।

आस्ट्रिक (अथवा आग्नेय) परिवार

इस आग्नेय परिवार के दो बड़े स्कंध हैं—आग्नेयदेशी (Austro-Asiatic) और आग्नेयद्वीपी (Austronesian आस्ट्रोनेशियन)। आग्नेयद्वीपी स्कंध की फिर तीन शाखाएँ हैं—सुवर्णद्वीपी या मलायु-द्वीपी (Indonesian), पपूवाद्वीपी (Melanesian) तथा सागर-द्वीपी (Polynesian)। इस आग्नेयद्वीपी स्कंध को मलय-पाली-नेशियन भाषा-वर्ग भी कहते हैं।

आग्नेयद्वीपी-परिवार की मलायुद्वीपी भाषाओं में से केवल मलायु (या मलय) और सलोन (Salon) भारत में बोली जाती हैं। ब्रिटिश बर्मा (ब्रह्मा) की दक्षिणी सीमा पर मलय और मरगुई आर्कीपेलिगो में सलोन बोली जाती है।

आग्नेयदेशी स्कंध की भाषाएँ भारत के कई भागों में बोली जाती हैं। प्राचीन काल में इन भाषाओं का केंद्र पूर्वी भारत पर हिंद-चीनी प्रायद्वीप ही था। अब इनका धीरे धीरे लोप सा हो रहा है और जो भाषाएँ इस स्कंध की बची हैं उनको दो शाखाओं में बाँटा जाता है—एक मोन-ख्मेर और दूसरी मुंडा (मुंड, कोल या शावर)।

मोन-ख्मेर शाखा में चार वर्ग हैं—(१) मोन-ख्मेर, (२) पलौंगवा, (३) खासी और (४) निकोबरी। इन सबमें मोन-ख्मेर प्रधान वर्ग कहा जा सकता है। मोन एक मँजी हुई साहित्य-संपन्न भाषा है। एक दिन हिंदी-चीन में मोन-ख्मेर लोगों का राज्य था पर अब उनकी भाषा का व्यवहार ब्रह्मा, स्याम और भारत की कुछ जंगली जातियों में ही पाया जाता है। मोन भाषा बर्मा के तट पर पेगू, थतोन और एम्हर्स्ट जिलों में, तथा मर्तबान की खाड़ी के चारों ओर, बोली जाती है। ख्मेर भाषा कंबोज के प्राचीन निवासी ख्मेर लोगों की भाषा है। ख्मेर लोग मानो

के सजातीय हैं। ख्मेर भाषा में भी अच्छा साहित्य मिलता है। आजकल यह भाषा ब्रह्मा और स्याम के सीमा-प्रांतों में बोली जाती है। 'पलौंग' और 'वा' उत्तरी बर्मा की जंगली बोलियाँ हैं। निकोबरी निकोबर द्वीप की बोली है। वह मोन और मुंडा बोलियों के बीच की कड़ी मानी जाती है। खासी बोली भी उसी शाखा की है; वह आसाम की खासी-जाति द्वारा पहाड़ों में बोली जाती है। खासी बोली का क्षेत्र तिब्बत-बर्मी भाषाओं से घिरा हुआ है और बहुत दिनों से इन बोलियों का मोन-ख्मेर आदि आष्ट्रिक (आग्नेय) भाषाओं से कोई साक्षात् संबंध नहीं रहा है। इस प्रकार स्वतंत्र विकास के कारण खासी बोलियों में कुछ भिन्नता आ गई है। पर परीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसका शब्द-भांडार मोन से मिलता-जुलता है और रचना तो बिलकुल मोन की ही है।

मुंडा

भारत की दृष्टि से आग्नेय परिवार की सबसे प्रधान भाषा मुंडा है। पश्चिमी बंगाल से लेकर बिहार और मध्यप्रांत, मध्यभारत, उड़ीसा और मद्रास प्रांत के गंजम जिले तक मुंडा वर्ग की बोलियाँ फैली हुई हैं। इनके बीच-बीच में कभी-कभी द्राविड़ बोलियाँ भी पाई जाती हैं। मध्यप्रांत के पश्चिमी भाग में तो मुंडा बोलियाँ द्राविड़ बोलियों से घिरी हुई हैं पर इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य मुंडा की कनावरी बोली है। यह हिमालय की तराई से लेकर शिमला पहाड़ियों तक बोली जाती है। यह मुंडा बोलियों का मुख्य केंद्र विंध्यमेखला और उसके पड़ोस में है। उनमें सबसे प्रधान बोली विंध्य के पूर्वी छोर संस्थाल परगने और छोटा नागपुर (बिहार) की खेरवारी बोली है। संताली, मुंडारी, हो, भूमिज, कोर्वा आदि इसी बोली के उपभेद हैं।

खेरवारी के अतिरिक्त कूर्कू, खड़िया, जुआंग, शावर, गदबा आदि भी मुंडा शाखा की ही बोलियाँ हैं। कूर्कू, विंध्य के पश्चिमी छोर पर मालवा (राजस्थान), मध्यप्रांत के पश्चिमी भाग (अर्थात् बेतूल आदि में) और मेवाड़ में बोली जाती है। अन्य सब मुंडा बोलियाँ विशेष महत्त्व की नहीं हैं।

मुंडा बोलियाँ बिलकुल तुर्की के समान प्रत्यय-प्रधान और उपचय-प्रधान होती हैं। मैक्समूलर ने जो बातें अपने ग्रंथ में तुर्की के संबंध में कही हैं वे अक्षरशः मुंडा के संबंध में भी सत्य मानी जा सकती हैं। मुंडा भाषाओं की दूसरी विशेषता अंतिम व्यंजनों में पश्चात् श्रुति का अभाव है। चीनी अथवा हिंद चीनी भाषाओं के समान पदांत में व्यंजनों का उच्चारण श्रुतिहीन और रुक जानेवाला होता है, वह अंतिम व्यंजन आगे के वर्ण में मिल सा जाता है। लिंग दो होते हैं--स्त्रीलिंग और पुल्लिंग, पर वे व्याकरण के आधार पर नहीं चलते। उनकी व्यवस्था सजीव और निर्जीव के भेद के अनुसार की जाती है। सभी सजीव पदार्थों के लिये पुल्लिंग और निर्जीव पदार्थों के लिये स्त्री-लिंग का प्रयोग किया जाता है। वचन प्राचीन आर्य भाषाओं की भाँति तीन होते हैं। द्विवचन और बहुवचन बनाने के लिये संज्ञाओं में पुरुषवाचक सर्वनामों के अन्य-पुरुष के रूप जोड़ दिए जाते हैं। द्विवचन और बहुवचन में उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम के दो दो रूप होते हैं—एक श्रोता सहित वक्ता का बोध कराने के लिये और दूसरा रूप श्रोता-रहित वक्ता का बोध कराने के लिये। जैसे अले और अबोन—दोनों शब्दों का 'हम' अर्थ होता है पर यदि नौकर से कहा जाय कि हम भोजन करेंगे और 'हम' के लिये 'अबोन' का प्रयोग किया जाय तो नौकर भी भोजन करनेवालों में समझा जायगा। पर अले केवल कहनेवाले का बोध कराता है। मुंडा क्रियाओं में परप्रत्यय ही नहीं अंतः प्रत्यय भी देखे जाते हैं। मुंडा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वाक्य-रचना है। मुंडा वाक्य-रचना आर्य भाषा की रचना से इतनी भिन्न होती है कि उसमें शब्द-भेद की ठीक ठीक कल्पना करना भी कठिन होता है।

मुंडा जातियों और भाषाओं के नामों के संबंध में भी कुछ मत-भेद देखा जाता है। यदि उन जातियों को देखा जाय तो वे स्वयं अपने को मनुष्य मात्र कहती हैं और मनुष्य का वाचक एक ही शब्द भिन्न भिन्न मुंडा बोलियों में थोड़े परिवर्तित रूप में देख पड़ता है; जैसे—कोल, कोरा, कोड़ा, कूर-कू (कूर का बहुवचन), हाड़, हाड़को

आता है और प्राय: सभी बातों में यह परिवार मुंडा से भिन्न पाया जाता है। मुंडा में कोई साहित्य नहीं है, पर

द्राविड़-परिवार

द्राविड़ भाषाओं में से कम से कम चार में तो सुंदर और उन्नत साहित्य मिलता है।

विद्यमान द्राविड़ भाषाएँ चार वर्गों में बाँटी जाती हैं—(१) द्राविड़ वर्ग, (२) आंध्र वर्ग, (३) मध्यवर्ती वर्ग और (४) बहिरंग वर्ग अर्थात् ब्रहुई बोली। तामिल, मलयालम, कन्नड और कन्नड की बोलियाँ, तुलु और कोडगु (कुर्ग की बोली) सब द्राविड़ वर्ग में हैं और तेलुगु या आंध्र भाषा अकेली एक वर्ग में है।

इन सब बोलियों में अधिक प्रसिद्ध गोंडी बोली है। इस गोंडी का अपनी पड़ोसिन तेलुगु की अपेक्षा द्राविड़ वर्ग के भाषाओं से अधिक साम्य है। उसके बोलनेवाले गोंड लोग आंध्र,

मध्यवर्ती वर्ग

उड़ीसा, बरार, चेदि-कोशल (बुंदेलखंड और छत्तीसगढ़) और मालवा के सीमांत पर रहते हैं। पर उनका केंद्र चेदि-कोशल ही माना जाता है। गोंड एक इतिहास-प्रसिद्ध जाति है, उसकी बोली गोंडी का प्रभाव उत्तराखंड में भी ढूँढ़ निकाला गया है, पर गोंडी बोली न तो कभी उन्नत भाषा बन सकी, न उसमें कोई साहित्य उत्पन्न हुआ और न उसकी कोई लिपि ही है। इसी से गोंडी शब्द कभी कभी भ्रमजनक भी होता है। बहुत से गोंड अब आर्य भाषा अथवा उससे मिली गोंडी बोली बोलते हैं, पर साधारण लोग गोंड मात्र की बोली को गोंडी मान लेते हैं। गोंड लोग अपने आपको 'कोइ' कहते हैं।

गोंडी के पड़ोस में ही उड़ीसा में इसी वर्ग की 'कुई' नाम की बोली पाई जाती है। इसका संबंध तेलुगु से विशेष देख पड़ता है। इसमें क्रिया के रूप बड़े सरल होते हैं। इसके बोलनेवाले सबसे अधिक जंगली हैं; उनमें अभी तक कहीं कहीं नर-बलि की प्रथा पाई जाती है। उड़िया लोग उन्हें कोंधी, कांधी अथवा खोंध कहते हैं।

कुई के ठीक उत्तर छत्तीसगढ़ और छोटा नागपुर में (अर्थात् चेदि-कोशल और बिहार के सीमांत पर) कुरुख लोग रहते हैं। ये ओराँव भी कहे जाते हैं। इनकी भाषा कुरुख अथवा ओराँव भी द्राविड़ से अधिक मिलती-जुलती है। इस बोली में कई शाखाएँ अर्थात् उपबोलियाँ भी हैं। गंगा के ठीक तट पर राजमहल की पहाड़ियों में रहनेवाली मल्तो जाति की बोली 'मल्तो' कुरुख की ही एक शाखा है। बिहार और उड़ीसा में कुरुख बोलियों का क्षेत्र मुंडा के क्षेत्र से छोटा नहीं है, पर अब कुरुख पर आर्य और मुंडा बोलियों का प्रभाव दिनोंदिन अधिक पड़ रहा है। राँची के पास के कुछ कुरुख लोगों में मुंडारी का अधिक प्रयोग होने लगा है।

गोंडी, कुई, कुरुख, मल्तो आदि के समान इस वर्ग की एक बोली कोलामी है। वह पश्चिमी बरार में बोली जाती है। उसका तेलुगु से अधिक साम्य है; उस पर मध्यभारत की आर्य भीली बोलियों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। टोडा की भाँति वह भी भीली के दबाव से मर रही है।

सुदूर कलात में ब्राहुई लोग एक द्राविड़ बोली बोलते हैं। इनमें से अनेक ने बलूची अथवा सिंधी को अपना लिया है। यहाँ के

ब्राहुई वर्ग

सभी स्त्री-पुरुष प्रायः दुभाषिए होते हैं। कभी कभी स्त्री सिंधी बोलती हैं और पति ब्राहुई। यहाँ किस प्रकार अन्य वर्गीय भाषाओं के बीच में एक द्राविड़ भाषा जीवित रह सकी, यह एक आश्चर्य की बात है।

आंध्र वर्ग में केवल आंध्र अथवा तेलुगु भाषा है और अनेक बोलियाँ हैं। वास्तव में दक्षिण-पूर्व के विशाल क्षेत्र में केवल तेलुगु

आंध्र वर्ग

भाषा बोली जाती है। उसमें कोई विभाषा नहीं है। उसी भाषा को कई जातियाँ अथवा विदेशी व्यापारी थोड़ा विकृत करके बोलते हैं पर इससे भाषा का कुछ नहीं बिगड़ता। विभाषाएँ तो तब बनती हैं जब प्रांतीय भेद के कारण शिष्ट और सभ्य लोग भाषा में कुछ उच्चारण और शब्द-भांडार का भेद

के सजातीय हैं। ख्मेर भाषा में भी अच्छा साहित्य मिलता है। आजकल यह भाषा ब्रह्मा और स्याम के सीमा-प्रांतों में बोली जाती है। 'पलौंग' और 'वा' उत्तरी वर्मा की जंगली बोलियाँ हैं। निकोबरी निकोबर द्वीप की बोली है। वह मोन और मुंडा बोलियों के बीच की कड़ी मानी जाती हैं। खासी बोली भी उसी शाखा की है; वह आसाम की खासी-जाति द्वारा पहाड़ों में बोली जाती है। खासी बोली का क्षेत्र तिब्बत-बर्मी भाषाओं से घिरा हुआ है और बहुत दिनों से इन बोलियों का मोन-ख्मेर आदि आष्ट्रिक (आग्नेय) भाषाओं से कोई साक्षात् संबंध नहीं रहा है। इस प्रकार स्वतंत्र विकास के कारण खासी बोलियों में कुछ भिन्नता आ गई है। पर परीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसका शब्द-भांडार मोन से मिलता-जुलता है और रचना तो बिलकुल मोन की ही है।

भारत की दृष्टि से आग्नेय परिवार की सबसे प्रधान भाषा मुंडा है। पश्चिमी बंगाल से लेकर बिहार और मध्यप्रांत, मध्यभारत,

मुंडा

उड़ीसा और मद्रास प्रांत के गंजम जिले तक मुंडा वर्ग की बोलियाँ फैली हुई हैं। इनके बीच-बीच में कभी-कभी द्राविड़ बोलियाँ भी पाई जाती हैं। मध्यप्रांत के पश्चिमी भाग में तो मुंडा बोलियाँ द्राविड़ बोलियों से घिरी हुई हैं पर इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य मुंडा की कनावरी बोली है। यह हिमालय की तराई से लेकर शिमला पहाड़ियों तक बोली जाती है। यह मुंडा बोलियों का मुख्य केंद्र विंध्यमेखला और उसके पड़ोस में है। उनमें सबसे प्रधान बोली विंध्य के पूर्वी छोर संथाल परगने और छोटा नागपुर (बिहार) की खेरवारी बोली है। संताली, मुंडारी, हो, भूमिज, कोखा आदि इसी बोली के उपभेद हैं।

खेरवारी के अतिरिक्त कूर्कू, खड़िया, जुआंग, शावर, गदबा आदि भी मुंडा शाखा की ही बोलियाँ हैं। कूर्कू, विंध्य के पश्चिमी छोर पर मालवा (राजस्थान), मध्यप्रांत के पश्चिमी भाग (अर्थात् बेतूल आदि में) और मेवाड़ में बोली जाती है। अन्य सब मुंडा बोलियाँ विशेष महत्व की नहीं हैं।

मुंडा बोलियाँ बिलकुल तुर्की के समान प्रत्यय-प्रधान और उपचय-प्रधान होती हैं। मैक्समूलर ने जो बातें अपने ग्रंथ में तुर्की के संबंध में कही हैं वे अक्षरशः मुंडा के संबंध में भी सत्य मानी जा सकती हैं। मुंडा भाषाओं की दूसरी विशेषता अंतिम व्यंजनों में पश्चात् श्रुति का अभाव है। चीनी अथवा हिंद चीनी भाषाओं के समान पदांत में व्यंजनों का उच्चारण श्रुतिहीन और रुक जानेवाला होता है, वह अंतिम व्यंजन आगे के वर्ण में मिल सा जाता है। लिंग दो होते हैं--स्त्रीलिंग और पुल्लिंग, पर वे व्याकरण के आधार पर नहीं चलते। उनकी व्यवस्था सजीव और निर्जीव के भेद के अनुसार की जाती है। सभी सजीव पदार्थों के लिये पुल्लिंग और निर्जीव पदार्थों के लिये स्त्री-लिंग का प्रयोग किया जाता है। वचन प्राचीन आर्य भाषाओं की भाँति तीन होते हैं। द्विवचन और बहुवचन बनाने के लिये संज्ञाओं में पुरुषवाचक सर्वनामों के अन्य-पुरुष के रूप जोड़ दिए जाते हैं। द्विवचन और बहुवचन में उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम के दो दो रूप होते हैं—एक श्रोता सहित वक्ता का बोध कराने के लिये और दूसरा रूप श्रोता-रहित वक्ता का बोध कराने के लिये। जैसे अले और अबोन—दोनों शब्दों का 'हम' अर्थ होता है पर यदि नौकर से कहा जाय कि हम भोजन करेंगे और 'हम' के लिये 'अबोन' का प्रयोग किया जाय तो नौकर भी भोजन करनेवालों में समझा जायगा। पर अले केवल कहनेवाले का बोध कराता है। मुंडा क्रियाओं में परप्रत्यय ही नहीं अंतः प्रत्यय भी देखे जाते हैं। मुंडा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वाक्य-रचना है। मुंडा वाक्य-रचना आर्य भाषा की रचना से इतनी भिन्न होती है कि उसमें शब्द-भेद की ठीक ठीक कल्पना करना भी कठिन होता है।

मुंडा जातियों और भाषाओं के नामों के संबंध में भी कुछ मत-भेद देखा जाता है। यदि उन जातियों को देखा जाय तो वे स्वयं अपने को मनुष्य मात्र कहती हैं और मनुष्य का वाचक एक ही शब्द भिन्न भिन्न मुंडा बोलियों में थोड़े परिवर्तित रूप में देख पड़ता है; जैसे—कोल, कोरा, कोड़ा, कूर-कू (कूर का बहुवचन), हाड़, हाड़को

(बहु०) हो आदि। भारतीय आर्य प्रायः कोल शब्द से इन सभी अनार्य जातियों का बोध कराते थे। उत्तर भारत के ग्रामीण इन जातियों को अभी तक कोल कहते हैं। इसी से कोल, अथवा कुलेरियन शब्द कुछ विद्वानों को अधिक अच्छा लगता है। पर संस्कृत में कोल शब्द 'सूअर' के लिये और नीच जाति के अर्थ में आता है। कुछ लोग कुली शब्द का संबंध उसी कोल से जोड़ते हैं।

भारत की भारोपीय आर्य भाषाओं पर द्राविड़ और मुंडा दोनों परिवारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ध्वनि-संबंधी प्रभाव कुछ विवादास्पद है पर रूप-विकार तो निश्चित माना जाता है। बिहारी क्रिया की जटिल काल-रचना अवश्य ही मुंडा की देन है। उत्तम पुरुष के सर्वनाम के दो रूप (एक श्रोता का अंतर्भाव करनेवाला और दूसरा केवल वक्ता का वाचक) मुंडा का ही विशेष लक्षण है और वह गुजराती, हिंदी आदि में भी पाया जाता है। कम से कम मध्यप्रांत (सी० पी०) की हिंदी में तो यह भेद स्पष्ट ही है—'अपन गए थे' और 'हम गए थे' दोनों में भेद स्पष्ट है। 'अपन' में हम और तुम दोनों आ जाते हैं। गुजराती में भी 'अमे गया हता' और 'आपणे गया हता' में यही भेद होता है। अनेक संख्यावाचक शब्द भी मुंडा से आए प्रतीत होते हैं; जैसे कोरी अथवा कोड़ी मुंडा शब्द कुड़ी से आया है। कुछ विद्वान् समझते हैं कि कोरी अँगरेजी स्कोर (Score) शब्द का तद्भव है, पर विचार करने पर उसका मूल मुंडा का रूप ही मालूम पड़ता है। इस प्रकार अन्य अनेक लक्षण हैं जो मुंडा और आर्य भाषाओं में समान पाए जाते हैं।

भारोपीय भाषाओं पर मुंडा का प्रभाव

भारतवर्ष की एकाक्षर अथवा चीनी परिवार की भाषाओं में तिब्बती और चीनी प्रधान भाषाएँ हैं। इसी से इस परिवार का एक नाम तिब्बती-चीनी परिवार भी है। इन भाषाओं में से चीनी भारत में कहीं नहीं बोली जाती। स्यामी अर्थात् ताई शाखा की अनेक बोलियाँ

एकाक्षर अथवा चीनी परिवार

ब्रह्मा और उत्तरी-पूर्वी आसाम में बोली जाती हैं। उनमें से शान, अहोम और खामती मुख्य हैं। शान उत्तरी वर्मा में फैली हुई है। अहोम वास्तव में शान की ही विभाषा है—उसी से निकली एक विभाषा है।

इस तिब्बत-चीनी (अथवा चीन-किरात) परिवार के दो बड़े स्कंध हैं—स्याम-चीनी और तिब्बती-वर्मी। स्याम-चीनी स्कंध के दो वर्ग हैं—चैनिक (Simitic) और तइ (Tai)।

स्याम-चीनी स्कंध

चैनिक वर्ग की भाषाएँ चीन में मिलती हैं। स्यामी लोग अपने को तइ अथवा थइ कहते हैं। उन्हीं का दूसरा नाम शाम या शान है। हिंद-चीनी प्रायद्वीप में तइ अथवा शान जाति (नस्ल) के ही लोग अधिक संख्या में हैं। आसाम से लेकर चीन के क्वाङसी प्रांत तक आज यही जाति फैली हुई है। इन्हीं के नाम से ब्रह्मपुत्र का अहोम-नामक काँठा 'आसाम', में नाम का काँठा 'स्याम' और वर्मा का एक प्रदेश शान कहलाता है। अहोम बोली के अतिरिक्त आसाम के पूर्वी छोर और वर्मा के सीमांत पर खातमी नाम की बोली बोली जाती है। तइ वर्ग की यही एक बोली भारत में जीवित है। उसके वक्ता पाँच हजार के लगभग होंगे।

तिब्बत और वर्मा (म्यम्म देश) के लोग एक ही नस्ल के हैं और उस नस्ल को जन-विज्ञान और भाषा-विज्ञान के आचार्य तिब्बत-वर्मी कहते हैं। भाषा के विचार से तिब्बत-वर्मी भाषा-

तिब्बत-वर्मी

स्कंध विशाल तिब्बत-चीनी परिवार का आधा हिस्सा है। इसी तिब्बत-वर्मी स्कंध का भारतवर्ष से विशेष संबंध है। उसकी तीन शाखाएँ प्रधान हैं—(१) तिब्बत-हिमालयी, (२) आसामोत्तरी (उत्तर-आसामी) तथा (३) आसाम-वर्मी (या लौहित्य)।

तिब्बत-हिमालयी शाखा में तिब्बत की मुख्य भाषाएँ और बोलियाँ तथा हिमालय में उत्तरी आँचल (उत्तरांचल) की कई छोटी छोटी भोटिया बोलियाँ मानी जाती हैं। लौहित्य या आसाम-वर्मी शाखा के नाम से ही प्रकट हो जाता है कि उसमें वर्मी भाषा तथा

आसाम-वर्मा-सीमांत की कई छोटी छोटी बोलियाँ सम्मिलित की जाती हैं। इन दोनों शाखाओं के बीच में उत्तर-आसामी वर्ग की बोलियाँ पड़ती हैं। इतना निश्चित हो गया है कि इन उत्तरी पहाड़ों की बोलियाँ ऊपर की किसी भी एक शाखा में नहीं रखी जा सकतीं; उनमें दोनों शाखाओं की छाप देख पड़ती है। इससे उत्तर-आसामी एक स्वतंत्र शाखा मानी जाती है। इसकी अलग भौगोलिक सत्ता है।

तिब्बत हिमालयी शाखा में फिर तीन वर्ग होते हैं। एक तो तिब्बती अथवा भोट भाषा है जिसमें तिब्बत की मँजी-सँवरी साहित्यिक भाषा और उसी की अनेक बोलियाँ सम्मिलित की जाती हैं। शेष दो वर्ग हिमालय की उन बोलियों के हैं जिनकी रचना में सुदूर तिब्बती नींव स्पष्ट देख पड़ती है।

तिब्बती भाषा का वाङ्मय बड़ा विशाल है। उसके धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक आदि ग्रंथों से भारत की संस्कृति खोजने में भी बड़ी सहायता मिलती है। सातवीं शताब्दी ई० में भारतीय प्रचारकों ने तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था; वहाँ की भाषा को सँवार-सिँगार कर उसमें संपूर्ण बौद्ध त्रिपिटक का अनुवाद किया था। अन्य अनेक संस्कृत ग्रंथों का भी उसी समय तिब्बती में अनुवाद और प्रणयन हुआ था। अतः तिब्बती भाषा में अब अच्छा वाङ्मय है, पर वह सब भारतीय है। भारत में जिन ग्रंथों की मूल-प्रति नहीं मिलती उनका भी तिब्बती में अनुवाद मिला है।

इस तिब्बती भाषा की कई गौण बोलियाँ भारत की सीमा पर बोली जाती हैं। उनके दो उपवर्ग किए जा सकते हैं—एक पश्चिमी और दूसरा पूर्वी। पश्चिमी में बाल्तिस्तान अथवा बोलौर की बाल्ती और पुरिक बोलियाँ तथा लद्दाख की लद्दाखी बोली आ जाती है। बाल्ती-पुरिक और लद्दाखी के बोलनेवाले एक लाख इक्यासी हजार हैं, पर इनमें से कुछ भारतीय सीमा के बाहर भी रहते हैं। दूसरा उपवर्ग पूर्वी है और उसमें भूटान की बोली ल्होखा, सिकिम की दांजोङ्का, नेपाल की शर्पा और कागते, तथा कुमाऊँ-गढ़वाल की भोटिया

बोलियाँ हैं। ये दोनों उपवर्ग शुद्ध तिब्बती हैं। इनके बोलनेवाले अर्वाचीन काल में ही तिब्बत से भारत में आए हैं अतः भाषा में भी उनका संबंध स्पष्ट देख पड़ता है।

किंतु हिमालय में कुछ ऐसी भोटांशक बोलियाँ भी हैं जिनके बोलनेवाले जानते भी नहीं कि उनका अथवा उनकी बोलियों का कोई संबंध तिब्बत से है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने यह खोज निकाला है कि उनकी बोलियों का मूल वास्तव में तिब्बती भाषा का प्राचीनतम रूप है। अभी तिब्बती भाषा का भी कोई परिपाक नहीं हो पाया था—उसका कोई रूप स्थिर नहीं हो पाया था तभी कुछ लोग भारत की ओर बढ़ आए थे, उन्हीं की बोलियाँ ये भोटांश-हिमालयी बोलियाँ हैं। उस काल में मुंडा अथवा शाबर भाषाओं का यहाँ प्राधान्य था, इसी से इन हिमालयी बोलियों में ऐसे स्पष्ट अतिब्बत-वर्मी लक्षण पाए जाते हैं कि साधारण व्यक्ति उन्हें तिब्बत-वर्मी मानने में भी संदेह कर सकता है। इनके पड़ोस में आज भी कुछ मुंडा बोलियाँ पाई जाती हैं।

ऐसी हिमालयी बोलियों के दो वर्ग किए जाते हैं—एक सर्वनामाख्याती और दूसरा असर्वनामाख्याती (Non-Pronominalised)। सर्वनामाख्याती (वर्ग की) भाषा की क्रिया (आख्यात) में ही कर्त्ता और कर्म का अंतर्भाव हो जाता है अर्थात् कर्त्ता, और कथित तथा अकथित दोनों प्रकार के कर्मकारक के पुरुषवाचक सर्वनामों को आख्यात (अर्थात् धातु के रूप) में ही प्रत्यय के समान जोड़ देते हैं। जैसे हिमालयी बोली लिबू में 'हिप्तूङ्' का अर्थ होता है 'मैं उसे मारता हूँ'। यह बोली सर्वनामाख्याती है। हिप् (= मारना) + तू (उसे) + ङ् (मैं) से हिप्तूङ् एक 'आख्यात' की रचना हुई है। जिन बोलियों की क्रियाओं में सर्वनाम नहीं जोड़ा जाता वे असर्वनामाख्याती कहलाती हैं। इन भारी-भरकम परिभाषाओं से बचने के लिये एक विद्वान् ने पहले सर्वनामाख्याती वर्ग को किरात-कनावरादि वर्ग और दूसरे को नेवारादि वर्ग नाम दिया है। जाति और बोली के नाम पर बनने के कारण ये

पिछले शब्द अधिक स्पष्ट और सार्थक हैं। तो हमें पहले नामों को विद्वन्मंडल में गृहीत होने के कारण स्मरण अवश्य रखना चाहिए।

पहले वर्ग के भी दो उपवर्ग हैं—एक पूर्वी या किरात, दूसरा पच्छिमी या कनौर-दामी उपवर्ग। नेपाल का सबसे पूर्वी भाग सप्तकौशिकी प्रदेश किराँत (किरात) देश भी कहलाता है; वहाँ की बोलियाँ पूर्वी उपवर्ग की हैं। पश्चिमी उपवर्ग में कनौर की कनौरी (या कनावरी) बोली, उसके पड़ोस की कुल्लू, चंबा और लाहुल की कनाशी, चंबा-लाहुली, मनचाटी आदि बोलियाँ एक ओर हैं, और कुमाऊँ के भोट प्रांत की दार्मिया आदि अनेक बोलियाँ दूसरी ओर हैं। इस प्रकार हिमालय के मध्य में यह वर्ग फैला हुआ है।

दूसरे वर्ग की अर्थात् असर्वनामाख्याती नेवारादि वर्ग की बोलियाँ नेपाल, सिक्किम और भूटान में फैली हुई हैं। गोरखे वास्तव में मेवाड़ी राजपूत हैं; मुस्लिम काल में भागकर हिमालय में जा बसे हैं। उनसे पहले के नेपाल के निवासी नेवार लोग हैं। स्यात् उन्हीं के नाम से नेपाल शब्द भी बना है। आजकल भी खेती-बारी, व्यापार-व्यवसाय सब इन्हीं नेवारों के हाथ में है; गोरखे केवल सैनिक और शासक हैं। इसी से नेपाल की असली बोली नेवारी है। नेवारी के अतिरिक्त नेपाल के पश्चिमी प्रदेशों की रोंग (लपेचा), शुनवार, मगर आदि बोलियाँ भी इस वर्ग में आती हैं। इनमें से केवल नेवारी वाङ्मय-संपन्न भाषा है। बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण इस पर आर्य-प्रभाव भी खूब पड़ा है।

आसामोत्तर शाखा का न तो अच्छा अध्ययन हुआ है और न उसका विशेष महत्त्व ही है। अतः तिब्बत-हिमालयी वर्ग के उपरांत आसाम-बर्मी वर्ग आता है। आसाम-बर्मी वर्ग की भाषाओं के सात उपवर्ग किए जाते हैं। इन सबमें प्रधान बर्मी और उसकी बोलियाँ (अराकानी, दावे आदि) हैं। इस वर्ग की अन्य बोलियाँ भी प्रायः बर्मा में ही पड़ती हैं। केवल 'लोलो' चीन में पड़ती है। लक और कचिन बोलियाँ तो सर्वथा बर्मा में हैं, कुकीचिन बर्मा और शेष भारत की सीमा पर बोली जाती हैं।

आसाम-बर्मी शाखा

बोडो (बाड़ा) बोलियाँ आसामी अनार्य भाषा हैं और 'नागा' भी बर्मा के बाहर ही पड़ती है। बोडो (बाड़ा) और नागा का हिमालयी शाखा से घनिष्ठ संबंध है; कुकीचिन और बर्मी अधिक स्वतंत्र हैं और शेष में मध्यावस्था पाई जाती है। बोडो बोलियाँ धीरे धीरे लुप्त होती जा रही हैं। नागा बोलियाँ निबिड़ जंगल में रहने के कारण आर्य भाषाओं का शिकार नहीं हो सकी हैं। उनमें उपबोलियों की प्रचुरता आश्चर्य में डाल देती है। नागा वर्ग में लगभग ३० बोलियाँ हैं। उनका क्षेत्र वही नागा पहाड़ है। उनमें कोई साहित्य नहीं है, व्याकरण की कोई व्यवस्था नहीं है और उच्चारण भी क्षण क्षण, पग पग पर बदलता रहता है।

कुकीचिन वर्ग की एक बड़ी विशेषता है कि उसकी एक भाषा मेईथेई सचमुच भाषा कही जा सकती है। उसमें प्राचीन साहित्य भी मिलता है। १४३२ ई० तक के मनीपुर राज्य के इतिवृत्त (Chronicle) मेईथेई भाषा में मिलते हैं। उनसे मेईथेई के गत ५०० वर्षों का विकास सामने आ जाता है। इस ऐतिहासिक अध्ययन से एकाक्षर भाषाओं के क्षणिक और विकृत होने का अच्छा नमूना मिलता है। अब तो इस एकाक्षर-वंश की रानी चीनी भाषा के भी प्राचीन इतिहास का पता लग गया है। उसमें पहले विभक्ति का भी स्थान था। कुकीचिन वर्ग की दूसरी विशेषता यह भी है कि उसकी भाषाओं और बोलियों में सच्ची क्रियाओं (Finite verbal forms) का सर्वथा अभाव पाया जाता है; उनके स्थान में क्रियार्था संज्ञा, अव्यय कृदंत आदि अनेक प्रकार के कृदंतों का प्रयोग होता है। आर्य भाषाओं पर भी इस अनार्य प्रवृत्ति का गहरा प्रभाव पड़ा है।

मेईथेई के अतिरिक्त इस वर्ग की साहित्यिक भाषा बर्मी है पर यह तो एक अमर भाषा सी है। सच्ची बर्मी भाषाएँ तो बोलियाँ हैं। उनके उच्चारण और रूप की विविधता में से एकता खोज निकलना बड़ा कठिन काम है।

आर्य भाषा परिवार के पीछे प्रधानता में द्राविड़ परिवार ही

आता है और प्रायः सभी वातों में यह परिवार मुंडा से भिन्न पाया जाता है। मुंडा में कोई साहित्य नहीं है, पर द्राविड़ भाषाओं में से कम से कम चार में तो सुंदर और उन्नत साहित्य मिलता है।

द्राविड़-परिवार

विद्यमान द्राविड़ भाषाएँ चार वर्गों में वाँटी जाती हैं—(१) द्राविड़ वर्ग, (२) आंध्र वर्ग, (३) मध्यवर्ती वर्ग और (४) वहिरंग वर्ग अर्थात् ब्रहुई वोली। तामिल, मलयालम, कन्नड और कन्नड की वोलियाँ, तुलु और कोडगु (कुर्ग की वोली) सव द्राविड़ वर्ग में हैं और तेलुगु या आंध्र भाषा अकेली एक वर्ग में है।

इन सव वोलियों में अधिक प्रसिद्ध गोंडी वोली है। इस गोंडी का अपनी पड़ोसिन तेलुगु की अपेक्षा द्राविड़ वर्ग के भाषाओं से अधिक साम्य है। उसके वोलनेवाले गोंड लोग आंध्र, उड़ीसा, वरार, चेदि-कोशल (वुंदेलखंड और छत्तीसगढ़) और मालवा के सीमांत पर रहते हैं। पर उनका केंद्र चेदि-कोशल ही माना जाता है। गोंड एक इतिहास-प्रसिद्ध जाति है, उसकी वोली गोंडी का प्रभाव उत्तराखंड में भी ढूँढ़ निकाला गया है, पर गोंडी वोली न तो कभी उन्नत भाषा वन सकी, न उसमें कोई साहित्य उत्पन्न हुआ और न उसकी कोई लिपि ही है। इसी से गोंडी शब्द कभी कभी भ्रमजनक भी होता है। वहुत से गोंड अव आर्य भाषा अथवा उससे मिली गोंडी वोली वोलते हैं, पर साधारण लोग गोंड मात्र की वोली को गोंडी मान लेते हैं। गोंड लोग अपने आपको 'कोइ' कहते हैं।

मध्यवर्ती वर्ग

गोंडी के पड़ोस में ही उड़ीसा में इसी वर्ग की 'कुई' नाम की वोली पाई जाती है। इसका संवंध तेलुगु से विशेष देख पड़ता है। इसमें क्रिया के रूप वड़े सरल होते हैं। इसके वोलनेवाले सवसे अधिक जंगली हैं; उनमें अभी तक कहीं कहीं नर-वलि की प्रथा पाई जाती है। उड़िया लोग उन्हें कोंधी, कांधी अथवा खोंड कहते हैं।

कुई के ठीक उत्तर छत्तीसगढ़ और छोटा नागपुर में (अर्थात् चेदि-कोशल और विहार के सीमांत पर) कुरुख लोग रहते हैं। ये ओराँव भी कहे जाते हैं। इनकी भाषा कुरुख अथवा ओराँव भी द्राविड़ से अधिक मिलती-जुलती है। इस बोली में कई शाखाएँ अर्थात् उप-बोलियाँ भी हैं। गंगा के ठीक तट पर राजमहल की पहाड़ियों में रहनेवाली मल्तो जाति की बोली 'मल्तो' कुरुख की ही एक शाखा है। विहार और उड़ीसा में कुरुख बोलियों का क्षेत्र मुंडा के क्षेत्र से छोटा नहीं है, पर अब कुरुख पर आर्य और मुंडा बोलियों का प्रभाव दिनों-दिन अधिक पड़ रहा है। राँची के पास के कुछ कुरुख लोगों में मुंडारी का अधिक प्रयोग होने लगा है।

गोंडी, कुई, कुरुख, मल्तो आदि के समान इस वर्ग की एक बोली कोलामी है। वह पश्चिमी बरार में बोली जाती है। उसका तेलुगु से अधिक साम्य है; उस पर मध्यभारत की आर्य भीली बोलियों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। टोडा की भाँति वह भी भीली के दबाव से मर रही है।

सुदूर कलात में ब्राहुई लोग एक द्राविड़ बोली बोलते हैं। इनमें से अनेक ने बलूची अथवा सिंधी को अपना लिया है। यहाँ के सभी स्त्री-पुरुष प्रायः दुभाषिए होते हैं। कभी कभी स्त्री सिंधी बोलती हैं और पति ब्राहुई। यहाँ किस प्रकार अन्य वर्गीय भाषाओं के बीच में एक द्राविड़ भाषा जीवित रह सकी, यह एक आश्चर्य की बात है।

ब्राहुई वर्ग

आंध्र वर्ग में केवल आंध्र अथवा तेलुगु भाषा है और अनेक बोलियाँ हैं। वास्तव में दक्षिण-पूर्व के विशाल क्षेत्र में केवल तेलुगु भाषा बोली जाती है। उसमें कोई विभाषा नहीं है। उसी भाषा को कई जातियाँ अथवा विदेशी व्यापारी थोड़ा विकृत करके बोलते हैं पर इससे भाषा का कुछ नहीं बिगड़ता। विभाषाएँ तो तब बनती हैं जब प्रांतीय भेद के कारण शिष्ट और सभ्य लोग भाषा में कुछ उच्चारण और शब्द-भांडार का भेद

आंध्र वर्ग

करने लगें और उस भेदोंवाली बोली में साहित्य-रचना भी करें। ऐसी बातें तेलुगु के संबंध में नहीं हैं। तेलुगु का व्यवहार दक्षिण में तामिल से भी अधिक होता है; उत्तर में चाँदा तक, पूर्व में बंगाल की खाड़ी पर चिकाकोल तक और पश्चिम में निजाम के आधे राज्य तक उसका प्रसार है। संस्कृत ग्रंथों का यही आंध्र देश है और मुसलमान इसी को तिलंगाना कहते थे। मैसूर में भी इसका व्यवहार पाया जाता है। बंबई और मध्यप्रदेश में भी इसके बोलनेवाले अच्छी संख्या में मिलते हैं। इस प्रकार द्राविड़ भाषाओं में संख्या की दृष्टि से यह सबसे बड़ी है। संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से यह तामिल से कुछ ही कम है। आधुनिक साहित्य के विचार से तो तेलुगु अपनी बहिन तामिल से भी बढ़ी-चढ़ी है। विजयानगरम् के कृष्णराय ने इसकी उन्नति के लिये बड़ा यत्न किया था, पर इसमें वाङ्मय बारहवीं शताब्दी के पहले का नहीं मिलता। इसमें संस्कृत का प्रचुर प्रयोग होता है। इसमें स्वर-माधुर्य इतना अधिक रहता है कि कठोर तामिल उसके सौंदर्य को कभी नहीं पाती। इसके सभी शब्द स्वरांत होते हैं, व्यंजन पद के अंत में आता ही नहीं, इसी से कुछ लोग इसे 'पूर्व की इटाली' भाषा (Italy of East) कहते हैं।

द्राविड़ वर्ग

द्राविड़ वर्ग की भाषाओं में तामिल सबसे अधिक उन्नत और साहित्यिक भाषा है। उसका वाङ्मय बड़ा विशाल है। आठवीं शताब्दी से प्रारंभ होकर आज तक उसमें साहित्य-रचना होती आ रही है। आज भी बँगला, हिंदी, मराठी आदि भारत की प्रमुख साहित्यिक भाषाओं की बराबरी में तामिल का भी नाम लिया जा सकता है। तामिल की विभाषाओं में परस्पर अधिक भेद नहीं पाया जाता, पर चलती भाषा के दो रूप पाए जाते हैं—एक छंदस—काव्य की भाषा जिसे वे लोग 'शेन' (=पूर्ण) कहते हैं और दूसरी बोलचाल की जिसे वे कोडुन (गँवारू) कहते हैं।

मलयालम 'तामिल की जेठी बेटी' कही जाती है। नवीं शताब्दी

से ही वह अपनी माँ तामिल से पृथक् हो गई थी और भारत के दक्षिण-पश्चिमी समुद्र-तट पर आज वही बोली जाती है। वह ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण संस्कृत-प्रधान हो गई है। कुछ मोपले अधिक शुद्ध और देशी मलयालम बोलते हैं, क्योंकि वे आर्य संस्कृति से कुछ दूर ही हैं। इस भाषा में साहित्य भी अच्छा है और तिरुवाँकूर तथा कोचीन के राजाओं की छत्रच्छाया में उसका अच्छा वर्धन और विकास भी हो रहा है।

मलयालम

कन्नड़ मैसूर की भाषा है। उसमें अच्छा साहित्य है। उसकी काव्यभाषा अब बड़ी प्राचीन और आर्ष हो गई है। उसका अधिक संबंध तामिल भाषा से है, पर उसकी लिपि तेलुगु से अधिक मिलती है। इस भाषा की भी स्पष्ट विभाशाएँ कोई नहीं हैं।

कन्नड़

इस द्राविड वर्ग की अन्य विभाषाओं में से तुलु एक बहुत छोटे क्षेत्र में बोली जाती है। यद्यपि इसमें साहित्य नहीं है पर कॉल्डवेल ने उसको विकास और उन्नति की दृष्टि से बहुत उच्च भाषाओं में माना है। कोडगु कन्नड़ और तुलु के बीच की भाषा है। उसमें दोनों के ही लक्षण मिलते हैं। भूगोल की दृष्टि से भी वह दोनों के बीच में पड़ती है। होड और काट नीलगिरि के जंगलियों की बोलियाँ हैं। इनमें से होड जाति और उनकी भाषा मरणोन्मुख है।

द्राविड़-परिवार की भाषाएँ प्रत्यय-संयोग-प्रधान और अनेकाक्षर होती हैं, पर उनके रूप मुंडा की अपेक्षा कहीं अधिक सरल और कम उपचय करनेवाले होते हैं। द्राविड़ भाषाओं में संयोग बड़ा स्पष्ट होता है और प्रकृति में कभी विकार नहीं होता। द्राविड़ भाषाओं में निर्जीव और निश्चेतन पदार्थ नपुंसक माने जाते हैं और अन्य शब्दों में पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग के सूचक पद जोड़ दिए जाते हैं। केवल अन्य पुरुष के सर्वनामों में और कुछ विशेषणों में स्त्रीलिंग और पुल्लिंग का भेद पाया जाता है। नपुंसक संज्ञाओं का प्रायः बहुवचन भी नहीं होता।

द्राविड़-परिवार के सामान्य लक्षण

विभक्तियों के लिये परसर्गों का प्रयोग होता है। जहाँ संस्कृत में विशेषण के रूप सर्वथा संज्ञा के समान होते हैं वहाँ द्राविड़ में विशेषण के विभक्ति रूप होते ही नहीं। मुंडा भाषाओं की भाँति द्राविड़ में भी उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप होते हैं, जिनमें से एक में श्रोता भी अंतर्भूत रहता है। इन भाषाओं में कर्मवाच्य नहीं होता। वास्तव में इनमें सच्ची क्रिया ही नहीं होती। इनकी वाक्य-रचना का अध्ययन बड़ा रोचक होता है। इन भाषाओं का और आर्य भाषाओं का एक-दूसरे पर बड़ा प्रभाव पड़ा है।

आर्य-परिवार

इस परिवार की भी तीन शाखाएँ भारत में पाई जाती हैं— ईरानी, दरद और भारतीय। ईरानी भाषाएँ बलूचिस्तान, सीमाप्रांत और पंजाब के सीमांत पर बोली जाती हैं। उनमें सबसे अधिक महत्त्व की और उन्नत भाषा फारसी है, जो पश्चिमी ईरानी कहलाती है, पर यह भारत में कहीं भी बोली नहीं जाती। भारत में उसके साहित्यिक और अमर (Classical) रूप का अध्ययन मात्र होता है। केवल बलूचिस्तान में देवारी नामक फारसी विभाषा का व्यवहार होता है। पर भारत के शिष्ट मुसलमान जिस उर्दू का व्यवहार करते हैं उसमें फारसी शब्द तो बहुत रहते हैं पर वह रचना की दृष्टि से 'खड़ी बोली' का दूसरा नाम है।

पूर्वी ईरान में बलोची, ओरमुड़ी, अफगान और ग़ालचा भाषाएँ हैं इनमें से जो भाषाएँ भारत में बोली जाती हैं उनमें से बलोची बलूचिस्तान और पश्चिमी सिंध में बोली जाती है। बलोची ही ईरानी भाषा में सबसे अधिक संहित और आर्ष मानी जाती है। उसकी रचना में बड़ी प्राचीनता और व्यवहिति की प्रवृत्ति की कमी पाई जाती है। उसकी पूर्वी बोलियों पर सिंधी, लहँदा आदि का अच्छा प्रभाव पड़ा है। उसमें अरबी और फारसी का भी पर्याप्त मिश्रण हुआ है। बलोची में ग्राम-गीतों और ग्राम-कथाओं का यत्किंचित् साहित्य भी मिलता है।

ओरमुड़ी अथवा बर्गिस्ता अफगानिस्तान के ठीक केंद्र में

रहनेवाले थोड़े से लोगों की बोली है। इसके कुछ वक्ता सीमाप्रांत में भी मिलते हैं।

अफगान-भाषा की अनेक पहाड़ी बोलियाँ हैं पर उस भाषा की विभाषाएँ दो ही हैं—पश्चिमोत्तर की पख्तो और दक्षिण-पूर्व की पश्तो। दोनों में भेद का आधार प्रधानतः उच्चारण-भेद है। भारत का संबंध पश्तो से अधिक है और अपनी प्रधानता के कारण प्रायः पश्तो अफगानी का पर्याय मानी जाती है। यह भाषा है तो बड़ी शक्तिशालिनी और स्पष्ट, पर साथ ही बड़ी कर्कश भी है। ग्रियर्सन ने एक कहावत उद्धृत की है कि पश्तो गर्दभ का रेंकना है। गलचा पामीर की बोलियाँ हैं। उनमें कोई साहित्य नहीं है और न उनका भारत के लिये अधिक महत्त्व ही है, पर उनका संबंध भारत की आर्य भाषाओं से अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। यास्क, पाणिनि और पतंजलि ने जिस कंबोज की चर्चा की है वह गलचा भाषा का पहाड़ी क्षेत्र है। महाभाष्य में 'शवतिर्गतिकर्मा' का जो उल्लेख मिलता है वह आज भी गलचा बोलियों में पाया जाता है। सुत का अर्थ गतः (गया) होता है। ग्रियर्सन ने इसी गलचा धातु का उदाहरण दिया है।

पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में दरदिस्तान है और वहाँ की भाषा तथा बोली दरद कहलाती है। दरद नाम संस्कृत साहित्य में सुपरिचित है। ग्रीक लेखकों ने भी उसका उल्लेख किया है। एक दिन दरद भाषा के बोलनेवाले भारत में दूर तक फैले हुए थे इसी से आज भी लहँदा, सिंधी, पंजाबी और सुदूर कोंकणी मराठी पर भी उसका प्रभाव लक्षित होता है। इस दरद भाषा को ही कई विद्वान् पिशाच अथवा पैशाची भाषा कहना अच्छा समझते हैं। पिशाची के तीन भेद ये हैं—खोवारवर्ग, काफिरवर्ग और दरदवर्ग। इनमें से दरद के तीन विभेद होते हैं—शीना, काश्मीरी और कोहिस्तानी।

खोवारी वर्ग ईरानी और दरद के बीच की कड़ी है। काफिर बोलियाँ चित्राल के पश्चिम में पहाड़ों में बोली जाती हैं। शीना

गिलगिट की घाटी में वोली जाती है। यही मूल दरदस्थान माना जाता है अत: शीना दरद की आधुनिक प्रतिनिधि है। काश्मीरी ही ऐसी दरद भापा है जिसमें अच्छा साहित्य है।

भारतवर्ष की आधुनिक आर्य भापाएँ उसी भारोपीय परिवार की हैं जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं।

अपने 'भापा सर्वे' में ग्रियर्सन ने भिन्न भिन्न भापाओं के उच्चारण तथा व्याकरण का विचार करके इन भारतीय आर्य भापाओं को

वर्गीकरण

तीन उपशाखाओं में विभक्त किया है—(१) अंतरंग, (२) वहिरंग और (३) मध्यवर्ती। वह वर्गीकरण वृत्त द्वारा इस प्रकार दिखाया जाता है—

(क) वहिरंग उपशाखा
- (१) पश्चिमोत्तरी वर्ग। १—लहँदा, २—सिंधी।
- (२) दक्षिणी वर्ग—३—मराठी।
- (३) पूर्वी वर्ग—४—आसामी, ५—वंगाली, ६—उड़िया, ७—विहारी।

(ख) मध्यवर्त्ती उपशाखा
- (४) मध्यवर्त्ती वर्ग—८-पूर्वी हिंदी।

(ग) अंतरंग उपशाखा
- (५) केंद्र वर्ग—९-पश्चिमी हिंदी, १०-पंजावी, ११-गुजराती, १२-भीली, १३-खानदेशी, १४-राजस्थानी।
- (६) पहाड़ी वर्ग—१५-पूर्वी पहाड़ी अथवा नैपाली, १६-केंद्रवर्ती पहाड़ी, १७-पश्चिमी पहाड़ी।

इस प्रकार १७ भापाओं के ६ वर्ग और ३ उपशाखाएँ मानी जा सकती हैं, पर कुछ लोगों को यह अंतरंग और वहिरंग का भेद ठीक नहीं प्रतीत होता। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने लिखा है कि सुदूर पश्चिम और पूर्व की भापाएँ एक साथ नहीं रखी जा सकतीं। उन्होंने इसके लिये अच्छे प्रमाण भी दिए हैं और भापाओं का वर्गीकरण नीचे लिखे ढंग से किया है।

(क) उदीच्य (उत्तरी वर्ग)—१-सिंधी, २-लहँदा, ३-पंजाबी।

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी वर्ग)—४-गुजराती, ५-राजस्थानी।

(ग) मध्यदेशीय (बिचला वर्ग)—६-पश्चिमी हिंदी।

(घ) प्राच्य (पूर्वी वर्ग)—७-पूर्वी हिंदी, ८—बिहारी, ९—उड़िया, १०—बँगला, ११—आसामी।

(ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी वर्ग)—१२-मराठी।

पहाड़ी बोलियों को डा० चैटर्जी ने भी राजस्थानी का रूपांतर माना है, पर उनको निश्चित रूप से किसी भी वर्ग में रख सकना सहज नहीं है। उनका एक अलग वर्ग मानना ही ठीक हो सकता है।

इस प्रकार हम ग्रियर्सन और चैटर्जी के नाम से दो पक्षों का उल्लेख कर रहे हैं—एक अंतरंग और बहिरंग के भेद को ठीक माननेवाला और दूसरा उसका विरोधी। पर साधारण विद्यार्थी के लिये चैटर्जी का वर्गीकरण स्वाभाविक और सरल ज्ञात होता है; क्योंकि प्राचीन काल से आज तक मध्यदेश की ही भाषा सर्वप्रधान राष्ट्रभाषा होती आई है, अतः उसे अर्थात् 'पश्चिमी हिंदी' (अथवा केवल 'हिंदी') को केंद्र मानकर उसके चारों ओर के चार भाषा-वर्गों की परीक्षा करना सुविधाजनक होता है। इसी से स्वयं ग्रियर्सन ने अपने अन्य लेखों में सर्वप्रथम 'हिंदी' को मध्यदेशीय वर्ग मानकर वर्णन किया है और दूसरे वर्ग में उन भाषाओं को रखा है जो इस मध्यदेशीय भाषा (हिंदी) और बहिरंग भाषाओं के बीच में अर्थात् सीमांत पर पड़ती हैं। इस प्रकार उन्होंने नीचे लिखे तीन भाग किए हैं—

(क) मध्यदेशीय भाषा १—हिंदी।

(ख) अंतर्वर्ती अथवा मध्यग भाषाएँ।

(अ) मध्यदेशीय भाषा से विशेष घनिष्ठतावाली–२-पंजाबी, ३-राजस्थानी, ४-गुजराती, ५—पूर्वी पहाड़ी, खसकुरा, अथवा नैपाली, ६-केंद्रस्थ पहाड़ी, ७-पश्चिमी पहाड़ी।

(आ) बहिरङ्ग भाषाओं से अधिक संबद्ध—८—पूर्वी हिंदी।

(ग) बहिरंग भाषाएँ—

(अ) पश्चिमोत्तर वर्ग—९—लहँदा, १०-सिंधी।
(आ) दक्षिणी वर्ग—११—मराठी।
(इ) पूर्वी वर्ग—१२—बिहारी, १३—उड़िया, १४—बंगाली, १५-आसामी।

(सूचना—भीली गुजराती में और खानदेशी राजस्थानी में अंतर्भूत हो जाती है।)

हम ग्रियर्सन के इस अंतिम वर्गीकरण को मानकर ही आधुनिक देशभाषाओं का संक्षिप्त परिचय देंगे।

भारतवर्ष के सिंधु, सिंध और सिंधी के ही दूसरे रूप हिंदु, हिंद और हिंदी माने जा सकते हैं, पर हमारी भाषा में आज ये भिन्न भिन्न शब्द

हिंदी

माने जाते हैं। सिंधु एक नदी को, सिंध एक देश को और सिंधी उस देश के निवासी को कहते हैं, तथा फारसी से आए हुए हिंदु, हिंद और हिंदी सर्वथा भिन्न अर्थ में आते हैं। हिंदु से एक जाति, एक धर्म अथवा उस जाति या धर्म के माननेवाले व्यक्ति का बोध होता है। हिंद से पूरे देश भारतवर्ष का अर्थ लिया जाता है और हिंदी एक भाषा का वाचक होता है।

प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिंदवी या हिंदी शब्द फारसी भाषा का है और इसका अर्थ 'हिंद का' होता है, अतः यह फारसी ग्रंथों

हिंदी शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ

में हिंद देश के वासी और हिंद देश की भाषा दोनों अर्थों में आता था और आज भी आ सकता है। पंजाब का रहनेवाला देहाती आज भी अपने को भारतवासी न कहकर हिंदी ही कहता है, पर हमें आज हिंदी के भाषा-संबंधी अर्थ से ही विशेष प्रयोजन है। शब्दार्थ की दृष्टि से इस अर्थ में भी हिंदी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जानेवाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिये हो सकता है, किंतु व्यवहार में हिंदी उस बड़े भूमिभाग की भाषा मानी जाती है जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश, पूरब में भागलपुर,

दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। इस भूमिभाग के निवासियों के साहित्य, पत्र-पत्रिका, शिक्षादीक्षा, बोलचाल आदि की भाषा हिंदी है। इस अर्थ में बिहारी (भोजपुरी, मगही और मैथिली), राजस्थानी (मारवाड़ी, मेवाती आदि), पूर्वी हिंदी (अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी) पहाड़ी आदि सभी हिंदी की विभाषाएँ मानी जा सकती हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ११ करोड़ है। यह हिंदी का प्रचलित अर्थ है। भाषा-शास्त्रीय अर्थ इससे कुछ भिन्न और संकुचित होता है।

हिंदी का शास्त्रीय अर्थ

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस विशाल भूमि-भाग अथवा हिंदी खंड में तीन-चार भाषाएँ मानी जाती हैं। राजस्थान की राजस्थानी, बिहार तथा बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी की बिहारी, उत्तर में पहाड़ों की पहाड़ी और अवध तथा छत्तीसगढ़ की पूर्वी हिंदी आदि पृथक् भाषाएँ मानी जाती हैं। इस प्रकार हिंदी केवल उस खंड की भाषा को कह सकते हैं जिसे प्राचीन काल में मध्यदेश अथवा अंतर्वेद कहते थे। अतः यदि आगरा को हिंदी का केंद्र मानें तो उत्तर में हिमालय की तराई तक और दक्षिण में नर्मदा की घाटी तक, पूर्व में कानपुर तक और पश्चिम में दिल्ली के भी आगे तक हिंदी का क्षेत्र माना जाता है। इसके पश्चिम में पंजाबी और राजस्थानी बोली जाती हैं और पूरब में पूर्वी हिंदी। कुछ लोग हिंदी के दो भेद मानते हैं—पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी। पर आधुनिक विद्वान् पश्चिमी हिंदी को ही हिंदी कहना शास्त्रीय समझते हैं। अतः भाषा-वैज्ञानिक-विवेचन में पूर्वी हिंदी भी 'हिंदी' से पृथक् भाषा मानी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो हिंदी शौरसेनी की वंशज है और पूर्वी हिंदी अर्धमागधी की। इसी से ग्रियर्सन, चटर्जी आदि ने हिंदी शब्द का पश्चिमी हिंदी के ही अर्थ में व्यवहार किया है और व्रज, कन्नौजी, बुंदेली, बाँगरू और खड़ी बोली (हिंदुस्तानी) को हिंदी की विभाषा माना है—अवधी, छत्तीसगढ़ी आदि को नहीं। अभी हिंदी लेखकों के अतिरिक्त अँगरेजी

लेखक भी 'हिंदी' शब्द का मनचाहा अर्थ किया करते हैं इससे भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को हिंदी शब्द के (१) मूल शब्दार्थ, (२) प्रचलित और साहित्यिक अर्थ तथा (३) शास्त्रीय अर्थ को भली भाँति समझ लेना चाहिए। तीनों अर्थ ठीक हैं पर भाषा-विज्ञान में वैज्ञानिक खोज से सिद्ध और शास्त्र-प्रयुक्त अर्थ ही लेना चाहिए।

हिंदी (पश्चिमी हिंदी अथवा केंद्रीय हिंदी-आर्य भाषा) की प्रधान पाँच विभाषाएँ हैं—खड़ी बोली, व्रजभाषा, कन्नौजी, बाँगरू और बुंदेली।

खड़ी बोली

आज खड़ी बोली राष्ट्र की भाषा है, साहित्य और व्यवहार सबमें उसी का बोलबाला है, इसी से वह अनेक नामों और रूपों में भी देख पड़ती है। प्रायः लोग व्रजभाषा, अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखाने के लिये आधुनिक साहित्यिक हिंदी को 'खड़ी बोली' कहते हैं। यह इसका सामान्य अर्थ है, पर इसका मूल अर्थ लें तो खड़ी बोली उस बोली को कहते हैं जो रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अंबाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें यद्यपि फारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार अधिक होता है, पर वे शब्द तद्भव अथवा अर्धतत्सम होते हैं। इसकी उत्पत्ति के विषय में अब यह माना जाने लगा है कि इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। उस पर कुछ पंजाबी का भी प्रभाव देख पड़ता है।

यह खड़ी बोली ही आजकल की हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी तीनों का मूलाधार है। जैसा हम कह चुके हैं, खड़ी बोली अपने शुद्ध रूप में केवल एक बोली है, पर जब वह साहित्यिक

उच्च हिंदी

रूप धारण करती है तब कभी वह 'हिंदी' कही जाती है और कभी 'उर्दू'। जिस भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों का विशेष व्यवहार होता है वह हिंदी (अथवा यूरोपीय विद्वानों की उच्च हिंदी) कही जाती है। इसी हिंदी में वर्तमान युग का साहित्य निर्मित हो रहा है। पढ़े-लिखे हिंदू इसी का व्यवहार

करते हैं। यही खड़ी बोली का साहित्यिक रूपी हिंदी के नाम से राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर बिठाया जा रहा है।

जब वही खड़ी बोली फारसी-अरबी के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों को इतना अपना लेती है कि कभी कभी उसकी वाक्य-रचना पर भी कुछ विदेशी रंग चढ़ जाता है तब उसे उर्दू कहते हैं। यही उर्दू भारत के मुसलमानों की साहित्यिक भाषा है। इस उर्दू के भी दो रूप देखे जाते हैं। एक दिल्ली लखनऊ आदि की तत्सम बहुला कठिन उर्दू और दूसरी हैदराबाद की सरल दक्खिनी उर्दू (अथवा हिन्दुस्तानी)। इस प्रकार भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि में हिंदी और उर्दू खड़ी बोली के दो साहित्यिकरूप मात्र हैं। एक का ढाँचा भारतीय परंपरागत प्राप्त है और दूसरी को फारसी का आधार बनाकर विकसित किया जा रहा है।

उर्दू

खड़ी बोली का एक रूप और होता है जिसे न तो शुद्ध साहित्यिक ही कह सकते हैं और न ठेठ बोलचाल की बोली ही कह सकते हैं। वह है हिंदुस्तानी जो विशाल हिंदी प्रांत के लोगों की परिमार्जित बोली है। इसमें तत्सम शब्दों का व्यवहार कम होता है, पर नित्य व्यवहार के शब्द देशी-विदेशी सभी काम में आते हैं। संस्कृत, फारसी, अरबी के अतिरिक्त अँगरेजी ने भी हिंदुस्तानी में स्थान पा लिया है। इसी से एक विद्वान् ने लिखा है कि "पुरानी हिंदी, उर्दू और अँगरेजी के मिश्रण से जो एक नई जबान आप से आप बन गई है वह हिंदुस्तानी के नाम से मशहूर है।" यह उद्धरण भी हिंदुस्तानी का अच्छा नमूना है। यह भाषा अभी तक बोलचाल की बोली ही है। इसमें कोई साहित्य नहीं है। किस्से, गजल, भजन आदि की भाषा को, यदि चाहें तो, हिंदुस्तानी का ही एक रूप कह सकते हैं। आजकल कुछ लोग हिंदुस्तानी को साहित्य की भाषा बनाने का यत्न कर रहे हैं पर वर्तमान अवस्था में वह राष्ट्रीय बोली ही कही जा सकती है। उसकी उत्पत्ति का कारण भी परस्पर विनिमय की इच्छा ही है। जिस प्रकार उर्दू के रूप में खड़ी बोली ने

हिंदुस्तानी

मुसलमानों की माँग पूरी की है, उसी प्रकार अँगरेजी शासन और शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये हिंदुस्तानी चेष्टा कर रही है। वास्तव में 'हिंदुस्तानी' नाम के जन्मदाता अँगरेज अफसर हैं। वे जिस साधारण बोली में साधारण लोगों से—साधारण पढ़े और बे-पढ़े दोनों ढंग के लोगों से बातचीत और व्यवहार करते थे उसे हिंदुस्तानी कहने लगे। जब हिंदी और उर्दू साहित्य-सेवा में विशेष रूप से लग गई तब जो बोली जनता में बच रही है उसे हिंदुस्तानी कहा जाने लगा। यदि हम चाहें तो हिंदुस्तानी को चाहे हिंदी का, चाहे उर्दू का बोलचाल का रूप कह सकते हैं। अतः हिंदी, उर्दू हिंदुस्तानी तीनों ही खड़ी बोली के रूपांतर मात्र हैं। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शास्त्रों में खड़ी बोली का अधिक प्रयोग एक प्रांतीय बोली के अर्थ में ही होता है।

बाँगरू—हिंदी की दूसरी विभाषा बाँगरू बोली है। यह बाँगर अर्थात् पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग की बोली है। देहली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा और झींद आदि की ग्रामीण बोली यही बाँगरू है। यह पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली तीनों की खिचड़ी है। बाँगरू बोलनेवालों की संख्या बाईस लाख है। बाँगरू बोली की पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। पानीपत और कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध मैदान इसी बोली की सीमा के अंदर पड़ते हैं।

व्रजभाषा—व्रजमंडल में व्रजभाषा बोली जाती है। इसका विशुद्ध रूप आज भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोला जाता है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ७९ लाख है। व्रजभाषा में हिंदी का इतना बड़ा और सुंदर साहित्य लिखा गया है कि उस बोली अथवा विभाषा न कहकर भाषा का नाम मिल गया था, पर आज तो वह हिंदी की एक विभाषा मात्र कही जा सकती है। आज भी अनेक कवि पुरानी प्रथा व्रजभाषा में काव्य लिखते हैं।

कनौजी— गंगा के मध्य दोआब की बोली कनौजी है। इसमें भी [illegible] साहित्य मिलता है, पर वह भी व्रजभाषा का ही साहित्य माना

जाता है, क्योंकि साहित्यिक कन्नौजी और ब्रज में कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता।

बुंदेली—यह बुंदेलखंड की भाषा है और ब्रजभाषा के क्षेत्र के दक्षिण में बोली जाती है। शुद्ध रूप में यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भोपाल, ओड़छा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाए जाते हैं। बुंदेली के बोलनेवाले लगभग ६९ लाख हैं। मध्यकाल में बुंदेलखंड में अच्छे कवि हुए हैं पर उनकी भाषा ब्रज ही रही है। उनकी ब्रजभाषा पर कभी कभी बुंदेली की अच्छी छाप देख पड़ती है।

मध्यवर्ती भाषाएँ

'मध्यवर्ती' कहने का यही अभिप्राय है कि ये भाषाएँ मध्यदेशी भाषा और बहिरंग भाषाओं के बीच की कड़ी हैं अतः उनमें दोनों के लक्षण मिलते हैं। मध्यदेश के पश्चिम की भाषाओं में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं पर उसके पूर्व की 'पूर्वी हिंदी' में बहिरंग वर्ग के इतने अधिक लक्षण मिलते हैं कि उसे बहिरंग वर्ग की ही भाषा कहा जा सकता है।

जैसे पीछे तीसरे ढंग के वर्गीकरण में स्पष्ट हो गया है, ये मध्यवर्ती भाषाएँ सात हैं—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केंद्रीय पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी और पूर्वी हिंदी। ये सातों भाषाएँ हिंदी को—मध्यदेश की भाषा को—घेरे हुए हैं। साहित्यिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ये सब हिंदी की विभाषाएँ (अथवा उपभाषाएँ) मानी जा सकती हैं, पर भाषाशास्त्र भी दृष्टि से ये स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। इनमें पहली छः में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं पर पूर्वी हिंदी में बहिरंग लक्षण ही प्रधान हैं।

पूरे पंजाब प्रांत की भाषा को 'पंजाबी' कह सकते हैं, इसी से कई लेखक पश्चिमी पंजाबी और पूर्वी पंजाबी दो भेद करते हैं, पर भाषा-शास्त्री प्रायः पूर्वी पंजाबी को पंजाबी कहते हैं। अतः हम भी पंजाबी का इसी अर्थ में व्यवहार करेंगे। पश्चिमी पंजाबी को

लहँदा कहते हैं। अमृतसर के आसपास की भाषा शुद्ध पंजाबी मानी जाती है। यद्यपि स्थानीय बोलियों में भेद मिलता है पर सच्ची विभाषा डोग्री ही है। जंबू रियासत और काँगड़ा जिले में डोग्री बोली जाती है। इसकी लिपि तकरी अथवा टकरी है। टक्क जाति से इसका संबंध जोड़ा जाता है। पंजाबी में थोड़ा साहित्य भी है। पंजाबी ही एक ऐसी मध्यदेश से संबद्ध भाषा है जिसमें संस्कृत और फारसी शब्दों की भरती नहीं है। इस भाषा और वैदिक संस्कृत-सुलभ रस और सुंदर पुरुषत्व देख पड़ता है। इस भाषा में इसके बोलनेवाले बलिष्ठ और कठोर किसानों की कठोरता और सादगी मिलती है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि पंजाबी ही एक ऐसी आधुनिक हिंदी आर्य भाषा है जिसमें वैदिक अथवा तिब्बत-चीनी भाषा के समान स्वर पाये जाते हैं।

पंजाबी

पंजाबी के दक्षिण में राजस्थानी है। जिस प्रकार हिंदी का उत्तर-पश्चिम की ओर फैला हुआ रूप पंजाबी है, उसी प्रकार हिंदी का दक्षिण-पश्चिमी विस्तार राजस्थानी है। इसी विस्तार का अंतिम भाग गुजराती है। राजस्थानी और गुजराती वास्तव में इतनी परस्पर संबद्ध हैं कि दोनों को एक ही भाषा की दो विभाषाएँ मानना भी अनुचित न होगा। पर आजकल ये दो स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। दोनों में स्वतंत्र साहित्य की भी रचना हो रही है। राजस्थानी की मेवाती, मालवी, मारवाड़ी और जयपुरी आदि अनेक विभाषाएँ हैं, पर गुजराती में कोई निश्चित विभाषाएँ नहीं हैं। उत्तर और दक्षिण की गुजराती की बोली में थोड़ा स्थानीय भेद पाया जाता है।

राजस्थानी और गुजराती

मारवाड़ी और जयपुरी से मिलती-जुलती पहाड़ी भाषाएँ हिंदी के उत्तर में मिलती हैं। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है इसी से यह नेपाली भी कही जाती है। इसे ही पर्वतिया अथवा खसकुरा भी कहते हैं। यह नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। इसका साहित्य सर्वथा

पहाड़ी

आधुनिक है। केंद्रवर्ती पहाड़ी गढ़वाल रियासत तथा कुमाऊँ और गढ़वाल जिलों में बोली जाती है। इसकी दो विभाषाएँ हैं—कुमाउनी और गढ़वाली। इस भाषा में भी कुछ पुस्तकें थोड़े दिन हुए, लिखी गई हैं। यह भी नागरी अक्षरों में लिखी जाती हैं। पश्चिमी पहाड़ी बहुत सी पहाड़ी बोलियों के समूह का नाम है। उसकी कोई प्रधान विभाषा नहीं है और न उसमें कोई उल्लेखनीय साहित्य है। कुछ ग्राम-गीत भर मिलते हैं। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। संयुक्तप्रांत के जौनसार-बावर से लेकर पंजाब प्रान्त में सिरमौर रियासत, शिमला पहाड़ी, कुड़्लूी, मंडी, चंबा होते हुए पश्चिम में कशमीर की भदरवार जागीर तक पश्चिमी पहाड़ी बोलियाँ फैली हुई हैं। इसमें जौनसारी, कुड़्लूी, चंबाली आदि अनेक विभाषाएँ हैं। ये टकरी अथवा तक्करी लिपि में लिखी जाती हैं।

पूर्वी हिंदी

इसे हिंदी का पूर्वी विस्तार कह सकते हैं, पर इस भाषा में इतने बहिरंग भाषाओं के लक्षण मिलते हैं कि इसे अर्ध-बिहारी भी कहा जा सकता है। यही एक ऐसी मध्यवर्ती भाषा है जिसमें बहिरंग भाषाओं के अधिक लक्षण मिलते हैं। यह हिंदी और बिहारी के मध्य की भाषा है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी को ही कोशली या बैसवाड़ी भी कहते हैं। वास्तव में दक्षिण-पश्चिमी अवधी ही बैसवाड़ी कही जाती है। पूर्वी हिंदी नागरी के अतिरिक्त कैथी में भी कभी कभी लिखी मिलती है। इस भाषा के कवि हिंदी-साहित्य के अमर कवि हैं जैसे तुलसी और जायसी।

इनका सबसे बड़ा भेदक यह है कि मध्यदेश की भाषा अर्थात् हिंदी की अपेक्षा ये सब अधिक संहिति-प्रधान हैं। हिंदी की रचना

बहिरंग भाषाएँ

सर्वथा व्यवहित है, पर इन बहिरंग भाषाओं में संहित रचना भी मिलती है। वे व्यवहिति से संहिति की ओर जा रही हैं। मध्यवर्ती भाषाओं में केवल पूर्वी हिंदी कुछ संहित पाई जाती है।

यह पश्चिम पंजाव की भापा है इसी से कुछ लोग इसे पश्चिमी पंजावी भी कहा करते हैं। यह जटकी, अच्छी, हिंदकी, डिलाही आदि नामों से पुकारी जाती है। कुछ विद्वान् इसे लहँदी भी कहते हैं पर लहँदा तो संज्ञा है अतः उसका स्त्रीलिंग नहीं हो सकता। लहँदा एक नया नाम ही चल पड़ा है, अव उसमें उस अर्थ के द्योतन की शक्ति आ गई है।

लहँदा

लहँदा की चार विभापाएँ हैं—(१) एक केन्द्रीय लहँदा जो नमक की पहाड़ी के दक्षिण प्रदेश में बोली जाती है और जो टकसाली मानी जाती है, (२) दूसरी दक्षिणी अथवा मुल्तानी जो मुल्तान के आस-पास बोली जाती है, (३) तीसरी उत्तर-पूर्वी अथवा पोठवारी और (४) चौथी उत्तर-पश्चिमी अर्थात् धन्नी। यह उत्तर में हजारा जिले तक पाई जाती है। लहँदा में साधारण गीतों के अतिरिक्त कोई साहित्य नहीं है। इसकी अपनी लिपि लंडा है।

यह दूसरी वहिरंग भापा है, और सिंध नदी के दोनों तटों पर वसे हुए सिंध देश की बोली है। इसमें पाँच विभापाएँ हैं—विचोली सिरैकी, लारी थरेली और कच्छी। विचोली मध्य सिंध की टकसाली भापा है। सिंधी के उत्तर में लहँदा, दक्षिण में गुजराती और पूर्व में राजस्थानी है। सिंधी का भी साहित्य छोटा सा है। इसकी भी लिपि लंडा है, पर गुरुमुखी और नागरी का भी प्रायः व्यवहार होता है।

सिंधी

कच्छी बोली के दक्षिण में गुजराती है। यद्यपि उसका क्षेत्र पहले वहिरंग भापा का क्षेत्र रह चुका है पर गुजराती मध्यवर्ती भापा है अतः यहाँ वहिरंग भापा की शृंखला टूट सी गई है। इसके वाद गुजराती के दक्षिण में मराठी आती है यही दक्षिणी बहिरंग भाषा है। यह पश्चिमी घाट और अरब समुद्र के मध्य की भाषा है। पूना की भाषा ही टकसाली मानी जाती है। पर मराठी बरार में से होते हुए बस्तर तक बोली जाती है। इसके

मराठी

दक्षिण में द्राविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं। पूर्व में मराठी अपनी पड़ोसिन छत्तीसगढ़ी से मिलती है।

मराठी की तीन विभाषाएँ हैं। पूना के आसपास की टकसाली बोली देशी मराठी कहलाती है। यही थोड़े भेद से उत्तर कोंकण में बोली जाती है, इससे इसे कोंकणी भी कहते हैं। पर कोंकणी एक दूसरी मराठी बोली का नाम है जो दक्षिणी कोंकण में बोली जाती है। पारिभाषिक अर्थ में दक्षिणी कोंकणी ही कोंकणी मानी जाती है। मराठी की तीसरी विभाषा बरार की बरारी है। हल्बी मराठी और द्राविड़ की खिचड़ी बोली है जो बस्तर में बोली जाती है।

मराठी भाषा में तद्धितांत, नामधातु आदि शब्दों का व्यवहार विशेष रूप से होता है। इसमें वैदिक स्वर के भी कुछ चिह्न मिलते हैं।

पूर्व की ओर आने पर सबसे पहली बहिरंग भाषा बिहारी मिलती है। बिहारी केवल बिहार में ही नहीं, संयुक्तप्रांत के पूर्वी भाग अर्थात् गोरखपुर-बनारस कमिश्नरियों से लेकर पूरे बिहार प्रांत में तथा छोटा नागपुर में भी बोली जाती है। यह पूर्वी हिंदी के समान हिंदी की चचेरी बहिन मानी जा सकती है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं—(१) मैथिलि, जो गंगा के उत्तर दरभंगा के आसपास बोली जाती है। (२) मगही जिसके केंद्र पटना और गया हैं, (३) भोजपुरी, जो गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियों से लेकर बिहार प्रांत के आरा (शाहाबाद), चंपारन और सारन जिलों में बोली जाती है। यह भोजपुरी अपने वर्ग की ही मैथिली-मगही से इतनी भिन्न होती है कि चैटर्जी भोजपुरी को एक पृथक् वर्ग में ही रखना उचित समझते हैं।

बिहारी

बिहार में तीन लिपियाँ प्रचलित हैं। छपाई नागरी लिपि में होती है। साधारण व्यवहार में कैथी चलती है और कुछ मैथिलों में मैथिली लिपि चलती है।

ओढ्री, उत्कली अथवा उड़िया उड़ीसा की भाषा है। इसमें कोई विभाषा नहीं है। इसकी एक खिचड़ी बोली है जिसे भत्री कहते हैं। भत्री में उड़िया, मराठी और द्राविड़ तीनों आकर मिल गई हैं। उड़िया का साहित्य अच्छा बड़ा है।

उड़िया

बंगाल की भाषा बंगाली प्रसिद्ध साहित्य-संपन्न भाषाओं में से एक है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं। हुगली के आसपास की पश्चिमी बोली टकसाली मानी जाती है। बँगला लिपि देवनागरी का ही एक रूपांतर है।

बंगाली

आसामी बहिरंग समुदाय की अंतिम भाषा है। यह आसाम की भाषा है। वहाँ के लोग उसे असामिया कहते हैं। आसामी में प्राचीन साहित्य भी अच्छा है। यद्यपि आसामी बँगला से बहुत कुछ मिलती है तो भी व्याकरण और उच्चारण में पर्याप्त भेद है। यह भी एक प्रकार की बँगला लिपि में ही लिखी जाती है।

आसामी

चौथा प्रकरण

ध्वनि और ध्वनि-विकार

सामान्य परिभाषा के अनुसार भाषा ध्वनि-संकेतों का समूह मात्र है। इसी से ध्वनि में वर्ण, शब्द और भाषा सभी का अंतर्भाव हो जाता है। ध्वनि का यह बड़ा व्यापक अर्थ है, पर

ध्वनि

सामान्य विद्यार्थी वर्ण के लिये ध्वनि का व्यवहार करता है और यही अर्थ हिंदी-भाषा-शास्त्रियों द्वारा भी स्वीकृत हुआ है। इतना संकुचित अर्थ लेने पर भी ध्वनि शब्द का व्यवहार कई भिन्न भिन्न अर्थों में होता है। ध्वनि से ध्वनि-मात्र, भाषण-ध्वनि और वर्ण अर्थात् ध्वनि-सामान्य तीनों का अर्थ लिया जाता है। वर्ण का सामान्य अर्थ वही है जो 'वर्णमाला' शब्द में वर्ण का अर्थ समझा जाता है। पर भाषण-ध्वनि और ध्वनि-मात्र का व्यवहार सर्वथा पारिभाषिक अर्थ में ही होता है।

भाषणावयवों द्वारा उत्पन्न निश्चित श्रावण-गुण (अर्थात् श्रवण-प्रत्यक्ष) वाली ध्वनि भाषण-ध्वनि कही जाती है। सिद्ध भाषण-ध्वनि में कोई भेद अथवा अंतर नहीं हो सकता। किसी भी गुण के कारण यदि ध्वनि में किंचित् भी विकार उत्पन्न होता है तो वह विकृत-ध्वनि एक दूसरी ही भाषण-ध्वनि कही जाती है। इससे परीक्षा द्वारा जो भाषण-ध्वनि का रूप और गुण निश्चित हो जाता है वह स्थिर और सिद्ध हो जाता है।

कई भाषाओं में इस प्रकार की भाषण-ध्वनि बहुत अधिक होती है। पर उन सभी के लिये पृथक् पृथक् न तो लिपि-संकेत ही होते हैं और न उनका होना अत्यावश्यक ही समझा जाता है, क्योंकि कई ध्वनियाँ संबद्ध भाषण में विशेष स्थान में ही प्रयुक्त होती हैं और उनका

वर्गीकरण ऐसी दूसरी ध्वनियों के साथ होता है जिनका उनसे कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता। प्रायः ऐसी अनेक भाषण-ध्वनियों के लिये एक ध्वनि-संकेत का व्यवहार होता है। ऐसी सजातीय ध्वनियों के कुल को ध्वनि-मात्र अथवा ध्वनि-श्रेणी कहते हैं। यदि शास्त्रीय विधि से कहें तो ध्वनि-मात्र किसी भाषा-विशेष की ऐसी संबंधी ध्वनियों के कुल को कहा जाता है, जिन ध्वनियों का स्थान एक संबद्ध भाषण में अन्य कोई ध्वनि नहीं ले सकती। इस प्रकार ध्वनि-मात्र एक जाति है, जिसमें अनेक भाषण-ध्वनियाँ होती हैं और प्रत्येक भाषण-ध्वनि की एक अलग सत्ता या व्यक्तित्व होता है। दोनों में प्रधान भेद यही है एक ध्वनि-मात्र कई स्थानों में सामान्य रूप से व्यवहृत होती है, पर भाषण-ध्वनि में व्यक्ति-वैचित्र्य रहता है। एक भाषण-ध्वनि के स्थान-विशेष में दूसरी भाषण-ध्वनि नहीं आ सकती। इसी से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि व्यवहार और शिक्षा का संबंध उस सामान्य ध्वनि से रहता है जिसे ध्वनि-मात्र (वर्ण) कहते हैं और जिसके लिये लिखित संकेत भी रहता है।

'जल्दी' और 'माल्टा' शब्दों में एक ही 'ल्' ध्वनि प्रयुक्त हुई है, पर परीक्षा करके विशेषज्ञों ने निश्चय किया है कि पहला 'ल' दंत्य है और दूसरा ईषत् मूर्धन्य है, अर्थात् भाषण में (= बोलने में) दोनों शब्दों के 'ल्' का उच्चारण एक सा नहीं होता। अतः ध्वनि-मात्र तो एक ही है पर भाषण-ध्वनियाँ दो हैं। इसी 'ल्' का महाप्राण उच्चारण भी होता है। जैसे 'कल्ही' में 'ल्' के समान अल्पप्राण नहीं है, प्रत्युत स्पष्ट महाप्राण है। वही 'ल्' तिलक शब्द में मूर्धन्य है। यद्यपि हिंदी अथवा उर्दू में 'ल्' मूर्धन्य नहीं होता; वह दंतमूल अथवा वर्त्स से उच्चरित होता है, पर मराठी तिलक शब्द के आ जाने पर उसका वैसा ही मराठीवाला मूर्धन्य उच्चारण किया जाता है। ये सब एक ध्वनि-मात्र की भिन्न भिन्न भाषण-ध्वनियाँ हैं। एक दूसरा 'अ' का उदाहरण लें तो अ वर्ण के दो भेद माने जाते हैं—एक संवृत अ और दूसरा विवृत अ। ये दोनों ध्वनि-मात्र हैं, पर एक संवृत 'अ' की भी वक्ता

के भाषणावयवों में भेद होने से तथा भिन्न भिन्न स्थलों में प्रयुक्त होने से अनेक भाषण-ध्वनियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यद्यपि साधारण श्रोता का कान इन सूक्ष्म भेदों का भेद नहीं कर पाता तथापि वैज्ञानिक परीक्षा उन सब ध्वनियों को भिन्न मानती है, पर व्यवहार में ध्वनि-मात्र ही स्पष्ट रहती हैं। अतः संवृत अ के लिये केवल एक चिह्न रख लिया जाता है। अँगरेजी का एक उदाहरण लें तो कील और काल (keel and call) में एक ही क ध्वनि-मात्र (K-phoneme) है, पर भाषण-ध्वनि दो भिन्न भिन्न हैं। कील में जो क् ध्वनि है वह ई के पूर्व में आई है, वहाँ काल वाली क् ध्वनि कभी नहीं आ सकती। इसी प्रकार किंग और क्वीन (king और queen) में वही एक क ध्वनि-मात्र है। पर पहले में क् तालव्य सा है और दूसरे में शुद्ध कंठ्य। और स्पष्ट करने के लिये हम बँगला की न और ह ध्वनि-मात्रों को लेंगे। बँगला की एक न-ध्वनि-मात्र के प्रयोगानुसार भाषण के चार भेद हो जाते हैं पहला 'न' वर्त्स्य माना जाता है। पर त और द के पूर्व में वही न् सर्वथा दंत्य हो जाता है। ट और ड के पूर्व में ईषत् मूर्धन्य हो जाता है और च तथा ज के पूर्व में ईषत् तालव्य। इन सब भेदों में भी एक एकता है और उसे ही ध्वनि-मात्र कहते हैं और उस सामान्य-ध्वनि के लिये एक संकेत भी बना लिया गया है। भिन्न भिन्न स्थलों में न् की परवर्ती ध्वनियों से ही न् का सूक्ष्म भेद प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार फ और भ में एक ही ह ध्वनि का मिश्रण सुन पड़ता है पर वास्तव में फ में श्वास और अघोष ह है और भ में नाद और घोष ह है।

आगे हम ध्वनि और वर्ण का पर्याय के समान और भाषण-ध्वनि और ध्वनि-मात्र का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग करेंगे।

भाषा की ध्वनियों का अध्ययन इतना महत्त्वपूर्ण है और आजकल उसका इतना विस्तार हो गया है कि उसके दो विभाग कर दिए गए हैं—एक ध्वनि-शिक्षा और दूसरा ध्वनि-विचार अथवा ध्वन्यालोचन। भाषण-ध्वनि का संपूर्ण विज्ञान ध्वनि-विचार में आता है। उसमें ध्वनि

के विकारों और परिवर्तनों का इतिहास तथा सिद्धांत दोनों ही आ जाते हैं, पर ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण, उनकी परीक्षा और शिक्षा 'ध्वनि-शिक्षा' का विषय होती है। ध्वनि की उत्पत्ति, उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि का सीखना-सिखाना इस ध्वनि-शिक्षा अथवा वर्ण-शिक्षा के अंतर्गत आता है। इसी से आजकल उसे परीक्षा-मूलक ध्वनि-शिक्षा कहते हैं। इसकी परीक्षा-पद्धति इतनी बढ़ गई है कि बिना कीमोग्राफ (Kymograph) आदि यंत्रों और समीचीन प्रयोग-शाला के 'शिक्षा' का अध्ययन संभव ही नहीं। उसकी परीक्षा-प्रधानता को देखकर ही अनेक विद्वान् उसे ही विज्ञान मानते हैं और कहते हैं कि ध्वनि-विचार तो उसका आश्रित विवेचन मात्र है। हिंदी के कई विद्वान् उस शिक्षा-शास्त्र के लिये ध्वनि-विज्ञान, वर्ण-विज्ञान् आदि नामों का व्यवहार करते हैं। पर अध्ययन की वर्तमान स्थिति में वर्ण-विचार अथवा ध्वनि-विचार को ही विज्ञान कहना उचित देख पड़ता है। विज्ञान लक्ष्यों की परीक्षा और लक्षणों का विधान दोनों काम करता है और यदि परीक्षा और सिद्धांत दोनों का पृथक् अध्ययन किया जाय तो सिद्धांत के विचार को ही विज्ञान कहना अधिक उपयुक्त होगा। और यदि केवल वैज्ञानिक प्रक्रिया को देखकर विज्ञान नाम दें तो दोनों ही बातें ध्वनि-विज्ञान के अंतर्गत आ जाती हैं। आजकल ध्वनि-विज्ञान की सीमा बढ़ भी रही है। इसी से हम ध्वनि-शिक्षा और ध्वनि-विचार का यहाँ प्रयोग करेंगे और ध्वनि-विज्ञान को दोनों के लिये एक सामान्य संज्ञा मान लेंगे।

ध्वनि-विज्ञान का मूलभूत अंग ध्वनि-शिक्षा है। उसमें वैज्ञानिक दृष्टि से वाणी का अध्ययन किया जाता है—वर्णों की उत्पत्ति कैसे होती है, वर्ण का सच्चा स्वरूप क्या है, भाषण-ध्वनि, ध्वनि-मात्र, अन्य अवांतर श्रुति आदि क्या है? ऐसे अनेक प्रश्नों का परीक्षा द्वारा विचार किया जाता है। अतः इन रहस्यों का भेदन ही—इस सूक्ष्म ज्ञान की प्राप्ति ही—उसका सबसे बड़ा प्रयोजन होता है।

ध्वनि-विज्ञान के प्रयोजन

ध्वनि-शिक्षा के दो प्रधान अंग हैं—पहला ध्वनियों की उत्पत्ति के स्थान और करण (=जिह्वा का अध्ययन), दूसरा उन प्रयत्नों की परीक्षा जो उच्चारण में अपेक्षित होते हैं। इस प्रकार स्थान और प्रयत्न का अध्ययन कर लेने पर ही ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण संभव होता है। ध्वनि-शिक्षा के विद्यार्थी को सबसे पहले उन शरीरावयवों को जान लेना आवश्यक है जिनसे वाणी अर्थात् शब्द की उत्पत्ति होती है। साधारणतः बोलचाल में जिन अंगों अथवा अवयवों का उपयोग होता है उनमें से मुख्य ये हैं—

ध्वनि-शिक्षा के अंग

१—फुप्फुस अथवा फेफड़े
२—काकल
३—अभिकाकल
४—स्वर-तंत्री अथवा ध्वनि-तंत्री
५—कंठपिटक
६—अन्न-मार्ग अथवा अन्न-प्रणाली
७—श्वास-मार्ग अथवा श्वास-प्रणाली
८—कंठ-मार्ग, कंठ-बिल अथवा गल-बिल
९—घंटी अथवा कौआ
१०—कंठस्थान अथवा कंठ अर्थात् कोमल तालु
११—मूर्धा
१२—तालु
१३—वर्त्स
१४—दंतमूल
१५—दंत
१६—ओष्ठ
१७—जिह्वानीक
१८—जिह्वाग्र
१९—जिह्वोपाग्र

२०—जिह्वा-मध्य अथवा पश्चजिह्वा

२१—जिह्वामूल

२२—जिह्वा

२३—मुख-विवर
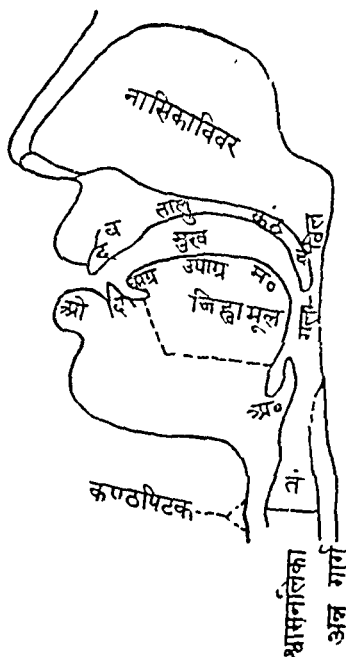
चित्र सं० १

२४—नासिका-विवर

२५—कंठ

२६—आस्य अथवा वाग्यंत्र

इन अंगों के रूप और व्यापार का ज्ञान न होने से प्रायः शिक्षा का महत्त्वपूर्ण और सरल विषय भी व्यर्थ और जटिल सा प्रतीत होने लगता है अतः हमें इनसे परिचय अवश्य कर लेना चाहिए।

स्थिर स्वर-तंत्रियाँ दो होठों के समान होती हैं। उनके बीच के अवकाश को काकल (अथवा ग्लॉटिस) कहते हैं।

श्वास और नाद

ये स्वर-तंत्रियाँ रबर की भाँति स्थिति-स्थापक होती हैं इसी से कभी वे एक-दूसरी से अलग रहती हैं और कभी इतनी मिल जाती हैं कि हवा का निकलना असंभव हो जाता है। जब ये तंत्रियाँ परस्पर मिली रहती हैं और हवा धक्का देकर उनके बीच में से बाहर निकलती है, तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह 'नाद' कही जाती है। जब तंत्रियाँ एक-दूसरे से दूर रहती हैं और हवा उनमें से होकर बाहर निकलती है तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह 'श्वास' कहलाती है। काकल की इन दोनों से भिन्न कई अवस्थाएँ होती हैं जिनमें फुस्फुसाहटवाली ध्वनि उत्पन्न होती है। इन्हें 'जपित', 'जाप' अथवा 'उपांशु ध्वनि' कहते हैं।

व्यवहार में आनेवाली प्रत्येक भाषण-ध्वनि 'श्वास' अथवा 'नाद' होती है। श्वासवाली ध्वनि 'श्वास' और 'नाद' वाली ध्वनि 'नाद' कहलाती है। पर जब हम किसी के कान में कुछ कहते हैं तो नाद-ध्वनियाँ 'जपित' हो जाती हैं और 'श्वास' ज्यों की त्यों रहती है। जपित ध्वनियों का व्यवहार में अधिक प्रयोग न होने से यहाँ उनका विशेष विवेचन आवश्यक नहीं है। प, क, स आदि ध्वनियाँ 'श्वास' हैं। ब, ग, ज आदि इन्हीं की समकक्ष नाद-ध्वनियाँ हैं। स्वर तो सभी नाद होते हैं। 'ह' भी हिंदी और संस्कृत में नाद होता है पर अँगरेजी ह (h) शुद्ध श्वास है। यही ह जब ख, छ, ठ आदि श्वास वर्णों में पाया जाता है तब वह हिंदी में भी श्वासमय माना जाता है।

आजकल के कई विद्वान् श्वास-वर्णों को कठोर और नाद-वर्णों को कोमल कहते हैं; क्योंकि नाद-वर्णों के उच्चारण में स्वर-तंत्रियों के बंद रहने से एक प्रकार का कंपन होता है और ध्वनि गंभीर तथा कोमल सुन पड़ती है।

काकल में स्वर-तंत्रियों की स्थिति के अनुसार ध्वनियों का श्वास और नाद में भेद किया जाता है और वे ध्वनियाँ मुख से किस प्रकार

बाहर निकलती हैं, इसका विचार करके उसके स्वर और व्यंजन के दो भेद किए जाते हैं। जब किसी नाद-ध्वनि को मुख से बाहर निकलने में कोई रुकावट नहीं पड़ती और न निःश्वास किसी प्रकार की रगड़ खाती है तब वह ध्वनि स्वर कहलाती है। अर्थात् स्वर के उच्चारण में मुख-द्वार छोटा-बड़ा तो होता है पर वह बिल्कुल बंद सा भी नहीं होता जिससे बाहर निकलनेवाली हवा रगड़ खाकर निकले। स्वरों के अतिरिक्त शेष सब ध्वनियाँ व्यंजन कहलाती हैं। स्वरों में न किसी प्रकार का स्पर्श होता है और न घर्षण, पर व्यंजनों के उच्चारण में थोड़ा-बहुत घर्षण अवश्य होता है। इसी से स्वर-तंत्रियों से उत्पन्न शुद्ध नाद 'स्वर' ही माने जाते हैं।

ध्वनियों का वर्गीकरण

यह स्वर और व्यंजन का भेद वास्तव में श्रोता के विचार से किया जाता है। स्वरों में श्रावण-गुण अथवा श्रवणीयता अधिक होती है अर्थात् साधारण व्यवहार में समान प्रकार से उच्चरित होने पर व्यंजन की अपेक्षा स्वर अधिक दूरी तक सुनाई पड़ता है। 'क' की अपेक्षा 'अ' अधिक दूर तक स्पष्ट सुन पड़ता है, इसी से साधारणतया व्यंजनों का उच्चारण स्वरों के बिना असंभव माना जाता है।

व्यंजन

स्वर तो सभी नाद होते हैं, पर व्यंजन कुछ नाद होते हैं और कुछ श्वास। सामान्य नियम यह है कि एक उच्चारण-स्थान से उच्चरित होनेवाले 'नाद' का प्रतिवर्ण 'श्वास' अवश्य है; जैसे—

स्थान	नाद	श्वास
कंठ	ग	क
तालु	ज	च
मूर्धा	ड	ट
ओष्ठ	ब	प
दंत	द	त
दंतमूली	ज़	स

पर यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक भाषा अथवा बोली में दोनों

प्रकार की संस्थानीय ध्वनियाँ अवश्य व्यवहृत होती हैं। जैसे अँगरेजी में ह् h श्वास-ध्वनि है; उसका नादमय उच्चारण भी हो सकता है। पर होता नहीं है—बोलनेवाले h का नादमय उच्चारण नहीं करते। इसी प्रकार हिंदी अथवा संस्कृत में 'ह्' नाद है। उसका श्वासमय उच्चारण हो सकता है पर होता नहीं। इसी प्रकार 'म' और 'ल' अँगरेजी, संस्कृत और हिंदी तीनों में नादमय उच्चरित होते हैं पर यदि कोई चाहे तो उनका श्वासमय उच्चारण कर सकता है। इस प्रकार के उच्चारण की पहचान अपने कंठ-पिटक के बाह्यभाग पर अँगुली रखकर स और ज वर्णों का क्रम से उच्चारण करने से सहज ही हो जाती है। 'स' में कोई कंपन नहीं होता पर ज में स्पष्ट कंपन का अनुभव होता है।

व्यंजनों का विचार दो प्रकार से हो सकता है—(१) उनके उच्चारणोपयोगी अवयवों के अनुसार और (२) उनके उच्चारण की रीति और ढंग के अनुसार। यदि उच्चारणोपयोगी अवयवों के अनुसार विचार करें तो व्यंजनों के आठ मुख्य भेद किए जा सकते हैं—काकल्य, कंठ्य, मूर्धन्य, तालव्य, वर्त्स्य, दंत्य, ओष्ठ्य और जिह्वामूलीय।

(१) काकल्य अथवा उरस्य उस ध्वनि को कहते हैं जो काकल स्थान से उत्पन्न हो; जैसे हिंदी 'ह' और अँगरेजी h

(२) कंठ्य ध्वनि अर्थात् कंठ से उत्पन्न ध्वनि। कंठ से यहाँ तालु के उस अंतिम कोमल भाग का अर्थ लिया जाता है जिसे अँगरेजी में Soft palate अथवा Velum कहते हैं। जब जिह्वा कोमल तालु का स्पर्श करती है तब कंठ्य-ध्वनि का उच्चारण होता है; जैसे—क, ख।

(३) मूर्धन्य—कठोर तालु के पिछले भाग और जिह्वा से उच्चरित वर्ण; जैसे—ट, ठ, प आदि। अँगरेजी में मूर्धन्य ध्वनियाँ होतीं ही नहीं।

(४) तालव्य अर्थात् कठोर तालु और जिह्वोपाग्र से उच्चरित ध्वनि; जैसे—अँगरेजी j अथवा हिंदी च, छ, ज।

(५) वर्त्स्य अर्थात् तालु के अंतिम भाग, ऊपरी मसूढ़ों और जिह्वानीक से उच्चरित वर्ण; जैसे—'न' अथवा 'न्ह'। दंतमूल के ऊपर जो उभरा हुआ स्थान रहता है उसे वर्त्स कहते हैं।

(६) दंत्य ध्वनियाँ ऊपर के दाँतों की पंक्ति और जिह्वानीक से उच्चरित होती हैं; उदाहरणार्थ हिंदी त, थ, द और ध। दंत्य के कई उपभेद होते हैं—पुरोदंत्य (अथवा प्राग्दंत्य), अंतर्दंत्य, पश्चाद्दंत्य (अथवा दंतमूलीय)। हिंदी में 'त' पुरोदंत्य और 'थ' अंतर्दंत्य होता है। अँगरेजी के 'त' और 'द' दंतमूलीय होते हैं।

(७) ओष्ठ्य, वर्णों का उच्चारण विना जिह्वा की विशेष सहायता के होठों द्वारा होता है।

(क) द्वयोष्ठ्य, जैसे—हिंदी प और फ द्वयोष्ठ्य वर्णों का उच्चारण केवल दोनों ओठों से होता है।

(ख) दंतोष्ठ्य, जैसे—फ़ और ब इनका उच्चारण नीचे ओठ और ऊपर के दाँतों द्वारा होता है।

(८) जिह्वामूलीय—हिंदी में कुछ ऐसी विदेशी ध्वनियाँ भी आ गई हैं जो जिह्वामूल से उच्चरित होती हैं; जैसे—क़, ख़, ग़। इन्हें जिह्वा-मूलीय कह सकते हैं।

यदि हम उच्चारण की प्रकृति और प्रयत्न के अनुसार व्यंजनों का वर्गीकरण करें अर्थात् व्यंजनों का इस दृष्टि से विचार करें कि शरीरा-वयव इनका किस प्रकार उच्चारण करते हैं तो हम हिंदी में आठ वर्ग बना सकते हैं—

(१) स्पर्श (अथवा स्फोट) वर्ण वे हैं जिनके उच्चारण में अवयवों का एक दूसरे से पूर्ण स्पर्श होता है। पहले मुख में हवा विलकुल रुक जाती है और फिर एक झोंके में धक्का देकर बाहर निकलती है। इसी से एक स्फोट की ध्वनि होती है; जैसे—क अथवा प।

(२) घर्ष (अथवा संघर्षी) वर्ण के उच्चारण में वायु-मार्ग किसी एक स्थान पर इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा के बाहर निकलने में सर्प की जैसी शीत्कार अथवा ऊष्म ध्वनि होती है। इस प्रकार इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा और दंतमूल अथवा वर्त्स के बीच का मार्ग खुला रहता है, विलकुल बंद नहीं हो जाता। इसी से हवा रगड़ खाकर निकलती है अतः इन्हें घर्ष अथवा विवृत व्यंजन कहते हैं इनके

उच्चारण में हवा कहीं रुकती नहीं; इसी से इन वर्णों को सप्रवाह, अव्याहत अथवा अनवरुद्ध (Continuant) भी कहते हैं। स, श, ष, ज़ आदि ऐसे ही घर्ष वर्ण हैं।

(३) स्पर्श-घर्ष कुछ वर्ण ऐसे होते हैं जिनके उच्चारण में स्पर्श तो होता है पर साथ ही हवा थोड़ी रगड़ खाकर इस प्रकार निकलती है कि उसमें ऊष्म ध्वनि भी सुन पड़ती है। इन्हें स्पर्श-घर्ष कहते हैं। जैसे हिंदी के च, छ, ज, झ ।

(४) अनुनासिक—जिस वर्ण के उच्चारण में किसी एक स्थान पर मुख बंद हो जाता है और कोमल तालु (कंठ-स्थान) इतना झुक जाता है कि हवा नासिका में से निकल जाती है वह अनुनासिक कहा जाता है; जैसे—न, म ।

(५) पार्श्विक-जिसके उच्चारण में हवा मुख के मध्य में रुक जाने से जीभ के अगल बगल से (पार्श्व से) बाहर निकलती है वह वर्ण पार्श्विक होता है; जैसे—हिंदी 'ल' अथवा अँगरेजी l ।

(६) लुंठित उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में जीभ बेलन की तरह लपेट खाकर तालु को छुए; जैसे—'र' ।

(७) उत्क्षिप्त उन ध्वनियों को कहते हैं जिनमें जीभ तालु के किसी भाग को वेग से मारकर हट आवे; जैसे—ड़ और ढ़ ।

(८) इन सात प्रकार के व्यंजनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी वर्ण होते हैं जो साधारणतया व्यंजनवत् व्यवहृत होते हैं पर कभी-कभी स्वर हो जाते हैं; जैसे—हिंदी य और व । ऐसे व्यंजन अर्ध स्वर कहे जाते हैं।

अनुनासिक, पार्श्विक और लुंठित व्यंजन कभी कभी एक ही वर्ग में रखे जाते हैं और सब द्रव वर्ण कहे जाते हैं । कुछ लोग अर्द्ध स्वरों (इ उ) को भी इसी द्रव वर्ग में रखते हैं; क्योंकि इन सब में एक सामान्य गुण यह है कि यथासमय स्वर का भी काम करते हैं।

हिंदी व्यंजनों का वर्गीकरण

सूचना—(१) श्वास वर्णों के नीचे लकीर खींच दी गई है, शेष वर्ण नाद हैं।
(२) जो वर्ण केवल बोलियों में पाए जाते हैं वे कोष्ठक में दिए गए हैं।

	ओष्ठ्य								
	द्वयोष्ठ्य १	दंतोष्ठ्य २	दंत्य ३	वर्त्स्य ४	तालव्य ५	मूर्धन्य ६	कंठ्य ७	जिह्वामूलीय ८	काकल्य अथवा उरस्य ९
१ स्पर्श (अथवा स्फोट)	प ब फ भ		त द थ ध			ट ड ठ ढ	क ग ख घ	क़	
२ घर्ष (अथवा संघर्ष)		फ़ व		स ज़	श			ख़ ग़	ह ह
३ स्पर्श-घर्ष					च ज छ झ				
४ अनुनासिक	म म्ह			न न्ह	[ञ]	ण	ङ		
५ पार्श्विक				ल [ल्ह]					
६ लुंठित				र [र्ह]					
७ अर्द्धस्वर		व			य				
८ उत्क्षिप्त						ड़ ढ़			

स्वर

जब किसी अवयव की—विशेषकर जिह्वा की—केवल अवस्था में परिवर्तन होने से ध्वनि मुख से बाहर निकलकर उच्चरित हो जाती है—किसी प्रकार का स्पर्श अथवा घर्षण नहीं होता, तब उस उत्पन्न ध्वनि को स्वर; और जिह्वा की उस अवस्थिति को स्वरावस्थिति अथवा अक्षरावस्थिति कहते हैं। अभ्यास करने से हमारे कान इस प्रकार की न जाने कितनी अक्षरावस्थितियों की कल्पना कर सकते हैं—न जाने कितने सौ अक्षर सुन सकते हैं, पर प्रत्यक्ष व्यवहार में प्रत्येक भाषा की स्वर-संख्या परिमित ही होती है। हिंदी के मूलस्वर (अथवा समानाक्षर) ये हैं—

अ आ आँ [ऑँ] [ऑँ] [ऑ] ओ उ [उ़] ऊ ई इ [इ़] ए [ए] [ए] [ऍ] [ऍ] [अ] इन मूलस्वरों अथवा समानाक्षरों के अनुनासिक तथा संयुक्त रूप भी पाए जाते हैं। उनका वर्णन आगे आयगा।

स्वरों का वर्गीकरण

स्वरों का अधिक वर्णन करने के पूर्व हमें स्वर और अक्षर के अर्थ पर विचार कर लेना चाहिए। स्वर और व्यंजन—ये दो प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। संस्कृत में 'वर्ण' से इन सभी ध्वनियों का अर्थ लिया जाता है, पर अक्षर से केवल स्वर का बोध होता है। हिंदी में कभी-कभी वर्ण और अक्षर का पर्याय जैसा प्रयोग होता है। शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह करने के लिए हम भी संस्कृत का अर्थ ही मानेंगे और वर्ण में स्वर और व्यंजन दोनों का अंतर्भाव करेंगे, पर अक्षर को स्वर का पर्याय मात्र मानेंगे। जहाँ 'सुर' और 'बल' का वर्णन करना पड़ता है वहाँ यह भेद सुविधाजनक होता है।

स्वरवर्णों में विशेष गुण जिह्वा और होठों की अवस्थाओं से उत्पन्न होते हैं। अतः जिह्वा के प्रधान अंगों के अनुसार उनका वर्गी-

करण करना सहज और लाभकर होता है। सुस्पष्ट स्वरों की उच्चारण-स्थिति पर विचार करने से जिह्वा की तीन प्रधान अवस्थाएँ ध्यान में आती हैं—एक सबसे आगे की ऊँची, दूसरी सबसे पीछे की ऊँची और एक बीच की सबसे नीची। यदि आ को जीभ की सबसे नीची अवस्था मान लें तो जीभ ई के उच्चारण में आगे की ओर ऊँचे उठती है और 'ऊ' के उच्चारण में पीछे की ओर ऊँचे उठती है।

चित्र सं० २
जिह्वा की अवस्थाएँ

चित्र २ के ई, ऊ और आ को मिलाकर यदि एक त्रिकोण बनाया जाय तो जिस स्वर के उच्चारण करने में जीभ स्वर-त्रिकोण की दाहिनी ओर पड़े वह पश्च (पिछला) स्वर, जिस स्वर के उच्चारण करने में जीभ बाईं ओर पड़े वह अग्र (अगला) और जिसके उच्चारण करने में इस त्रिकोण के भीतर पड़े वह मिश्र अथवा मध्य स्वर कहलाता है। इस प्रकार जिह्वा उच्चारण के समय कहाँ रहती है इस विचार से स्वरों के अग्र, मिश्र (मध्य) और पश्च तीन वर्ग किए जाते हैं। यह जीभ की आड़ी स्थिति का विचार हुआ; और यदि जीभ की खड़ी स्थिति का विचार करें तो दूसरे प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है। जिस स्वर के उच्चारण में जीभ बिना किसी प्रकार की रगड़ खाए यथासंभव ऊँची उठ जाती है उस स्वर को संवृत (बंद अथवा मुँदा) कहते हैं; और जिस स्वर के लिये जीभ जितना हो सकता है उतना
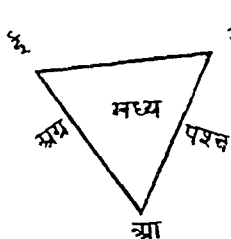
चित्र सं० ३

नीचे आती है उसको विवृत (खुला) कहते हैं। इन दोनों स्थानों के बीच के अंतर के तीन भाग किए जाते हैं; जो संवृत से ⅓ दूरी पर पड़ता है वह ईषत्-संवृत अथवा अर्द्ध-संवृत (अधमुँदा) कहलाता है; और जो विवृत से ⅓ दूरी पर पड़ता है वह ईषद्-विवृत अथवा अर्द्ध-विवृत (अधखुला) कहलाता है। (अग्र, मिश्र और पश्च के उदाहरण क्रमशः 'ईख', 'रईस' और 'ऊपर' शब्दों में ई, अ और ऊ हैं। संवृत, ईषत्-संवृत, ईषद्-विवृत और विवृत के उदाहरण क्रमशः 'ऊपर', 'अनेक', 'बोतल', 'आम' में ऊ, ए, ओ और आ हैं।)

इसी प्रकार जीभ की अवस्थाओं का विचार करके और अनेक भाषाओं की परीक्षा करके भाषा-शास्त्रियों ने आठ मान-स्वर स्थिर किए हैं; इन स्वर-ध्वनियों के लिये जीभ की आवश्यक अवस्थाओं का तथा उनके श्रवण गुणों का वर्णन किया है। ये आठों मान-स्वर भिन्न भिन्न भाषाओं के स्वरों के अध्ययन के लिये बटखरों का काम देते हैं। इनका ज्ञान किसी विशेषज्ञ से मुखोपदेश द्वारा कर लेने पर ध्वनि-शिक्षा का अध्ययन आगे ग्रंथ द्वारा भी हो सकता है। हम भी पहले इन मान-स्वरों का चित्र खींचेंगे और फिर उन्हीं से तुलना करते हुए हिंदी के स्वरों का चित्र बनावेंगे और उनका सविस्तर वर्णन करेंगे।

चित्र सं० ४ में जो अंतर्राष्ट्रीय लिपि में अक्षर लिखे हैं वे मान स्वर (Cardinal Vowels) हैं और जो नागरी लिपि में लिखे अक्षर हैं वे हिंदी के ज्ञेयस्वर हैं; चित्र सं० ५ में जो कोष्ठक के भीतर दिए गए हैं वे केवल बोलियों में पाए जाते हैं। और एक ही क्रॉस चिह्न (×) के सामने जो दो अक्षर लिखे गए हैं वे एक ही समान उच्चरित होते हैं क्योंकि जपित स्वर के उच्चारण में जिह्वा द्वारा कोई अंतर नहीं होता—केवल काकल की स्थिति थोड़ी भिन्न हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि साधारण स्वर कुल १९ होते हैं, पर यहाँ जीभ की अवस्थाएँ केवल १६ चिह्नित की गई हैं। इसी प्रकार सानुनासिक और संयुक्त स्वरों का भी यहाँ विचार नहीं किया गया है; आगे होगा।
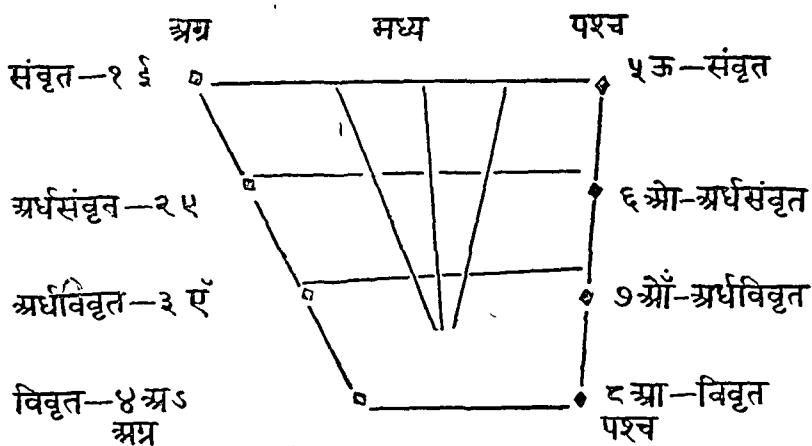
चित्र सं० ४— मान स्वर
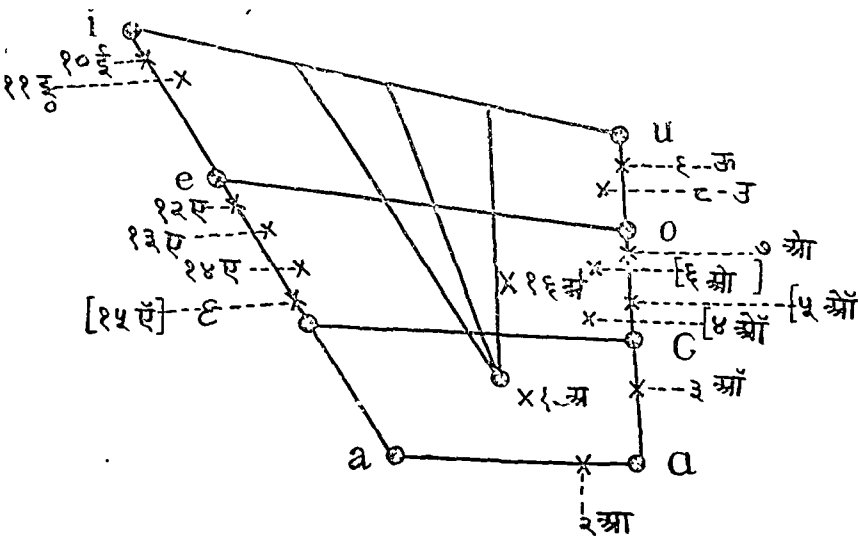
हिंदी के मेय-स्वर
चित्र सं० ५

स्वरों का गुण ओठों की स्थिति पर निर्भर रहता है। उच्चारण करते समय ओष्ठ स्वाभाविक अर्थात् उदासीन अवस्था में रहते हैं अथवा वे इस प्रकार संकुचित होते हैं कि उनके बीच में कभी गोल और कभी लंबा विवर बन जाता है। जिन स्वरों के उच्चारण में होठों की आकृति गोल सी हो जाती है वे गोल अथवा वृत्ताकार स्वर कहलाते हैं और शेष अवृत्ताकार कहलाते हैं। जैसे ऊ वृत्ताकार और ई, आ आदि अवृत्ताकार अक्षर हैं।

वृत्ताकार और अवृत्ताकार स्वर

मांसपेशियों की शिथिलता और दृढ़ता के विचार से भी स्वरों का विचार किया जाता है और स्वर दृढ़ और शिथिल माने जाते हैं; जैसे—ई और ऊ दृढ़ स्वर हैं; इ और उ शिथिल स्वर हैं। कंठपिटक और चिबुक के बीच में अँगुली रखने से यह सहज ही अनुभव होने लगता है कि ह्रस्व इ के उच्चारण में वह भाव कुछ शिथिल हो जाता है पर दीर्घ ई के उच्चारण में वह सर्वथा दृढ़ रहता है।

दृढ़ और शिथिल स्वर

कंठ अर्थात् कोमल तालु का भी स्वर-गुण पर प्रभाव पड़ता है। साधारण स्वरों के उच्चारण करने में कंठ अर्थात् कोमल तालु उठकर गल-बिल की भित्ति से जा लगता है (देखो चित्र सं० २); इसलिये नासिका-विवर बंद हो जाता है और ध्वनि केवल मुख में से निकलती है। पर जब यह कोमल तालु थोड़ा नीचे आ जाता है तब हवा मुख और नासिका दोनों में से निकलती है। ऐसी स्थिति में उच्चरित स्वर अनुनासिक कहे जाते हैं। शिष्ट हिंदी में सानुनासिक स्वर प्रायः नहीं मिलते पर बोलियों में पाए जाते हैं। इन सानुनासिक स्वरों के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं; जैसे—संध्यक्षर, श्रुति, प्राण-ध्वनि आदि।

हम पीछे अक्षर को स्वर का पर्याय मान चुके हैं। उसका संस्कृत ग्रंथों में एक अर्थ और भी होता रहा है। अक्षर उस ध्वनि

समुदाय को कहते हैं जो एक आघात अथवा झटके में बोला जाता है।

अक्षर और अक्षरांग

अतः 'अक्षरांग' पद का व्यवहार उन व्यंजनों के लिये होता है जो स्वर के साथ एक झटके में बोले जाते हैं।

उस ध्वनि-समुदाय में एक एक स्वर अथवा स्वर-सदृश व्यंजन अवश्य रहना चाहिए। उसी स्वर अथवा स्वरवत् व्यंजन के पूर्वांग अथवा परांग बनकर अन्य वर्ण रहते हैं। इस प्रकार एक अक्षर में एक अथवा अनेक वर्ण हो सकते हैं। जैसे पत् अथवा चट् शब्द में एक ही अक्षर है और उस अक्षर में तीन वर्ण हैं—एक स्वर और दो व्यंजन। इन तीनों में आधार-स्वरूप स्वर है; इसी से स्वर ही अक्षर कहा जाता है। शास्त्रीय भाषा में ऐसे स्वर को आक्षरिक (Syllabic) कहते हैं और उसके साथ उच्चरित होनेवाले पूरे ध्वनि-समूह को अक्षर कहते हैं।

जब एक स्वर एक झटके में बोला जाता है तब वह मेय स्वर अथवा समानाक्षर कहलाता है, पर जब दो अथवा दो से अधिक स्वर

संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर

एक ही झटके में बोले जाते हैं तब वे मिलकर एक संयुक्त स्वर अथवा संध्यक्षर को जन्म देते हैं। अ, आ, ए आदि जिन १९ स्वरों का हम पीछे वर्णन कर चुके हैं वे समानाक्षर अर्थात् मेय स्वर ही थे। संस्कृत में ए ओ संध्यक्षर माने गए हैं पर हिंदी में वे दीर्घ समानाक्षर ही माने जाते हैं; क्योंकि उनके उच्चारण में दो अक्षरों की प्रतीति नहीं होती; ए अथवा ओ का उच्चारण एक अक्षर के समान ही होता है। हिंदी में ऐ और औ संध्यक्षर हैं; जैसे—ऐसा, और, सौ आदि।

हम देख चुके हैं कि एक ध्वनि के उच्चारण करने में अवयव-विशेष एक विशेष प्रकार का यत्न करते हैं अतः जब एक ध्वनि के बाद दूसरी ध्वनि का उच्चारण किया जाता है तब उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना पड़ता है। उच्चारण-स्थानों की बनावट एक समतल नली के समान नहीं है जिससे हवा बराबर प्रवाहित होकर ध्वनि

उत्पन्न करती रहे, अतः स्थान-परिवर्तन अवश्य होता है। जैसे—'एका' शब्द में तीन ध्वनियाँ हैं; उसके उच्चारण में जीभ को पहले

श्रुति (१) ए-स्थान से क-स्थान को और फिर
(२) क-स्थान से आ-स्थान को जाना पड़ता है।

इन परिवर्तनों के समय हवा तो निकला ही करती है और फलतः एक स्थान और दूसरे स्थान के बीच परिवर्तन-ध्वनियाँ भी निकला करती हैं। ये परिवर्तन-ध्वनियाँ श्रुति कही जाती हैं। इनके दो भेद होते हैं। पूर्वश्रुति उस परिवर्तन-ध्वनि को कहते हैं जो किसी स्वर अथवा व्यंजन के पूर्व में आती है। और जो पर में आती है उसे पर-श्रुति अथवा पश्चात् श्रुति कहते हैं। बहुत तेजी से और बेपरवाह होकर लिखने में लेखक की लेखनी जहाँ जहाँ रुकती है वहाँ वहाँ वर्णों और शब्दों के बीच में आपसे आप ऐसे चिह्न बन जाते हैं कि एक अजानकार को वे इतने बड़े दीखते हैं कि उसके लिये वह लेख पढ़ना ही कठिन हो जाता है। इसी प्रकार बोलने में भी ये हल्के उच्चारणवाली श्रुतियाँ कभी कभी इतनी प्रधान हो जाती हैं कि वे निश्चित ध्वनि ही बन जाती हैं। इसी से ध्वनि के विकार और विकास में श्रुति का भी महत्त्व माना जाता है। पहले श्रुति इतने लघु प्रयत्न से उच्चरित होती है कि उसे लघुप्रयत्नतर भी नहीं कहा जा सकता, पर वही प्रवृत्ति यदि कारणवश थोड़ी बढ़ जाती है तो एक चौथाई अथवा आधे वर्ण के समान श्रुति होती है। श्रुति जब और भी प्रबल होती है तब स्पष्ट एक वर्ण ही बन जाती है। इस प्रकार श्रुति एक नये वर्ण को जन्म देती है। इस वृत्ति के उदाहरण सभी भाषाओं में मिलते हैं। इन्द्र, पर्वत, प्रकार, श्रम आदि के संयुक्त वर्णों के बीच में जो श्रुति होती थी वही मराठी, हिंदी आदि भाषाओं में इतनी बढ़ गई कि इंदर, परबत, परकार, भरम आदि बन गए। इस प्रकार इस 'युक्त-विकर्ष' का कारण 'श्रुति' में मिलता है। स्कूल और स्नान के लिये जो इस्कूल-अस्कूल, इस्नान-अस्नान आदि रूप बोले जाते हैं वे पूर्वश्रुति के ही फल हैं। इन उदाहरणों में स्वर का आगम हुआ है; इसी प्रकार व्यंजन श्रुति भी होती है, जैसे सुनर में जो न और अ

के बीच में श्रुति होती है वही इतनी बढ़ जाती है कि 'सुंदर' शब्द बन जाता है; 'वानर' का बाँदर (मराठी), बंदर (हिंदी) आदि बन जाता है। ऐसे उदाहरण प्राकृतों और देश-भाषाओं में ही नहीं, स्वयं संस्कृत में मिलते हैं; जैसे—ऋग्वेद में इंद्र का इंदर, दर्शत का दरशत; लौकिक संस्कृत में स्वर्ण का सुवर्ण, पृथ्वी का पृथिवी, सूनरी का सुंदरी आदि।

श्वास-वर्ग

बोलने में हम साँस लेने के लिये अथवा शब्दार्थ स्पष्ट करने के लिये ठहरते हैं। जितने वर्णों अथवा शब्दों का उच्चारण हम बिना विराम अथवा विश्राम लिए एक साँस में कर जाते हैं उनको एक श्वास-वर्ग कहते हैं। जैसे—हाँ, नमस्कार, मैं चलूँगा। इस वाक्य में तीन श्वास-वर्ग हैं—(१) हाँ, (२) नमस्कार और (३) मैं चलूँगा। यदि किसी श्वास-वर्ग के आदि में स्वर रहता है तो उसकी ध्वनि का 'प्रारम्भ' कभी 'क्रमिक' होता है, कभी 'स्पष्ट'।

प्राण-ध्वनि

जब काकल के श्वास-स्थान से नाद-स्थान तक आने में एक पूर्वश्रुति होती है तब ध्वनि का प्रारंभ क्रमिक होता है और जब ध्वनि उत्पन्न होने तक श्वास सर्वथा अवरुद्ध रह जाता है तब प्रारंभ स्पष्ट होता है। साधारणतया इन दोनों ही दशाओं में वक्ता की ध्वनि का आघात (अथवा बलाघात) ठीक स्वर पर ही पड़ता है, पर कभी कभी वक्ता उस स्वर के उच्चारण के पहले से ही एक आघात अथवा झटके से बोलता है—स्वर का उच्चारण करने के पूर्व ही कुछ जोर देकर बोलता है। ऐसी स्थिति में उस स्वर के पूर्व एक प्राण-ध्वनि सुन पड़ती है; जैसे ए, ओ, अरे की पूर्व श्रुतियों पर जोर देने से हे, हो, हरे बन जाते हैं। इसी प्रकार अस्थि और ओष्ठ के समान शब्दों में इसी जोर लगाने की प्रवृत्ति के कारण प्राण-ध्वनि (ह) आ मिलती है और हड्डी, होठ आदि शब्द बन जाते हैं। इस प्रकार हिंदी और अँगरेजी आदि का 'ह' क्रमिक प्रारंभ

वाली पूर्वश्रुति का ही 'जोरदार' रूप है। यही कारण है कि आदि के ह को कई विद्वान् अघोष और श्वास मानते हैं।

इस प्राण-ध्वनि का आगम बोलियों में मध्य और अंत में भी पाया जाता है; जैसे—'भोजपुरिया' फटा और खुला को फट्हा और खुल्हा कहते हैं। दुःख, छिः आदि में जो विसर्ग देख पड़ता है वह भी प्राण-ध्वनि ही है। ख, घ आदि में जो प्राण-ध्वनि सुन पड़ती है उसी के कारण संस्कृत-भाषा-शास्त्रियों ने अल्पप्राण और महाप्राण—दो प्रकार की ध्वनियों के भेद किए हैं।

जब वही श्रुति आदि में न होकर किसी स्पर्श और स्वर के बीच में आती है और उस पर जोर (बल) दिया जाता है तब 'सप्राण' अर्थात् महाप्राण स्पर्शों का उच्चारण होता है; जैसे—क्+ह+अ=ख, ग्+ह्+अ=घ। प्राचीन काल में ग्रीक भाषा के ख, थ, फ ऐसे ही सप्राण स्पर्श थे। आज जब कोई आयरिश pot को p'hat अथवा tell को t'hell उच्चारण करता है तो यही प्राण-ध्वनि सुन पड़ती है। संस्कृत के कपाल का देशभाषाओं में खोपड़ा और खप्पर रूप हो गया है। उसमें भी यह सप्राण उच्चारण की वृत्ति लक्षित होती है।

सप्राण स्पर्श

विश्लेषण की दृष्टि से वर्णन करते समय हम लघूच्चारण वाली श्रुति तक का विचार करते हैं और जब हम ध्वनि को संहिति और संश्लेष की दृष्टि से देखते हैं तब हमें वाक्य तक एक ध्वनि प्रतीत होती है। शास्त्र और अनुभव दोनों का यही निर्णय है कि ध्वनि और अर्थ दोनों के विचार से वाक्य अखंड होता है। वाक्य का विभाग शब्दों में नहीं होता, पर मनुष्य की व्यवहार-पटु अन्वय व्यतिरेक की बुद्धि ने व्यवहार की दृष्टि से विभाग शब्दों में ही नहीं, वर्णों में भी कर डाला है पर ध्वनित: आज भी वाक्य अखंड ही उच्चरित होता है। यद्यपि लिखने में और व्यावहारिक दृष्टि से विचार प्रकट करने में शब्दों के बीच में हम अंतर छोड़ते हैं पर शब्दों के बोलने में वह अंतर नहीं होता। वाक्य के शब्दों के बीच

वाक्य के खंड

में केवल तब विराम होता है जब हम साँस लेने के लिए ठहरते हैं। इस प्रकार जितने शब्द अथवा वाक्य एक साँस में बोले जाते हैं उन्हें मिलाकर एक श्वास-वर्ग कहते हैं। एक लंबे वाक्य में जितने गौण वाक्य होते हैं प्राय: उतने ही श्वास-वर्ग भी होते हैं, पर ऐसा होना कोई नियम नहीं है। एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि रोमन काल के पूर्व ग्रीक अभिलेखों में यह शब्दों में अंतर छोड़ने की रीति नहीं मिलती। और भारतवर्ष में भी प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में यही बात मिलती है।

अब ध्वनि की दृष्टि से वर्ण और वाक्य दोनों महत्त्व के हैं। दोनों के बीच में किस प्रकार ध्वन्यात्मक संबंध प्रकट किया जाता है, इसकी विवेचना के लिए परिमाण (मात्रा), बल, (स्वर-विकार) अथवा वाक्य-स्वर), स्वर (गीतात्मक स्वराघात) आदि का थोड़ा विचार करना पड़ता है।

उसकी पार्श्ववर्ती ध्वनियों की तुलना में किसी ध्वनि के उच्चारण में जो काल लगता है उसे ध्वनि की लम्बाई अथवा परिमाण कहते हैं।

परिमाण अथवा मात्रा

यह काल तुलना की दृष्टि से मापा जाता है। अत: एक छोटे (ह्रस्व) स्वर को जितना समय लगता है उसे एक मात्रा मान लेते हैं। इसी लिए जिस अक्षर में दो मात्रा-काल अपेक्षित होता है उसे दीर्घ अक्षर और जिसे दो से भी अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है उसे प्लुत कहते हैं। (१) ह्रस्व (२) दीर्घ, (३) प्लुत इन तीनों भेदों के अतिरिक्त दो भेद और होते हैं— (४) ह्रस्वार्ध (स्वर) और (५) दीर्घार्द्ध (स्वर)। जब कभी व्यंजन स्वरवत् प्रयुक्त होते हैं उनका परिमाण अर्धमात्रा अर्थात् ह्रस्वार्ध काल ही होता है।

शब्दों के उच्चारण में अक्षरों पर जो जोर (धक्का) लगता है उसे

बल

बल कहते हैं। ध्वनि कंपन की लहरों से बनती है। यह बल अथवा आघात (झटका) उन ध्वनि-लहरों के छोटी-बड़ी होने पर निर्भर होता है। 'मात्रा' का उच्चारण

काल के परिमाण से संबंध रहता है और 'वल' का स्वर-कंपन की छुटाई-वड़ाई के परिमाण से। इसी से फेफड़ों में से निःश्वास जितने वल से निकलता है इसके अनुसार वल में अंतर पड़ता है। इस वल के उच्च, मध्य और नीच होने के अनुसार ही ध्वनि के तीन भेद किए जाते हैं— सवल, समवल, निर्वल। जैसे—'कालिमा' में मा तो सवल है, इसी पर धक्का लगता है और 'का' पर उससे कम और लि पर सबसे कम वल पड़ता है; अतः 'का' समवल और 'लि' निर्वल है। इसी प्रकार पत्थर में 'पत्', अंतःकरण में 'अः', चंद्रा में 'चन्' आदि सबल अक्षर हैं।

ग्रीक और संस्कृत के छंद मात्रा से संबंध रखते थे पर अँगरेजी के छंद वल पर निर्भर होते हैं। हिंदी के भी अनेक मात्रिक और वर्णिक छंदों का मूलाधार स्वरों की संख्या या मात्राकाल न होकर वास्तव में वल अथवा आघात ही होता है। छंदों में उच्चारण की दृष्टि से ह्रस्व अथवा दीर्घ हो जाना इस बात का प्रमाण है।

छंद में मात्रा और बल

हिंदी और संस्कृत में 'स्वर' का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। वर्ण, अक्षर (syllable), सुर (pitch,) आवाज (tone of voice) आदि सभी के अर्थ में उसका व्यवहार होता है। यहाँ हम उसके अंतिम दो अर्थों की अर्थात् सुर और आवाज की व्याख्या करेंगे। इनके लिये हम स्वर अथवा पदस्वर और स्वर-विकार अथवा वाक्यस्वर नामों का प्रयोग करेंगे। जिसे हम स्वर (अथवा गीतात्मक स्वर) कहते हैं वह अक्षर का गुण है और स्वर-विकार अथवा आवाज का चढ़ाव-उतार वाक्य का गुण है। स्वर-विकार अथवा वाक्य-स्वर से वक्ता प्रश्न, विस्मय, घृणा, प्रेम, दया आदि के भावों को प्रकट करता है। यह विशेषता सभी भाषाओं में पाई जाती है अतः इसके उदात्तादि भेदों के विशेष वर्णन की आवश्यकता नहीं। पर स्वर अर्थात् अक्षर स्वर कुछ भाषाओं में ही पाया जाता है। उसे समझने के लिये पहले हमें स्वर और वल के भेद पर विचार कर लेना चाहिए। हम देख चुके हैं कि वल—जिन कंपनों

स्वर

से ध्वनि बनती है—उनके परिमाण पर निर्भर रहता है पर स्वर इन कंपनों की संख्या (आवृत्ति) पर निर्भर होता है। इस प्रकार स्वर गेय होता है। चढ़ाव-उतार के अनुसार स्वर के तीन भेद किए जाते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। शब्द के जिस अक्षर पर उदात्त स्वर रहता है वही सस्वर कहलाता है। प्राचीन ग्रीक और वैदिक संस्कृत में ऐसे ही स्वर पाये जाते हैं। लैटिन अँगरेजी, आधुनिक ग्रीक, लौकिक संस्कृत और हिंदी आदि में बल ही प्रधान रहा है। आधुनिक युग में भी श्यामी, अनामी आदि अनेक भाषाएँ सस्वर मिलती हैं।

अब ध्वनि के गुणों का इतना परिचय हमें मिल गया है कि हम हिंदी ध्वनि-समूह का थोड़े विस्तार में वर्णन कर सकते हैं। जिन पारिभाषिक शब्दों की पीछे व्याख्या हो चुकी है उन्हीं का हम प्रयोग करेंगे। जैसे यदि हम कहें कि 'क' 'श्वास कंठ्य स्पर्श' है तो इस वर्णन से यह समझ लेना चाहिए कि 'क' एक व्यंजन है जिसके उच्चारण में जिह्वामध्य ऊपर उठकर कंठ (अर्थात् कोमल तालु) को छू लेता है; कोमल तालु इतना ऊँचा उठा रहता है कि हवा नासिका में नहीं जा पाती अर्थात् यह ध्वनि अनुनासिक नहीं है; हवा जब फेफड़ों में से निकलकर ऊपर को आती है तो स्वर-तंत्रियाँ कंपन नहीं करतीं (इसी से तो वह श्वास-ध्वनि है); और जीभ कंठ को छूकर इतनी शीघ्र हट जाती है कि स्फोट-ध्वनि उत्पन्न हो जाती है (इसी से वह स्पर्श-ध्वनि कही जाती है)। इसी प्रकार यदि 'इ' को 'संवृत अग्र' स्वर कहा जाता है तो उससे यह समझ लेना चाहिए कि 'इ' एक स्वर है; उसके उच्चारण में जिह्वाग्र कोमल तालु के इतने पास उठकर पहुँच जाता है कि मार्ग बंद सा हो जाने पर घर्षण नहीं सुनाई पड़ता और कोमल तालु नासिकामार्ग को बंद किए रहता है।

ध्वनि-विचार

ध्वनि-शिक्षा का प्रयोग से संबंध था पर ध्वनि-विचार ध्वनियों के इतिहास, तुलना और सिद्धांत आदि सभी का सम्यक् विवेचन करता है। ध्वनि-शास्त्र के सिद्धांत इतिहास और तुलना की सहायता से ही बनते हैं अतः

ध्वनि-विचार के दो साधारण विभाग कर लिए जाते हैं—(१) इतिहास और तुलना तथा (२) ध्वनि-संबंधी सामान्य और विशेष सिद्धांत।

इसी प्रकार के प्रारंभ में ध्वनि के शास्त्रीय विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि ध्वनि—कम से कम भाषण-ध्वनि—असंख्य होती है, अत: उनमें से प्रत्येक के लिये संकेत बनाना कठिन ही नहीं, असंभव है। वास्तव में देखा जाय तो व्यवहार में जो भाषा आती है उसकी ध्वनि-संख्या परिमित ही होती है। अत: बीस या तीस लिपिचिह्नों से भी किसी-किसी भाषा का सब काम चल जाता है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि प्रत्येक भाषा की परिस्थिति और आवश्यकता एक सी नहीं होती, इसी से ध्वनियाँ भी भिन्न भिन्न हुआ करती हैं। कभी कभी तो एक ही वर्ण एक भाषा में एक ढंग से उच्चरित होता है और दूसरी भाषा में दूसरे ढंग से। उदाहरणार्थ हिंदी और मराठी की लिपि नागरी है पर दोनों के उच्चारण में बड़ा अंतर पाया जाता है। इसी प्रकार अँगरेजी और फ्रेंच की वर्णमाला प्राय: समान हैं तो भी ध्वनियों के उच्चारण में बड़ा अंतर है। अत: किसी विदेशी भाषा के ध्वनि-प्रबंध (अर्थात् ध्वनि-माला) से परिचित होने के लिये—उस भाषा को ठीक ठीक लिख और बोल सकने के लिये—हमें या तो उस भाषा के विशेषज्ञ वक्ताओं के उच्चारण को सुनना चाहिए अथवा उसकी ध्वनियों का वैज्ञानिक वर्णन पढ़कर उन्हें सीखना चाहिए। पहली विधि व्यवहार के लिये और दूसरी विधि शास्त्रीय विवेचन के लिये अधिक सुंदर और सरल होती है। इसी उद्देश्य से आजकल भाषा-वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकें लिखी जाती हैं। उनसे सहज ही विदेशी ध्वनियों का ज्ञान हो जाता है। पर किसी मृत भाषा की—अमर वाणी की—ध्वनियों का ज्ञान इस प्रकार नहीं हो सकता। हमें उसके लिये बड़ी खोज करनी पड़ती है और तब भी सर्वथा संदेह दूर नहीं हो पाता। पर इतिहास की उत्सुकता शांत करने के लिये—भाषा के रहस्य का भेदन करने के लिये—अतीत काल की अमर बोलियों के ध्वनि प्रबंध की खोज करना आवश्यक होता है। यदि अँगरेजी अथवा

फ्रेंच का हमें वैज्ञानिक अध्ययन करना है तो ग्रीक और लैटिन का उच्चारण जानना चाहिए; यदि हमें हिंदी, मराठी, बँगला आदि का अच्छा अध्ययन करना है तो वैदिक, संस्कृत, प्राकृत आदि के उच्चारण का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इन प्राचीन भाषाओं के उच्चारण का पता कई ढंगों से लगता है। जैसे ग्रीक और लैटिन का प्राचीन उच्चारण जानने के लिए विद्वान् प्राय: निम्नलिखित बातों की खोज करते हैं—

(१) डायोनीसीअस (३० ई० पू०) और व्हारो (७० ई० पू०) के समान लेखकों के ग्रंथों में ध्वनियों का वर्णन और विवेचन।

(२) व्यक्ति-वाचक नामों का प्रत्यक्षरीकरण भी उच्चारण का ज्ञापक होता है।

(३) कुछ साहित्यिक श्लेष आदि के प्रयोगों पर।

(४) शिलालेखों के लेखों की परस्पर तुलना से।

(५) उन्हीं भाषाओं के जीवन-काल में ही जो वर्ण-विन्यास में परिवर्तन हो जाते हैं उनके आधार पर।

(६) आजकल की आधुनिक ग्रीक और इटाली, स्पेनी आदि रोमांस भाषाओं के प्रत्यक्ष उच्चारण के आधार पर।

(७) और साहित्य में पशु-पक्षियों के अव्यक्तानुकरणमूलक शब्दों को देखकर।

इस प्रकार हमें ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व की ग्रीक भाषा तथा उसके उत्तर काल की लैटिन के उच्चारण का बहुत कुछ परिचय मिल जाता है।

संस्कृत के उच्चारण का भी पता इन सभी उपायों से लगाया गया है। संस्कृत के सबसे प्राचीन रूप वैदिक का भी उच्चारण हमें मिल गया है। अनेक ब्राह्मण आज भी वेद की संहिताओं का प्राचीन परंपरा के अनुकूल उच्चारण करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रातिशाख्य और शिक्षा-ग्रंथों में उच्चारण का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन मिलता है। पाणिनि, पतंजलि आदि संस्कृत वैयाकरणों ने भी उच्चारण का अच्छा विवेचन किया है। ग्रीक, चीनी, तिब्बती आदि लेखकों ने संस्कृत के 'चंद्रगुप्त'

आदि शब्दों का जो प्रत्यक्षीकरण किया है वह भी प्राचीन उच्चारण का ज्ञापक होता है। इसके अतिरिक्त तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की सहायता से संहिता को और उसके बाहर के ध्वनि-विकारों को देखकर यह पूर्ण निश्चय हो गया है कि भारत के प्राचीन वैयाकरणों ने जो ध्वनि-शिक्षा का विवेचन किया था वह सर्वथा वैज्ञानिक था।

इसी प्रकार पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के उच्चारण का भी ज्ञान हमें शिलालेख, व्याकरण और साहित्य से लग जाता है। भारतीय आर्यभाषा के विद्यार्थी को ग्रीक और लैटिन की अपेक्षा संस्कृत, प्राकृत आदि के उच्चारण की विशेष आवश्यकता होती है अतः हम नीचे वैदिक परवर्ती संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी और हिंदी के ध्वनि-समूह का संक्षिप्त परिचय देंगे जिससे हिंदी की ध्वनियों का एक-इतिहास प्रस्तुत हो जाय।

हम पिछले प्रकरण में देख चुके हैं कि हमारी संस्कृत भाषा उस भारोपीय परिवार की कन्या है जिसका सुंदर अध्ययन हुआ है। इस परिवार की अनेक भाषाएँ आज भी जीवित हैं, अनेक के साहित्य-चिह्न मिलते हैं और इन्हीं के आधार पर इस परिवार की आदि माता अर्थात् भारोपीय मातृभाषा की भी रूप-रेखा खींचने का यत्न किया गया है। अतः हिंदी की ध्वनियों का इतिहास जानने के लिये उस भारोपीय मातृभाषा की ध्वनियों से भी संक्षिप्त परिचय कर लेना अच्छा होता है। यद्यपि आदिभाषा की ध्वनियों के विषय में मतभेद है तथापि हम अधिक विद्वानों द्वारा गृहीत सिद्धांतों को मानकर ही आगे बढ़ेंगे। विशेष विवाद यहाँ उपयोगी नहीं प्रतीत होता। उस मूल भारोपीय भाषा में स्वर और व्यंजन दोनों की ही संख्या अधिक थी। कुछ दिन पहले यह माना जाता था कि संस्कृत की वर्णमाला सबसे अधिक पूर्ण है। यही ध्वनियाँ थोड़े परिवर्तन के साथ मूलभाषा में रही होंगी पर अब खोजों द्वारा सिद्ध हो गया है कि संस्कृत की अपेक्षा मूलभाषा में स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ कहीं अधिक थीं।

भारोपीय ध्वनि-समूह

स्वर--उस काल के अक्षरों का ठीक उच्चारण सर्वथा निश्चित तो नहीं हो सका है तो भी मान्य व्यवहार के लिये निम्नलिखित संकेतों से उन्हें हम प्र[illegible]व[illegible]कते हैं।

मूलाक्षर --ă, ā [illegible]; ŏ, ō; ə, ĭ; ī, ŭ, ū :

(१) इनमें से ă, ĕ, ŏ, ĭ, ŭ, ह्रस्व अक्षर हैं। नागरी लिपि में हम इन्हें अ, ए, ओ, इ तथा उ से अंकित कर सकते हैं।

(२) और ā आ, ē ए, ō ओ, ī ई और ū ऊ दीर्घ अक्षर होते हैं।

(३) ə अ एक ह्रस्वार्ध स्वर है जिसका उच्चारण स्पष्ट नहीं होता। इसे ही उदासीन (neutral) स्वर कहते हैं।

स्वनंत वर्ण—उस मूल भाषा में कुछ ऐसे स्वनंत वर्ण भी थे जो अक्षर का काम करते थे; जैसे--m̥, n̥; r̥, l̥, नागरी में इन्हें हम म्̥, न्̥, र्̥, ल्̥, लिख सकते हैं। m̥, n̥, आक्षरिक अनुनासिक व्यंजन हैं और r̥, l̥; आक्षरिक द्रव (अथवा अंतस्थ) व्यंजन हैं।

संध्यक्षर—अर्धस्वरों, अनुनासिकों और अन्य द्रव वर्णों के साथ स्वरों के संयोग से उत्पन्न अनेक संध्यक्षर अथवा संयुक्ताक्षर भी उस मूलभाषा में मिलते हैं। इनकी संख्या अल्प नहीं है। उनमें से मुख्य ये हैं--

a̯i, ā̯i e̯i ē̯i, oi ōi, a̯u̯, āu̯, eu̯, ēu̯, ou̯, ōu̯,

व्यंजन—स्पर्श वर्ण—

(१) ओष्ठ्य वर्ण—	p,	ph,	b,	bh,
(२) दंत्य—	t,	th,	b,	dh,
(३) कंठ्य—	q,	qh,	g,	gh,
(४) मध्यकंठ्य--	k,	kh,	g,	gh
(५) तालव्य—	k̂,	k̂h,	ĝ,	ĝh,

नुनासिक व्यंजन m; n, ṅ (ङ) और ń (ञ)
र्धस्वर i और u अर्थात् य और व।
व-वर्ण—अनुनासिक और अर्धस्वर वर्णों के अतिरिक्त दो द्रववर्ण
य मूल भारोपीय भाषा में विद्यमान थे अर्थात् र् और ल्।
सोष्म ध्वनि—s स, z ज, j य, v व्ह, γ ग, θ थ, ď द, ये सात
। सोष्म ध्वनियाँ थीं।

यह हमारी भाषा की प्राथमिक ध्वनियों का दिग्दर्शन हुआ। आगे
; अवेस्ता संस्कृत आदि की ध्वनियों के विवेचन के समय इनकी भी
था समय यथोचित तुलना करेंगे। वास्तव में हम दो भाषाओं को—
दिक संस्कृत और वर्तमान हिंदी को—ही उपमान मानकर अन्य
ाषाओं का वर्णन करेंगे क्योंकि इनमें से एक संसार की सबसे
धिक प्राचीन भाषा है और दूसरी सर्वथा आधुनिक हमारी बोलचाल
की भाषा (हिंदी) है। इसी से जब हम अवेस्ता के अनंतर वैदिक
ध्वनियों का परिचय पा जायँगे तभी सामान्य तुलना की चर्चा
कर सकेंगे।

अवेस्ता ध्वनि-समूह

अवेस्ता की ध्वनियाँ—

स्वर—

ह्रस्व समानाक्षर— *a* अ, i इ, u उ, e अॆ, e ए, o ओ।

दीर्घ समानाक्षर—*ā* आ, ī ई, ū ऊ, ə आ ē ए, ō ओ, āə आअॆ,
ę अँ अथवा आँ।

संध्यक्षर—āi ऐ, āu औ, ōi ओइ ae अए, ao अओ ēu ओउ।
ये सहज संध्यक्षर हैं। इसके अतिरिक्त गुण, वृद्धि, संप्रसारण आदि
से भी अनेक संध्यक्षर बन जाते हैं।

स्वनंत—ḷ भी अवेस्ता में पाया जाता है।

व्यंजन—

कंठ्य— k क, h ख, g ग, γ घ

तालव्य— c च,—j ज,—

दंत्य—t त, þ थ्, b द, ṭ द्, ṭ त्

ओष्ठ्य—p प, f फ, b ब, w व

अनुनासिक—ṅ ङ, m म, ñ न, ṃ और ṇ

अर्धस्वर— y य, v व

द्रव-वर्ण—र

ऊष्म—s, š, š, š, z, ž

प्राण ध्वनि—h ह, ḥ ह

बंधन अथवा योग—hv ह्व

नागरी लिपि-संकेतों से इनके उच्चारण का अनुमान किया जा सकता है; इसके सोष्म अर्थात् घर्ष वर्णों का उच्चारण विशेष ध्यान देने की बात है।

अवेस्ता की तीन प्रकार की विशेष ध्वनियों का विचार कर लेना उच्चारण की दृष्टि से आवश्यक है अवेस्ता के अनेक शब्दों में कभी आदि में, कभी मध्य में और कभी अन्त में एक प्रकार की श्रुति होती है। इस ध्वनि-कार्य के तीन नाम हैं—पुरोहित, अपिनिहिति और स्वरभक्ति।

(१) शब्द के आदि में व्यंजन के पहले उच्चारणार्थक इ अथवा उ के आगम को पुरोहिति अथवा पूर्वागम कहते हैं। जैसे—^{i}rinahti (सं० रिणक्ति) में i और ^{u}rupay^{i}nti (सं०=रोपयन्ति) में u। यह पूर्वहिति अथवा पुरोहिति अवेस्ता में र से प्रारंभ होनेवाले शब्दों में सदा होती है। पर थ के पूर्व में भी इसका एक उदाहरण मिलता है।

(२) अपिनिहिति का अर्थ है शब्द के मध्य में इ अथवा उ का आगम। यह मध्यागम तभी होता है जब उसी शब्द के उत्तर अंश अर्थात् पर अक्षर में इ, ई, म्र, ए, य, उ अथवा व रहता है। र, न, त, प, व, न्ह आदि के पूर्व में इ का आगम होता है पर उ का आगम केवल र के पूर्व में होता है। पूर्वहिति के समान अपिनिहिति भी एक प्रकार की पूर्वश्रुति ही है।

उदाहरण—bava^{i}ti (सं० भवति); aē^{i}ti (सं० एति); a^{i}ryo (सं० अर्य:), aur^{u}na (सं० अरुण), ha^{u}rvam (सर्वाम्)।

स्वर-भक्ति

(३) इसका शब्दार्थ है स्वर का एक भाग और इस प्रकार पुरोहिति और अपिनिहिति भी इसी के अतर्गत आ सकती हैं, क्योंकि उनमें भी तो स्वर का एक भाग ही सुन पड़ता है। पर स्वर-भक्ति का पारिभाषिक अर्थ यहाँ पर यह है कि अवेस्ता में दो संयुक्त व्यंजनों के बीच में एक ऐसा स्वर आ जाता है जिसका छंद से कोई संबंध नहीं रहता। इन दो व्यंजनों में से एक प्राय: र रहता है। इसके अतिरिक्त अवेस्ता में स्वर-भक्ति अंतिम र के बाद अवश्य उच्चरित होती है। स्वर-भक्ति अधिकतर ə की और कभी कभी a, i अथवा o की भी होती है।

उदाहरण—var^{ə}dra शब्द (सं० वक्त्र); z^{ə} mō पृथ्वी का (क्ष्मा); gar^{ə}mō गर्म (सं० घर्म:); antr भीतर (सं० अंतर्); hvar^{ə} सूर्य (सं० स्व:)।

वैदिक ध्वनि-समूह

अब हम तीसरे काल की ध्वनियों का विचार करेंगे। वैदिक ध्वनि-समूह, सच पूछा जाय तो, इस भारोपीय परिवार में सबसे प्राचीन है। उस ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ पाई जाती हैं—१३ स्वर और ३९ व्यंजन।

स्वर—
नव समानाक्षर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ
चार संध्यक्षर—ए, ओ, ऐ, औ

व्यंजन—
कंठ्य—क, ख, ग, घ, ङ
तालव्य—च, छ, ज, झ, ञ
मूर्धन्य—ट, ठ, ड, ढ, ळ, ळ्ह, ण
दंत्य—त, थ, द, ध, न
ओष्ठ्य—प, फ, ब, भ, म
अंतस्थ—य, र, ल, व
ऊष्म—श, ष, स
प्राणध्वनि—ह
अनुनासिक— ं (अनुस्वार)
अघोष सोष्मवर्ण—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय।

ऐतिहासिक तुलना की दृष्टि से देखें तो वैदिक भाषा में कई परिवर्तन देख पड़ते हैं। भारोपीय मूलभाषा की अनेक ध्वनियाँ उसमें

अभाव

नहीं पाई जातीं। उसमें (१) ह्रस्व ĕ, ŏ और ə; (२) दीर्घ ē ō (३) संध्यक्षर ĕi; ōi, ĕu, ŏu; āi, ēi, ōi, āu, ēu, ōu; (४) स्वनंत अनुनासिक व्यंजन, (५) और नाद सोष्म Z का अभाव हो गया है।

वैदिक में (१) ē ō के स्थान में a अ, e के स्थान में इ; (२) दीर्घ ē, ō के स्थान में आ; (३) संध्यक्षर ĕi, ŏi के स्थान में e ए,

परिवर्तन

ĕu, ŏu के स्थान में ŏ ओ; ăz, ĕz ŏz के स्थान में भी ē, ō; (४) ṛ के स्थान में ईर, ऊर, ḷ के स्थान में ṛ ऋ; (५) āi, ēi, ōi के स्थान में āi āu, ēu, ōu ऐ के स्थान में āu औ; आता है। इसके अतिरिक्त जब ऋ के पीछे अनु-नासिक आता है, ऋ का ॠ हो जाता है। अनेक कंठ्य-वर्ण तालव्य हो गए हैं। भारोपीय काल का तालव्य-स्पर्श वैदिक में सोष्म श के रूप में देख पड़ता है।

अर्जन—सात मूर्धन्य व्यंजन और एक मूर्धन्य ष ये आठ ध्वनि वैदिक में नई संपत्ति हैं।

आजकल की भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ५२ वैदिक ध्वनियों का वर्गी-करण इस प्रकार किया जा सकता है—

स्वर— (तेरह स्वर)

	पश्च	मध्य अथवा मिश्र	अग्र
संवृत (उच्च)	ऊ, उ		ई, इ
अर्धसंवृत (उच्च मध्य)	ओ	(ओ)	ए
अर्ध-विवृत (नीच-मध्य)	....	....	....
विवृत (नीच)	आ, अ		
संयुक्त स्वर	औ		ऐ
आक्षरिक			ऋ, ॠ, ऌ

व्यंजन—

	काकल्य	कंठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	वर्त्स्य	द्व्योष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	च ज	ट ड	त द	प व
सप्राण स्पर्श		ख घ	छ झ	ठ ढ	थ ध	फ भ
अनुनासिक		ङ	ञ	ण	न	म
घर्ष वर्ण	ह,ः(विस०)	ᳵ(जिह्वा०)	श	ष	स	ᳶ(उप०)
पार्श्विक				ळ	ल	
उत्क्षिप्त				ळ्ह	र	
अर्द्धस्वर			इ (य)			उ(व)

इन सब ध्वनियों के उच्चारण के विषय में अच्छी छानबीन हो चुकी है। (१) सबसे बड़ा प्रमाण कोई तीन हजार वर्ष पूर्व से अवि-च्छिन्न चली आनेवाली वैदिकों और संस्कृतज्ञों की परंपरा है। उनका उच्चारण अधिक भिन्न नहीं हुआ है। (२) शिक्षा और प्रातिशाख्य आदि से भी उस काल के उच्चारण का अच्छा परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त दूसरी निम्नलिखित सामग्री भी बड़ी सहायता करती है। (३) भारतीय नामों और शब्दों का ग्रीक प्रत्यक्षरीकरण (चीनी लेखों से विशेष लाभ नहीं होता पर ईरानी, मोन, ख्मेर, स्यामी, तिब्बती, बर्मी, जावा और मलय, मंगोल और अरबी के प्रत्यक्षरीकरण कभी भी मध्यकालीन उच्चारण के निश्चित करने में सहायता देते हैं।)

(४) मध्यकालीन आर्य-भाषाओं (अर्थात् पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि) और आधुनिक आर्य देश-भाषाओं (हिंदी, मराठी, बँगला आदि) के ध्वनि-विकास से भी प्रचुर प्रमाण मिलता है। (५) इसी प्रकार अवेस्ता, प्राचीन फारसी, ग्रीक, गाथिक, लैटिन आदि संस्कृत की सजातीय भारोपीय भाषाओं की तुलना से भी सहायता मिलती है। (६) और इन सबकी उचित खोज करने के लिये ध्वनि-शिक्षा के सिद्धांत और भाषा के सामान्य ध्वनि-विकास का भी विचार करना पड़ता है।

वैदिक के बाद मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा के दो प्रारंभिक रूप हमारे सामने आते हैं—लौकिक-संस्कृत और पाली। लौकिक संस्कृत उसी प्राचीन भाषा का ही साहित्यिक रूप था और पाली उस प्राचीन भाषा की एक विकसित बोली का साहित्यिक रूप। हम दोनों की ध्वनियों का दिग्दर्शन मात्र करावेंगे। पाणिनि के चौदह शिव-सूत्रों में बड़े सुंदर ढंग से परवर्ती साहित्यिक संस्कृत की ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। उसका भाषा-वैज्ञानिक क्रम देखकर उसे घुणाक्षरन्यायेन बना कभी नहीं कहा जा सकता। उसमें भारतीय वैज्ञानिकों का तप निहित है। वे सूत्र ये हैं—

१—अइउण्	८—झभञ्
२—ऋलृक्	९—घढधष्
३—एओङ्	१०—जबगडदश्
४—ऐऔच्	११—खफछठथचटतव्
५—हयवरट्	१२—कपय्
६—लण्	१३—शषसर्
७—ञमङणनम्	१४—हल्

पहले चार सूत्रों में स्वरों का परिगणन हुआ है। उनमें से भी पहले तीन में समानाक्षर गिनाए गए हैं।

(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ—ये ग्यारहों वैदिक काल के समानाक्षर हैं; परवर्ती काल में अ का उच्चारण

संवृत ʌ होने लगा था और ऋ तथा ऌ का प्रयोग कम और उच्चारण संदिग्ध हो चला था।

(२) चौथे सूत्र में दो संध्यक्षर आते हैं—ऐ, औ।

(३) पाँचवें और छठे सूत्रों में प्राण-ध्वनि ह् और चार अंतःस्थ वर्णों का नामोद्देश मिलता है। अ, इ, उ, ऋ, ऌ, के क्रमशः बराबरी-वाले व्यंजन ह्, य, व, र, ल हैं। स्वरों के समान ये पाँचों व्यंजन भी घोष होते हैं।

(४) सातवें सूत्र में पाँचों अनुनासिक व्यंजनों का वर्णन है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि स्वर और व्यंजनों के बीच में अंतःस्थ और अनुनासिक व्यंजनों का आना सूचित करता है कि इतनी ध्वनियाँ आक्षरिक भी हो सकती हैं।

(५) इसके बाद ८, ९, १०, ११ और १२ सूत्रों में २० स्पर्श-व्यंजनों का परिगणन है। उनमें भी पहले ८, ९, १० सूत्रों में घोष व्यंजनों का वर्णन है; उन घोष-स्पर्शों में से भी पहले महाप्राण घ, झ, ढ, ध, भ आते हैं तब अल्पप्राण ज, ब, ग, ड, द आते हैं, फिर ११ और १२ सूत्रों में अघोष स्पर्शों का वर्णन महाप्राण और अल्पप्राण के क्रम से हुआ है—ख, फ, छ, ठ, थ और क, च, ट, त, प।

(६) १३ और १४ सूत्र में अघोष सोष्म वर्णों का उल्लेख है—श, ष, स और ह्। संस्कृत में ये ही घर्ष-व्यंजन हैं। इन्हें ही ऊष्म कहते हैं। अंतिम सूत्र हल् ध्यान देने योग्य है। बीच में पाँचवें सूत्र में प्राण-ध्वनि ह् की गणना की जा चुकी है। यह अंत में एक नया सूत्र रखकर अघोष तीन सोष्म ध्वनियों की ओर संकेत किया गया है। विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय ये तीन प्राण-ध्वनि ह् के ही अघोष रूप हैं।

इस प्रकार इन सूत्रों में क्रम से चार प्रकार की ध्वनियाँ आती हैं—पहले स्वर; फिर ऐसे व्यंजन जो स्वानंत स्वरों के समानधर्मा (corresponding) व्यंजन हैं; तब स्पर्श-व्यंजन और अंत में घर्ष-

व्यंजन। आजकल के भाषा-वैज्ञानिक भी इसी क्रम से वर्णों का वर्गीकरण करते हैं।

(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ।
(२) ह, य, व, र, ङ, ञ, ण, न, म।
(३) क, ख, ग, घ; च, छ, ज, झ इत्यादि बीसों स्पर्श।
(४) श, ष, स, ह।

पाली ध्वनि-समूह

पाली में दस स्वर अ, आ, इ, उ, ऊ, ऐ, ए, ओ, ओ पाए जाते हैं। ऋ, ॠ, लृ, ऐ, औ का सर्वथा अभाव पाया जाता है। ऋ के स्थान में अ, इ अथवा उ का प्रयोग होता है। ऐ, औ के स्थान में पाली ए, ओ हो जाते हैं। संयुक्त व्यंजनों के पहले ह्रस्व ऐ ओ भी मिलते हैं। वैदिक संस्कृत की किसी किसी विभाषा में ह्रस्व ए ओ मिलते थे पर साहित्यिक वैदिक तथा परवर्ती संस्कृत में तो उनका सर्वथा अभाव हो गया था (तेषां ह्रस्वाभावात्)। पाली के बाद ह्रस्व ऐ ओ प्राकृत और अपभ्रंश में से होते हुए हिंदी में भी आ पहुँचे हैं। इसी से कुछ लोगों की कल्पना है कि ह्रस्व ऐ ओ सदा बोले जाते थे, पर जिस प्रकार पाली और प्राकृत तथा हिंदी की साहित्यिक भाषाओं के व्याकरणों में ह्रस्व ऐ ओ का वर्णन नहीं मिलता उसी प्रकार वैदिक और लौकिक संस्कृत के व्याकरणों में भी ऐ ओ का ह्रस्व रूप नहीं गृहीत हुआ पर वह उच्चारण में सदा से चला आ रहा है।

व्यंजन

पाली में विसर्जनीय, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग नहीं होता। अंतिम विसर्ग के स्थान में ओ तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के स्थान में व्यंजन का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—सावको, दुक्ख, पुनप्पुनम्।

अनुस्वार का अनुनासिक व्यंजनवत् उच्चारण होता था।

पाली में श, ष, स तीनों के स्थान में स का ही प्रयोग होता था। पर पश्चिमोत्तर के शिलालेखों में तीनों का प्रयोग मिलता है। परवर्ती काल की मध्यदेशीय प्राकृत में अर्थात् शौरसेनी में तो निश्चय से केवल स का प्रयोग होने लगा।

संस्कृत के अन्य सभी व्यंजन पाली में पाए जाते हैं। तालव्य और वर्त्स्य स्पर्शों का उच्चारण-स्थान थोड़ा और आगे बढ़ आया था। पाली के काल में ही वर्त्स्य वर्ण अंतर्दंत्य हो गए थे। तालव्य स्पर्श-वर्ण उस काल में तालु-वर्त्स्य घर्ष-स्पर्श वर्ण हो गए थे। तालव्य व्यंजनों का यह उच्चारण पाली में प्रारंभ हो गया था और मध्य प्राकृतों के काल में जाकर निश्चित हो गया। अंत में किसी किसी आधुनिक देश-भाषा के आरंभ-काल में वे ही तालव्य च, ज दंत्य घर्ष-स्पर्श ts ds और दंत्य ऊष्म स, ज़ हो गए।

प्राकृत ध्वनि-समूह

पाली के पीछे की प्राकृतों का ध्वनि-समूह प्रायः समान ही पाया जाता है। उसमें भी वे ही स्वर और व्यंजन पाए जाते हैं। विशेषकर शौरसेनी प्राकृत तो पाली से सभी बातों में मिलती है। उसमें पाली के ड़ ढ़ भी मिलते हैं। पर न और य शौरसेनी में नहीं मिलते। उनके स्थान में ण और ज हो जाते हैं।

अपभ्रंश का ध्वनि-समूह

अपभ्रंश काल में आकर भी ध्वनि-समूह में कोई विशेष अंतर नहीं देख पड़ता। शौरसेन अपभ्रंश की ध्वनियाँ प्रायः निम्नलिखित थीं।

स्वर

	पश्च	अग्र
संवृत		
ईपत्संवृत	ऊ, उ	ई, इ
	ओ ऒ	ए, ऎ
ईषत्विवृत	अ	
विवृत	आ	

व्यंजन

	काकल्य	कंठ्य	मूर्धन्य	तालव्य	तालु-वर्त्स्य	अंतर्दंत्य	द्वयोष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	ट ड			त द	प ब
सप्राण स्पर्श		ख, घ	ठ ढ			थ	फ भ
स्पर्श-घर्ष					च ज छ झ		
अनुनासिक		ङ	ण		ञ	न्ह, न	म्ह, म
पार्श्विक			ड़, ढ़		ल		
उत्क्षिप्त					र		
घर्ष अर्थात् सोष्म	ह					स	व, वँ
अर्ध स्वर				य			व़

हिंदी ध्वनि-समूह

ये अपभ्रंश-काल की ध्वनियाँ (१० स्वर और ३७ व्यंजन) सभी पुरानी हिंदी में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त ऐ (अए) और

औ (अओ) इन दो संध्यक्षरों का विकास भी पुरानी हिंदी में मिलता है। विदेशी भाषाओं से जो व्यंजन आये थे वे सब तद्भव बन गए थे। अंत में आधुनिक हिंदी का काल आता है। उनमें स्वर तो वे ही पुरानी हिंदी के बारह स्वर हैं, पर व्यंजनों में वृद्धि हुई है। क़, ग़, ख़, ज़, फ़ के अतिरिक्त ऑ तथा श आदि अनेक ध्वनियाँ तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होने लगी हैं। केवल ऋ, ष, ञ् ऐसे व्यंजन हैं जो नागरी लिपि में हैं और संस्कृत तत्सम शब्दों में आते भी हैं पर वे हिंदी में शुद्ध उच्चरित नहीं होते; अतः उनका हिंदी में अभाव ही मानना चाहिए। इन हिंदी ध्वनियों का विवेचन पीछे हो चुका है।

इस प्रकार भिन्न भिन्न काल की भारतीय आर्य भाषाओं के ध्वनि-समूह से परिचय कर लेने पर उनकी परस्पर तुलना करना, तुलना के आधार पर ध्वनियों के इतिहास का विचार करना भाषा-शास्त्र का एक आवश्यक अंग माना जाता है। ध्वनि-विकारों का अथवा ध्वनियों के विकास का यह अध्ययन कई प्रकार से किया जा सकता है। (१) एक विधि यह है कि किसी भाषा की ध्वनियों का इतिहास जानने के लिये हम उस भाषा की पूर्वज किसी भाषा की एक एक ध्वनि का विचार करके देख सकते हैं कि उस प्राचीन एक ध्वनि के इस विकसित भाषा में कितने विकार हो गए हैं; जैसे—हम संस्कृत की ऋ के स्थान में पाली में अ, इ, उ, रि, रु आदि अनेक ध्वनियाँ पाते हैं। प्राचीनतर संस्कृत भाषा के मृत्यु, ऋषि, परिवृतः, ऋत्विज, ऋते, वृक्ष आदि और पाली के मच्चु, इसि, परिवुतो, इत्विज, रिते, रुक्ख आदि की तुलना करके हम इस प्रकार का निश्चय करते हैं। इसी प्रकार का अध्ययन भारत के अनेक वैयाकरणों ने किया था। वे संस्कृत की ध्वनियों को प्रकृति मानकर तुलना द्वारा यह दिखलाते थे कि संस्कृत की किस ध्वनि का पाली अथवा प्राकृत में कौन विकार हो गया है। इसी ढंग से कई विद्वान् आज हिंदी की ध्वनियों का संस्कृत से संबंध दिखाकर हिंदी ध्वनियों का अध्ययन करते हैं। (२) दूसरी विधि यह है कि जिस भाषा

का अध्ययन करना हो उसकी एक एक ध्वनि को लेकर उसके पूर्वजों का पता लगाना चाहिए। यदि संस्कृत के ध्वनि-समूह का अध्ययन करना है तो उसकी एक एक ध्वनि को लेकर प्राचीन भारोपीय भाषा से उसका संबंध दिखाने का यत्न करना चाहिए। उदाहरणार्थ— संस्कृत की अ ध्वनि को लेते हैं। संस्कृत 'अ' भारोपीय अ, ए, ओ, म़, ऩ, सभी के स्थान में आता है। संस्कृत के अंबा, जनः, अस्थि, शतम्, मतः, क्रमशः पाँचों के उदाहरण हैं। ऐसा ऐतिहासिक अध्ययन बड़ा उपयोगी होता है।

यदि ऐसा ही ऐतिहासिक विवेचन किसी आधुनिक आर्य भाषा का किया जाय तो केवल भारोपीय भाषा से नहीं, वैदिक, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि सभी की ध्वनियों का विवेचन करके उनसे अपनी आधुनिक भारतीय आर्य भाषा की ध्वनियों की तुलना करनी होगी। इसी प्रकार हिंदी के ध्वनि-विकारों का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिये उसकी पूर्ववर्ती सभी आर्य भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। अभी जब तक इन सब भाषाओं का इस प्रकार का अध्ययन नहीं हुआ है तब तक यह किया जाता है कि संस्कृत की ध्वनियों से हिंदी की तुलना करके एक साधारण इतिहास बना लिया जाता है; क्योंकि संस्कृत प्राचीन काल की और हिंदी आधुनिक काल की प्रतिनिधि है। हिंदी-ध्वनियों का विचार तो तभी पूर्ण हो सकेगा जब मध्यकालीन भाषाओं का सुंदर अध्ययन हो जाय।

इस प्रकार तुलना और इतिहास की सहायता से भिन्न भिन्न कालों की ध्वनियों का अध्ययन करके हम देखते हैं कि ध्वनियाँ सदा एक सी नहीं रहतीं—उनमें विकार हुआ करते हैं। इन्हीं विकारों के अध्ययन से ध्वनि-विचार के सिद्धांत और नियम बनते हैं। पीछे हम ऐतिहासिक विवेचन कर चुके हैं। आगे हम ध्वनि-विकारों और उनके संबंधी नियमों का विचार करेंगे।

ध्वनि-विचार का दूसरा अंग

प्रत्येक भाषा के ध्वनि-विकार की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं।

अतः सभी भाषाओं के ध्वनि-विकारों के सभी भेदों का वर्णन एक स्थान में नहीं हो सकता, तो भी कुछ सामान्य भेदों का परिचय यहाँ दिया जाता है—

(१) मात्रा-भेद अर्थात् ह्रस्व स्वरों का दीर्घ हो जाना तथा दीर्घ का ह्रस्व हो जाना ध्वनि-विकार का एक सामान्य भेद है। जैसे—

ह्रस्व से दीर्घ हो जाना

सं०	अपभ्रंश	हिंदी
भक्तम्	भत्त	भात
खट्वा	खट्टा	खाट
पक्वः	पक्कु	पको, पका
जिह्वा	जिब्भा	जीभ
मृत्युः	मिच्चु	मीच

यह दीर्घ करने की प्रवृत्ति मराठी में इतनी अधिक बढ़ी हुई है कि संप्रदाय, मदन, रथ, कुल आदि जैसे तत्सम शब्द भी मराठी में सांप्रदाय, मादन, राथ, कूल आदि अर्धतत्सम रूप में पाए जाते हैं। पुर, वह्नि, परख आदि के लिए मराठी पूर, वहीन, पारख आदि रूप प्रसिद्ध हैं।

दीर्घ का ह्रस्व हो जाना

सं०	अपभ्रंश	मराठी	हिंदी
कीटकः	कीड़ौ	किड़ा	कीड़ा
कीलकः	कीलउ	खिला	खीला
घोटकः	घोड़उ		घोड़ा
दीपालयः	दीवालउ	(बं० दिवार)	दीवाल

यद्यपि यह ह्रस्व करने की प्रवृत्ति आदर्श हिंदी की खड़ी बोली में नहीं है तथापि पूर्वी हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि में प्रचुर

मात्रा में है। यह मात्रा-भेद बल अर्थात् आघात के अनुसार होता है और वह हिंदी में भी देख पड़ता है, जैसे मीठा, बाट, काम, भीख आदि में पहले अक्षर पर बल है पर जब वही बल का झटका आगे के अक्षर पर आ जाता है तब दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है; जैसे—मिठास, बटोही, कमाउ, भिखारी आदि।

(२) लोप

यह कई प्रकार का होता है—वर्णलोप, अक्षरलोप, आदि-लोप, मध्य-लोप, अंत-लोप। वर्ण-लोप के भी दो भेद होते हैं—स्वर-लोप और व्यंजन-लोप। (अ) प्राकृतों में व्यंजन-लोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्राकृत पदों के अंत में व्यंजनों का सदा लोप हो जाता है और मध्य में भी प्राय: व्यंजन-लोप का कार्य देखा जाता है। हिंदी में व्यंजनों का लोप नहीं देखा जाता, प्रत्युत वैदिक संस्कृत के समान हिंदी में भी पद के अंत में सभी व्यंजन पाए जाते हैं। यद्यपि लिखने में स्वर की मात्रा प्राय: रहती है तथापि वास्तव में अधिक शब्द हलंत (अर्थात् व्यंजनांत) ही होते हैं; जैसे माङ्, माँग्, सीख् आदि हलंत पद ही हैं जो स्वरांत लिखे जाते हैं। आदि-व्यंजन-लोप के उदाहरण भी प्राचीन आर्ष अपभ्रंश (वैदिक) में श्चंद्र: से चंद्र और स्तारा से तारा आदि मिलते हैं।

आदि-व्यंजन-लोप

आदि-व्यंजन-लोप के उदाहरण अँगरेजी, ईरानी आदि भाषाओं में भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं; जैसे—(१) आदि-व्यंजन-लोप—अँगरेजी knight hour, heir आदि; अवे० हंजुमन (सभा) > अंजुमन (आ० फा), सं० हस्त > का० अथ, जिहली अत; सं० शुष्क > फा० उश्कुदन; अवे० हुस्क > प्रा० फा० उस्क; सं० स्थान > हिं० थान, ठाँव; सं० स्थाणु > प्रा० थाणु; अँ० Station > हिं० टेशन; सं० ज्वल < वलना; सं० द्वे से वे आदि सब में आदि-लोप ही तो हुआ है।

मध्य-व्यंजन-लोप

सं०	प्रा०
सागर:	साअरो
वचनं	वअणं
सूची	सूई
प्रियगमनं	पिअगमणं
नगर	णअर
उत्तान	उतान
कवित्तावली	कवितावली
गृहद्वार (घरद्वार)	घरवार

अँगरेजी में भी night, light, daughter जैसे मध्य-व्यंजन-लोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

अंत-व्यंजन-लोप

सं०	प्रा०
पश्चात्	पश्चा
यावत्	जाव
पुनर्	पुण
सम्यक्	सम्मं
अभरत्	एफरे (ग्रीक)

ग्रीक का उदाहरण इसलिये दिया है कि प्राकृत की भाँति ग्रीक में भी अंतिम व्यंजन का लोप हो जाता है। संस्कृत में शब्द के अंत में व्यंजन तो रहते हैं पर पदांत में यदि कोई संयुक्त व्यंजन आ जाता है तो अंतिम का प्राय: लोप हो जाता है। जैसे—अभरंन् से अभरन्, वाक्+स से वाक्।

(आ) स्वर-लोप—

आदि-स्वर-लोप

सं०	हि०
अभ्यंतर	भीतर

सं०	हिं०
अभि + अञ्ज्	भींजना
अपि	भी
अरघट्ट	रहटा
अतसी	तीसी
उपविष्ट	बैठा
अस्ति	है
उपायन	वायन, वैना
एकादश	ग्यारह

मध्य-स्वर-लोप

जैसे राजन् में अ का लोप होने से ही राज्ञा अथवा राज्ञी बनता है, वैसे ही गम् धातु से जग्मुः, deksiterous से लै० dexter, दुहिता से धीदा, धीआ आदि में भी वही मध्य-लोप देख पड़ता है और जैसे मराठी में पल्डा, वराल्डा आदि मध्य-लोप वाले शब्द होते हैं वैसे हिंदी में भी बहुत होते हैं पर लिखने में वे हलंत नहीं लिखे जाते। इस लिपि का एक कारण यह भी है कि वास्तव में मध्य-स्वर का लोप नहीं होता है, केवल उसका उच्चारण अपूर्ण होता है; जैसे—

लिखित रूप	उच्चरित रूप
इमली	इम्ली
बोलना	बोल्ना
गरदन	गर्दन
तरबूज	तर्बूज
समझना	समझ्ना

अंत्य-स्वर-लोप

मध्यकालीन-भारतीय-आर्य-भाषा-काल के अंत में संस्कृत के दीर्घ स्वर—आ, ई, ऊ—प्राकृत शब्दों के अंत में पाए जाते थे पर

आधुनिक काल के प्रारंभ में ही ये ह्रस्व स्वर हो गए थे और धीरे धीरे लुप्त हो गए। उस प्रकार हिंदी के अधिक तद्भव शब्द व्यंजनांत होते हैं।

सं०		हि०
निद्रा	से	नींद्
दूर्वा	,,	दूब
जाति	,,	जात्
ज्ञाति	,,	नात्
भगिनी	,,	बहिन
बाहु	,,	बाँह्
संग	,,	संग्
पार्श्व	,,	पास्

शब्द के अंत में जो व्यंजन अथवा स्वर रहते हैं वे धीरे धीरे क्षीण होकर प्रायः लुप्त हो जाते हैं। वैदिक से लेकर हिंदी तक की ध्वनियों का इतिहास यही बताता है।

(१) अक्षर-लोप—छः प्रकार के वर्ण-लोप के अतिरिक्त अक्षर-लोप के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। अक्षर का पारिभाषिक अर्थ पीछे दिया जा चुका है। जब एक ही शब्द में दो समान अथवा मिलते जुलते अक्षर एक ही साथ आते हैं तो प्रायः एक अक्षर का लोप हो जाता है; जैसे—वैदिक भाषा में मधुदुघ (मधु देनेवाला) का म-दुघ हो जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण वैदिक और लौकिक संस्कृत में मिलते हैं; जैसे शेववृध: से शेवृध:, तुवीरववान् से तुवीरवान्, शष्पपिंजर से शष्पिञ्जर, आदत्त से आत्त, जहीहि से जहि। हि० बीता (वितस्ति), हि० पाधा (उपाध्याय), म० सुकेलें (सुकें+केले), गुराखी (गुरे+राखी) आदि भी अच्छे उदाहरण हैं। पर्यंक-ग्रंथि से पलथी और "मानत हतो" से मानत थो (मानता हता से मानता था) में भी अक्षर-लोप का प्रभाव स्पष्ट है।

आगम भी लोप ही के समान स्वर और व्यंजन दोनों का होता है। और यह द्विविध वर्णागम शब्द के आदि, अंत और मध्य, सभी स्थानों में होता है; जैसे - (१) आदि व्यंजनागम ओष्ठ से होठ, अस्थि से हड्डी। (२) मध्य व्यंजनागम—निराकार, व्यास, पण, शाप, वानर, सूनरी, सुख से क्रमशः निरंकाल, व्रासु, प्रण, श्राप, बंदर, सुंदरी, सुक्ख। य और व की श्रुति तो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी आदि सभी में पाई जाती है, विष्णु-इह = विष्णविह, मअंक=मयंक, गतः>गअ>गया आदि श्रुतियों के उदाहरण सभी काल में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। पाली में अन्य व्यंजनों के मध्य आगम के उदाहरण भी अनेक मिलते हैं; जैसे—सम्म + ञा=सम्मञ्ञा (सम्यक् ज्ञान) आरग्गो + इव=आरग्गोरिव (आराक समान) बोलचाल में नंगा, निंदा, रेल आदि निहंग, निन्द्या, रेहल आदि हो जाते हैं। संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों के साथ जो 'यम' का वर्णन आता है वह भी एक प्रकार का मध्यागम ही है। गुजराती का अमदावाद हिंदी में अहमदाबाद हो जाता है। यह भी मध्यागम ही है।

(३) आगम

(३) अंत्य व्यंजनागम—छाया>छावँ>छवँह; कल्य>कल्ल>कल>कल्ह।

(४) आदि स्वरागम—लै० Schola फ्रें० ecole अं० स्कूल से इस्कूल, स्टेशन से इस्टेशन, सं० स्नान से अस्नान, स्त्री से इस्त्री, इत्थिया से इत्थी आदि आदि स्वरागम के उदाहरण हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि उसी स्त्री शब्द से आदि-लोप द्वारा तिरिया और आदि-आगम द्वारा इत्थिया के समान शब्द बनते हैं। ग्रीक, अवेस्ता आदि कई भाषाओं में यह आदि स्वरागम अथवा पुरोहिति की विशेष प्रवृत्ति देख पड़ती है।

(५) मध्य स्वरागम—इंद्र का इंदर, दृष्टांत (दरशत=वै०), भ्रम का भरम, प्रकार का परकार, स्वर्ण का सुवर्ण; सुवर्ण से सुवरन, क्लांत से किलिंत, स्निग्ध से सिणिद्ध, पत्नी से पतनी, मनोर्थ से मनोरथ। मध्य स्वरागम के भी दो भेद किये जाते हैं (क) जब दो संयुक्त व्यंजनों

के बीच में किसी स्वर का आगम होता है तब वह स्वर-भक्ति अथवा युक्तविकर्ष के कारण होता है; जैसे—सं० श्लाघा, पा० सिलाघा, प्रा० सलाहा, हिं० सराहना।

(ख) दूसरे प्रकार का स्वरागम अपिनिहिति के कारण होता है; जैसे—वली > वइलि > वइल, वइल्ल, वइल्लु > वेल, बेल इत्यादि। वल्ली (लता) > वइल्लि > वइल > वेल > वेली, वेला आदि। पर्व > पउरु > पउर > पोर। इसके उदाहरण अवेस्ता में अधिक मिलते हैं।

अपिनिहिति के उदाहरण हिंदी में कम मिलते हैं पर स्वर-भक्ति के आगमवाले तद्भव शब्द हिंदी में बहुत हैं; जैसे—अगनी, अगनबोट, हरख, परताप, मिसिर, सुकुल, पूरब, भगत आदि।

(ग) अंत्य स्वरागम—शब्द के अंत में स्वर और व्यंजन का लोप तो प्रायः सभी काल की भा० आर्य भाषाओं में पाया जाता है पर अंत में स्वर का आगम नहीं पाया जाता। कुछ लोगों की कल्पना है कि प्राकृत काल के भल्ल और भद्र जैसे शब्दों के अंत में 'आ' का आगम हुआ है पर यह सिद्धांत अभी विद्वानों द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है।

प्राचीन ईरानी भाषाओं में अंत्य स्वरागम भी पाया जाता है; जैसे—सं० अंतर, अवे० में antar के समान उच्चरित होता है।

(४) वर्ण-विपर्यय

अनेक शब्दों के वर्णों का आपस में स्थान-परिवर्तन हो जाने से नये शब्दों की उत्पत्ति हो जाती है। यह विपर्यय की प्रवृत्ति कई भाषाओं में अधिक और कई में कम—सभी भाषाओं में कुछ न कुछ पाई जाती है। हिंदी में भी इस विपर्यय अथवा व्यत्यय के सुंदर उदाहरण मिलते हैं—

स्वर-विपर्यय

सं०	हिं०
उल्का	लूका
अंगुली	उँगली

सं०	हि०
एरंड	रेंड़, रेंड़ी
अम्लिका	इमली
बिंदु	बुंद, बूँद
इक्षु	ऊख
श्मश्रु	मूछ
सन्धि	सेंध
पशु	पोहें (बो०)
श्वसुर	सुसर, ससुर (बो०)

व्यंजन-विपर्यय

बिडाल	बिलार
लघुक	हलुक
गृह	घर
परिधान	पहिरना
गरुड	गडुर
लखनउ	नखलउ
चाकू	काचू
नुक्सान	नुस्कान
आदमी	आमदी
बताशा	बसाता
पहुँचना	चहुँपना

(५) संधि और एकीभाव

भाषा में अनेक ध्वनि-विकार संधि-द्वारा होते हैं। स्वरों के बीच में जो विवृति रहती है वह संधि द्वारा प्रायः विकार उत्पन्न किया करती है; जैसे—स्थविर का गिरनार के शिलालेख में 'थइर' रूप मिलता है; अब अ इ के बीच की प्रवृत्ति मिटकर संधि हो जाने से 'थेर' (=वृद्ध) रूप बन जाता है। भाषा के विकास में ऐसे संधिज विकारों का बड़ा हाथ रहता है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का उदाहरण लें तो मध्य-व्यंजन लोप होने पर स्वरों की तीन ही गतियाँ होती हैं—(१) या तो स्वरों के बीच में विवृत्ति रहे जैसे हु आ; अथवा (२) बीच में या अथवा व का आगम हो जैसे गत: से गअ होने पर गया और गवा रूप बनते हैं; अथवा (३) संधि द्वारा दोनों स्वरों का एकीभाव हो जाय जैसे चलइ का चलै, मइं का मैं आदि। ऐसे तीसरे प्रकार के ध्वनि-विकारों का अर्थात् स्वर-संधि द्वारा हुए परिवर्तनों का हमारी आधुनिक देश-भाषाओं में बाहुल्य देख पड़ता है। उदाहरण—खादति > खाअइ > खाइ और खाय राजदूत: > राअउत्तु > राउत, चर्मकार: > चम्मआरु > चमार; वचनं > वअणं > वयणु > वइन, बैन:; नगरं > णअरो > नयरु > नइर > नेर (हिं०); समर्पयति > सअप्पेइ > सप्पेइ > सउप्पइ, सउंपे > सौंपे; अपर: > अवरु > और; मुकुट > मउडु > मौर; मयूर > मऊरो > मोर; शतं > सअं, स-ओ और सए > सउ > सइ > सव, सौ, सै, सय, सो (गु०) इत्यादि।

भाषा की यह साधारण प्रवृत्ति है कि ध्वनियाँ एक दूसरी पर प्रभाव डाला करती हैं, कभी कोई वर्ण दूसरे वर्ण को सजातीय तथा सरूप बनाता है और कभी सजातीय को विजातीय और विरूप। एक वर्ण के कारण दूसरे वर्ण का सजातीय अथवा सवर्गी बन जाना

(६) सावर्ण्य अथवा सारूप्य

सावर्ण्य कहलाता है और विजातीय हो जाना असावर्ण्य। सावर्ण्य और असावर्ण्य, दोनों ही दो दो प्रकार के होते हैं—(१) पूर्व-सावर्ण्य, (२) पर-सावर्ण्य, (३) पूर्व-असावर्ण्य (अथवा पूर्व वैरूप्य), (४) पर-असावर्ण्य। जब पूर्व-वर्ण के कारण पर-वर्ण में परिवर्तन होता है तब (क) यह कार्य पूर्व-सावर्ण्य कहलाता है; जैसे—चक्र से चक्क; सपत्नी से सवत्ती, अग्नि से अग्गी इत्यादि। यहाँ चक्र में 'क' ने 'र' को, सपत्नी में 'त' ने 'न' को और अग्नि में 'ग' ने 'न' को अपना सवर्ण बना लिया है। प्राकृत में इस प्रकार के मुक्क (मुक्त), तक्क (तक्र) वग्घ (व्याघ्र), वेरग्ग (वैराग्य) आदि असंख्य शब्द इसी सावर्ण्य

विधि से निष्पन्न होते हैं। यही सावर्ण्य देखकर ही मूर्धन्यभाव का नियम बनाया गया है। उसी पद में र और ष के पर में जो दंत्य-वर्ण आता है वह मूर्धन्य हो जाता है; जैसे—तृण मृणाल, रामेण, मृग्यमाण, स्तृणोति, मृण्मय आदि। यह नियम वैदिक, प्राकृत सभी में लगता है। वैदिक मूर्धन्य वर्णों के विषय में तो यह नियम कहा जा सकता है कि वे दंत्य वर्णों के ही विकार हैं। दुस + तर = दुष्टर, निजद = नीड, मृष् + त = मृष्ट, दुस + धी = दूढी (दुर्बुद्धि) दृह् + त = दृढ, नृ + नाम् = नृणाम् आदि की रचना में पूर्व-सावर्ण्य का कार्य स्पष्ट है। वैदिक भाषा में तो यह पूर्व-सावर्ण्य विधि केवल दो वर्णों की संधि में अथवा समानपद में ही नहीं, दो भिन्न भिन्न पदों में भी कार्य करती है; जैसे—इंद्र एणां (ऋ० १।१६३।२); परा णुदस्व इत्यादि।

(ख) जब परवर्ती वर्ण अथवा अक्षर पूर्व-वर्ण अथवा अक्षर को अपना सवर्ण बनाता है तब यह क्रिया परसावर्ण्य कहलाती है; जैसे—कर्म से कम्म होने में पूर्ववर्ती र को परवर्ण म अपना सवर्ण बना लेता है। लै० में pinque से quinque भी इसी नियम से हुआ है। कार्य से कज्ज, स्वप्न से सिविण आदि प्राकृत में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। लौकिक संस्कृत की संधि में भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। (देखो—'झलाँ जश झशि' जैसे सूत्र परसवर्णादेश के विधायक हैं।) तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के अनुसार स्वशुर और स्मश्रु का दंत्यस इसी परसावर्ण्य के कारण ही तालव्य हो गया है। यथा—श्वशुर, श्वश्रू, श्मश्रू इत्यादि।

इसी सावर्ण्य विधि के अंतर्गत स्वरानुरूपता का नियम भी आ जाता है; जैसे—मृग-तृष्णिका के मअ-तण्हिआ और मिअ-तिण्हिआ दो रूप होते हैं अर्थात् मअ अथवा मिअ के अनुसार ही 'त' में अकार अथवा इकार होता है।

सावर्ण्य के विपरीत कार्य को असावर्ण्य अथवा वैरूप्य (विरूपता) कहते हैं। जब एक ही शब्द में दो समान ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं

तब एक को थोड़ा परिवर्तित करने की अथवा लुप्त करने की प्रवृत्ति देखी जाती है; जैसे—कङ्कन को लोग कंगन और नूपुर (नुउर) को नेउर कहते हैं। पहले उदाहरण में पूर्व-वर्ण के अनुसार दूसरे में विकार हुआ है और दूसरे में पर-वर्ण के अनुसार पूर्ववर्ण में विकार हुआ है। दूसरे ढंग के उदाहरण प्राकृतों में अनेक मिलते हैं; जैसे—मुकुट > मउड, गुरुक > गरुअ, पुरुष > पुरिस; लांगल से नांगल (म० नांगर) इत्यादि। पिपीलिक से पिपिल्लिका। ग्रासमान का नियम इस प्रकार के विकारों का अच्छा निदर्शन है।

(७) असावर्ण्य

कुछ ऐसे ध्वनि-विकार भी हुआ करते हैं जो विकास के इन साधारण नियमों के विपरीत एकाएक हो जाते हैं। प्रायः विदेशी और अपरिचित शब्द जब व्यवहार में आते हैं तब साधारण जनता उनका अपने मन का अर्थ समझ लेती है और तदनुकूल उच्चारण भी करती है। अर्थ समझकर उच्चारण करने में अवयवों को सीधा प्रयत्न करना पड़ता है; वह सुखकर होता है। गुजराती में वेल शब्द बैलगाड़ी के लिये आता है। रेलवे का उसी वेल से संबंध जोड़कर गुजराती लोग वेलवेल (railway) कहने लगे। इसी प्रकार Artichoke का बँगला हाथीचोख हो गया। हाथीचोख का अर्थ होता है हाथी की आँख। अँगरेजी में advance को साधारण नौकर अठवांस कहा करते हैं क्योंकि वह 'आठवां अंश' के समान समझा जाता है। इंतकाल का अंतकाल, आर्ट कालेज का आठ कालेज, Library का रायबरेली Mackenzie का मक्खनजी, Ludlow का लड्डू; Macdermott का डकमोट, title को टाटिल (टाट से बना पृष्ठ) इसी मनचाही व्युत्पत्ति के कारण बन जाता है। अँगरेजी में भी Sweetard से Sweet-heart, The Bacchanals से The Bag of Nails, asparagus से sparrow-grass आदि इसी प्रकार बन जाते हैं।

(८) भ्रामक व्युत्पत्ति

कुछ ध्वनि-विकार ऐसे होते हैं जो किसी देश-विशेष अथवा भाषा-विशेष में ही पाए जाते हैं; जैसे—संस्कृत में शब्द के आदि में जहाँ स आता है वहाँ अवेस्ता और फारसी में ह हो जाता है। इसी प्रकार के परिवर्तनों की तुलना द्वारा समीक्षा करके ध्वनि-नियमों का निश्चय किया जाता है और प्रत्येक भाषा के विशेष ध्वनि-नियम बनाए जाते हैं। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र ने भाषा-परिवार के कुछ ध्वनि-नियम बनाए हैं।

(६) विशेष ध्वनि-विकार

ध्वनि-विकार के प्रधान कारण दो ही हैं—मुख-सुख और अपूर्ण-अनुकरण। यदि इन दोनों कारणों का सूक्ष्म विवेचन करें तो दोनों में कोई भेद नहीं देख पड़ता। यदि हम मुख-सुख का सर्वथा शाब्दिक अर्थ लें अर्थात् उच्चारण में सुविधा और सरलता, तो यह समझ में नहीं आता कि किस ध्वनि को कठिन और किसको सरल कहें। ये तुलनावाची शब्द हैं। जो ध्वनि एक स्याने के लिये सरल है वही एक बच्चे के लिये कठिन होती है; जिस वर्ण का उच्चारण एक पढ़े-लिखे वक्ता के लिये अति सरल है वही एक अपढ़ के लिये अति कठिन हो जाता है, जिस ध्वनि का उच्चारण एक देश का वासी अनायास कर लेता है उसी ध्वनि का उच्चारण दूसरे देश के वासी के लिए असंभव होता है, अतः कोई भी ध्वनि कठिन या सरल नहीं होती। उसकी सरलता और कठिनाई के कारण कुछ दूसरे होते हैं। इन्हीं कारणों के वशीभूत होकर जब उच्चारण पूर्ण नहीं होता तभी विकार प्रारंभ होता है, इसी से अपूर्ण अनुकरण को ही हम सब ध्वनि-विकारों का मूल कारण मानते हैं।

ध्वनि-विकार के कारण (१) मुख-सुख और अनुकरण

यह जान लेने पर कि ध्वनि-विकारों का एकमात्र कारण अपूर्ण उच्चारण है, इसकी व्याख्या का प्रश्न सामने आता है। अपूर्ण अनुकरण क्यों और कैसे होता है? दूसरे शब्दों में हमें यह विचार करना है कि वे कौन सी बाह्य परिस्थितियाँ हैं जो अपूर्ण उच्चारण को जन्म देती हैं और कौन सी शब्द की ऐसी भीतरी बातें (परिस्थितियाँ) हैं

जिनके द्वारा यह अपूर्ण अनुकरण अपना कार्य करता है। ध्वनि-विकार के कारण की व्याख्या करने के लिये इन दोनों प्रश्नों को अवश्य हल करना चाहिए।

ध्वनि का प्रत्यक्ष संबंध तीन बातों से रहता है—व्यक्ति, देश और काल। ये ही तीनों ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करते हैं जिनसे ध्वनि में विकार होते हैं। व्यक्ति का ध्वनि से संबंध स्पष्ट ही है। अनुकरण से ही एक व्यक्ति दूसरे से भाषा सीखता है और प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ व्यक्ति-वैचित्र्य भी रहता है, अतः कोई भी दो मनुष्य एक ध्वनि का समान उच्चारण नहीं करते; इस प्रकार ध्वनि प्रत्येक वक्ता के मुख में थोड़ी भिन्न हो जाती है। ध्यान देने पर व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण उत्पन्न यह ध्वनि-वैचित्र्य सहज ही लक्षित हो जाता है। पर भाषा तो एक सामाजिक वस्तु है। समाज में भाषा परस्पर व्यवहार का साधन बनी रहे इसलिये व्यक्ति-वैचित्र्य का उच्चारण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस परिवर्तन के उदाहरण अरबी, लिथुआनियन आदि के इतिहास में मिलते हैं। यद्यपि किसी भी ध्वनि के उत्पादन और अनुकरण का कर्त्ता एक व्यक्ति होता है तथापि उसका आलस्य, प्रमाद अथवा अशक्ति जब तक सामूहिक रूप से समाज-द्वारा गृहीत नहीं हो जाती तब तक भाषा के जीवन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता; अतः व्यक्ति का कार्य देश, काल आदि अन्य परिस्थितियों के अधीन रहता है।

बाह्य परिस्थिति

ध्वनि की उत्पत्ति जिस वाग्यंत्र से होती है उसकी रचना पर देश का प्रभाव पड़ना सहज ही है, इसी से एक देश में उत्पन्न मनुष्य के लिये दूसरे देश की अनेक ध्वनियों का उच्चारण कठिन ही नहीं, असंभव हो जाता है। जैसे वहाँ संस्कृत का स ईरानी में सदा ह हो जाता है। बंगाल में मध्य देश का स सदा तालव्य श हो जाता है। इसी प्रकार प्राचीन काल में जो भेद भारोपीय भाषा तथा भारत की संस्कृत की ध्वनियों में पाए जाते हैं उनका भौगोलिक परिस्थिति भी एक बड़ा कारण थी।

देश अर्थात् भूगोल

साथ में यह तो भूलना ही न चाहिए कि भाषा के परिवर्तन में कई कारण एक साथ ही काम किया करते हैं।

ध्वनि के उच्चारण पर व्यक्ति और देश से भी बढ़कर प्रभाव पड़ता है काल का। काल से उस ऐतिहासिक परिस्थिति का अर्थ लिया जाता है जो किसी भाषा-विशेष के वक्ताओं की किसी विशेष सामाजिक, सांस्कृतिक, अथवा राजनीतिक अवस्था से उत्पन्न होती है। भारोपीय भाषा में जो मूर्धन्य ध्वनियाँ नहीं हैं वे भारतीय भाषाओं में द्राविड़ संसर्ग से आ गई थीं। ये ध्वनियाँ दिनोंदिन भारतीय भाषाओं में बढ़ती ही गईं। इनके अतिरिक्त यहाँ जितने प्राकृतों और अपभ्रंशों में ध्वनि-विकार देख पड़ते हैं उनके निमित्त कारण द्राविड़ों के अतिरिक्त आभीर, गुर्जर आदि आक्रमणकारी विदेशी माने जाते हैं।

४ काल अर्थात् ऐतिहासिक प्रभाव

यह इतिहास और अनुभव से सिद्ध बात है कि जिस भाषा के वक्ता विदेशियों और विजातियों से अधिक मिलते-जुलते हैं उसी भाषा की ध्वनियों में अधिक विकार होते हैं। जब कोई इतर-भाषा-भाषी दूसरी दूर देश की भाषा को सीखता है तब प्रायः देखा जाता है कि वह विभक्ति और प्रत्यय की चिंता छोड़कर शुद्ध (प्रातिपदिक) शब्दों का प्रयोग करके भी अनेक स्थलों में अपना काम चला लेता है। यदि ऐसे अन्य-भाषा-भाषी व्यवहार में प्रभावशाली हों—धनी-मानी अथवा राजकर्मचारी आदि हों और संख्या में भी काफी हों—तो निश्चय ही वैसे अनेक विकृत और विभक्तिरहित शब्द चल पड़ते हैं। जब अपढ़ जनता के व्यवहार में वे शब्द आ जाते हैं तब पढ़े-लिखे लोग भी उनसे अपना काम चलाने लगते हैं। जब दक्षिण और उत्तर के विजातीय और अन्य-भाषा-भाषी मध्यदेश के लोगों से व्यवहार करते रहे होंगे तब वे अवश्य आजकल के विदेशियों के समान अनेक विचार उत्पन्न करते होंगे। इसी से प्राकृत और अपभ्रंश में संस्कृत की अपेक्षा इतने अधिक विभक्ति-लोप और अन्य ध्वनि-विकार देख पड़ते हैं। आधुनिक वक्ता के लिये तो प्राकृत, अपभ्रंश आदि से संस्कृत ध्वनियाँ ही अधिक सरल मालूम

पड़ती हैं, अतः संस्कृत की कठिनाई इन विकारों का कारण कभी नहीं मानी जा सकती।

इस विजाति-संसर्ग के अतिरिक्त सांस्कृतिक विभेद भी भाषा में विभेद उत्पन्न करता है। यदि सभी वक्ताओं की संस्कृति एक हो और वे एक ही स्थान में रहते हों तो कभी विभाषाएँ ही न बनें; पर जब यह एकता कम होने लगती है तभी भाषा का नाम-रूप-मय संसार भी बढ़ चलता है। यदि स्त्री, बालक, नौकर-चाकर आदि सभी पढ़े-लिखे हों तो वे अशुद्ध उच्चारण न करें और न फिर अनेक ध्वनि-विकार ही उत्पन्न हों। ध्वनि-विकार अपढ़ समाज में ही उत्पन्न होते हैं। इसी से ध्वनि-विकार और शिक्षा का संबंध समझ लेना चाहिए।

इन तीन बड़े और व्यापक कारणों की व्याख्या के साथ ही यह भी विचार करना चाहिए कि वे भीतरी कौन से कारण हैं जिनके सहारे ये विकार जन्म लेते और बढ़ते हैं।

(१) श्रुति—पीछे हम पूर्व-श्रुति और पर-श्रुति का वर्णन कर चुके हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो अनेक प्रकार के आगमों का कारण श्रुति मानी जा सकती है। स्त्री से इस्त्री, धर्म से धरम, ओठ से होंठ आदि में पहले श्रुति थी। वही पीछे से पूरा वर्ण बन बैठी। य और व के आगम को तो य-श्रुति और व-श्रुति कहते भी हैं।

(२) कुछ आगम उपमान (अथवा अंधसादृश्य) के कारण भी होते हैं; जैसे—दुक्ख की उपमा पर सुक्ख में क का आगम। इसी प्रकार नसेनी के उपमान पर बेला को लोग बेनी कहने लगते हैं।

(३) कुछ आगम छंद और मात्रा के कारण भी आ जाते हैं; जैसे—ऋग्वेद में वेद का वेदा हो जाना है, प्राकृतों में कम्म का काम हो जाना है।

(४) वर्ण-विपर्यय के उदाहरणों को हम प्रमाद और अशक्ति का फल कह सकते हैं। तभी तो आदमी, चाकू, [illegible] आदि को भी कई लोग आमदी, काचू, [illegible] आदि बना डालते हैं।

(५) मुख-सुख-संधि और एकीभाव के जो उदाहरण हम पीछे विकारों में दे आए हैं उनका कारण स्पष्ट ही मुख-सुख होता है। चलइ को चलै, और अउर को और कर लेने में कुछ सुख मिलता है। पूर्व-सावर्ण्य, पर-सावर्ण्य आदि का कारण भी यही मुख-सुख होता है।

(६) जो लौकिक व्युत्पत्ति-जन्य एकाएक विकार हो जाते हैं उन्हें हम अज्ञान का फल मान सकते हैं। पर उनमें भी वही प्रमाद और मुख-सुख की प्रवृत्ति काम करती है।

(७) लोप, मात्रा-भेद आदि का प्रधान कारण स्वर तथा बल का आघात होता है। प्राचीन संस्कृत भाषा में जो अपश्रुति (अर्थात् अक्षरावस्थान) के उदाहरण मिलते हैं वे स्वर के कारण हुए थे। प्राकृतों में जो अनेक प्रकार के ध्वनि-लोप हुए हैं उनमें से अनेक का कारण बल का घटना-बढ़ना माना जाता है। जो वर्ण निर्बल रहते थे वे ही पहले लुप्त होते थे, जो स्वर निर्बल होते थे वे ह्रस्व हो जाते थे, इत्यादि।

ध्वनि-नियम

भिन्न भिन्न भाषाओं में एक ही काल में और एक ही भाषा में भिन्न भिन्न कालों में होनेवाले ध्वनि-विकारों की यथाविधि तुलना करने से यह निश्चित हो जाता है कि ध्वनियों में विकार कुछ नियमों के अनुसार होते हैं और जिस प्रकार प्रकृति के अनेक कार्यों को देखकर कुछ सामान्य और विशेष नियम बना लिए जाते हैं उसी प्रकार ध्वनियों में विकार के कार्यों को देखकर ध्वनि-नियम स्थिर कर लिए जाते हैं, पर प्राकृतिक नियमों और ध्वनि-नियमों में बड़ा अंतर यह होता है कि ध्वनि-नियम काल और कार्यक्षेत्र की सीमा के भीतर ही अपना काम करते हैं। जिस प्रकार न्यूटन का 'गति-नियम' (law of motion) सदा सभी स्थानों में ठीक उतरता है उसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक ध्वनि-नियम सभी भाषाओं में अथवा एक ही भाषा के सभी कालों में ठीक समझा जाय। ध्वनि-नियम वास्तव में एक निश्चित काल के

a के स्थान में o का आदेश हो गया है। अतः इस प्रकार का ध्वनि-विकार उन नियम का कोई अपवाद नहीं माना जा सकता। वास्तव में यह विकार नहीं, एक ध्वनि के स्थान में दूसरी ध्वनि का आदेश-विधान है। प्रत्येक भाषा ऐसे आदेश-विधान से फलती-फूलती है। इसी से उपमान आधुनिक भाषा-शास्त्र के अनुसार भाषा-विकास के बड़े कारणों में से एक माना जाता है। जो अपवाद उपमान से नहीं सिद्ध किए जा सकते वे प्रायः विभाषाओं अथवा दूसरी भाषाओं से मिश्रण के फल होते हैं। इस प्रकार यदि हम उपमान, विभाषा-मिश्रण आदि बाधकों का विवेक करके उन्हें अलग कर दें तो यह सिद्धांत मानने में कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती कि सभ्य भाषाओं में होनेवाले ध्वनि-विकारों के नियम निरपवाद होते हैं, अर्थात् यदि बाह्य कारणों से कोई भाषा दूर रहे तो उसमें सभी ध्वनि-विकार नियमानुकूल होंगे। पर इतिहास कहता है कि भाषा के जीवन में बाह्य कारणों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता, अतः ध्वनि-नियमों के निरपवाद होने का सच्चा अर्थ यह है कि यदि मुखजन्य अथवा श्रुति-जन्य विकारों के अतिरिक्त कोई विकार पाए जाते हैं तो उपमान आदि बाह्य कारणों से उनकी उत्पत्ति समझनी चाहिए।

इस प्रकार के ध्वनि-विकार के नियम प्रत्येक भाषा और प्रत्येक भाषा-परिवार में अनेक होते हैं। हम यहाँ कुछ प्रसिद्ध ध्वनि-नियमों का विवेचन करेंगे, जैसे ग्रिम-नियम, ग्रासमान का नियम, व्हनर का नियम, तालव्य-भाव का नियम, ओष्ठ्य-भाव का नियम, मूर्धन्य-भाव का नियम आदि।

ग्रिम ने जिस रूप में अपने ध्वनि-नियम का वर्णन किया था उस रूप में उसे आज वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। उसमें तीनों प्रकार के दोष थे। ग्रिम ने दो भिन्न भिन्न काल के ध्वनि-विकारों को एक साथ रखकर अपना सूत्र बनाया था। उसने जिन दो वर्ण-परिवर्तनों का संबंध स्थिर किया है उनमें से दूसरे का क्षेत्र उतना बड़ा नहीं है जितना वह समझता है। वह

ग्रिम-नियम

a के स्थान में o का आदेश हो गया है। अतः इस प्रकार का ध्वनि-विकार उक्त नियम का कोई अपवाद नहीं माना जा सकता। वास्तव में यह विकार नहीं, एक ध्वनि के स्थान में दूसरी ध्वनि का आदेश-विधान है। प्रत्येक भाषा ऐसे आदेश-विधान से फलती-फूलती है। इसी से उपमान आधुनिक भाषा-शास्त्र के अनुसार भाषा-विकास के बड़े कारणों में से एक माना जाता है। जो अपवाद उपमान से नहीं सिद्ध किए जा सकते वे प्रायः विभाषाओं अथवा दूसरी भाषाओं से मिश्रण के फल होते हैं। इस प्रकार यदि हम उपमान, विभाषा-मिश्रण आदि बाधकों का विवेक करके उन्हें अलग कर दें तो यह सिद्धांत मानने में कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती कि सभ्य भाषाओं में होनेवाले ध्वनि-विकारों के नियम निरपवाद होते हैं, अर्थात् यदि बाह्य कारणों से कोई भाषा दूर रहे तो उसमें सभी ध्वनि-विकार नियमानुकूल होंगे। पर इतिहास कहता है कि भाषा के जीवन में बाह्य कारणों का प्रभाव पड़े विना नहीं रह सकता, अतः ध्वनि-नियमों के निरपवाद होने का सच्चा अर्थ यह है कि यदि मुखजन्य अथवा श्रुति-जन्य विकारों के अतिरिक्त कोई विकार पाए जाते हैं तो उपमान आदि बाह्य कारणों से उनकी उत्पत्ति समझनी चाहिए।

इस प्रकार के ध्वनि-विकार के नियम प्रत्येक भाषा और प्रत्येक भाषा-परिवार में अनेक होते हैं। हम यहाँ कुछ प्रसिद्ध ध्वनि-नियमों का विवेचन करेंगे, जैसे ग्रिम-नियम, ग्रासमान का नियम, व्हर्नर का नियम, तालव्य-भाव का नियम, ओष्ठ्य-भाव का नियम, मूर्धन्य-भाव का नियम आदि।

ग्रिम ने जिस रूप में अपने ध्वनि-नियम का वर्णन किया था उस रूप में उसे आज वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। उसमें तीनों प्रकार के दोष थे। ग्रिम ने दो भिन्न भिन्न काल के ध्वनि-विकारों को एक साथ रखकर अपना सूत्र बनाया था। उसने जिन दो वर्ण-परिवर्तनों का संबंध स्थिर किया है उनमें से दूसरे का क्षेत्र उतना बड़ा नहीं है जितना वह समझता है। वह

ग्रिम-नियम

परिवर्तन केवल ट्यूटानिक भाषा में ही हुआ था। उसका आदि-कालीन भारोपीय भाषा से कोई संबंध नहीं है और तीसरी बात यह है कि ग्रिम ने अपने नियम की उचित सीमाएँ भी नहीं निर्धारित की थीं। अतः उसके ध्वनि-नियम के अनेक अपवाद हो सकते थे। इन्हीं अपवादों को समझाने के लिये ग्रासमान और व्हर्नर ने पीछे से उपनियम बनाए थे। इस प्रकार ग्रिम-नियम एक सदोष ध्वनि-नियम था। अतः अब जिस परिष्कृत रूप में उस नियम का भाषा-विज्ञान में ग्रहण होता है, हम उसका ही संक्षिप्त परिचय देंगे।

सदोष नियम

प्रारंभ में उस नियम का यह सूत्र था कि (१) जहाँ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में अघोष अल्पप्राण-स्पर्श रहता है, वहीं गाथिक, अँगरेजी, डच आदि निम्न जर्मन भाषाओं में महाप्राण ध्वनि और उच्च जर्मन में सघोष वर्ण होता है; इसी प्रकार (२) संस्कृत आदि का महाप्राण = गाथिक आदि का सघोष = उच्च जर्मन का अघोष वर्ण और (३) सं० का सघोष = गा० अघोष = उच्च जर्मन का महाप्राण होता है।

(१) संस्कृति और ग्रीक		(२) गाथिक		(३) उच्च जर्मन
प	=	फ	=	ब
फ		ब		प
ब		प		फ
क		ह		ग
ख		ग		क
ग		क		ख
त		थ		द
थ		द		त
द		त		त्स

अर्थात् (१) अघोष = महाप्राण = सघोष
(२) महाप्राण = सघोष = अघोष
(३) सघोष = अघोष = महाप्राण

और यदि आदि के अ, म और स वर्णों को संकेत मानकर एक सूत्र बनावें तो 'अमसमसासाम' के समान सूत्र बन सकता है।

मैक्समूलर के समान भाषा-वैज्ञानिक इन तीन प्रकार के वर्ण-विकारों को देखकर यह कल्पना किया करते थे कि मूल भारोपीय भाषा तीन भागों में—तीन विभाषाओं के रूप में—विभक्त हो गई थी। इसी से व्यंजनों में इस प्रकार का विकार पाया जाता है, पर अब यह कल्पना सर्वथा असंगत मानी जाती है। प्रथमतः ये विकार केवल जर्मन (अर्थात् ट्यूटानिक) वर्ग में पाए जाते हैं, अन्य सभी भारोपीय भाषाओं में इनका अभाव है। उस जर्मन भाषा-वर्ग की भी अधिक भाषाओं में केवल प्रथम वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं। अब यह भी निश्चित हो गया है कि द्वितीय वर्ण-परिवर्तन का काल बहुत पीछे का है। प्रथम वर्ण-परिवर्तन ईसा से पहले हो चुका था और द्वितीय वर्ण-परिवर्तन ईसा से कोई सात सौ वर्ष पीछे हुआ था। जिस उच्च जर्मन में द्वितीय वर्ण-परिवर्तन हुआ था उसमें भी वह पूर्ण रूप से नहीं हो सका। इसी से यह नियम सापवाद हो जाता है। अतः अब द्वितीय वर्ण-परिवर्तन को केवल जर्मन भाषाओं की विशेषता मानकर उसका पृथक् वर्णन किया जाता है और केवल प्रथम वर्ण-परिवर्तन 'ग्रिम-नियम' के नाम से पुकारा जाता है।

जैकब ग्रिम ने सन् १८२२ में लैटिन, ग्रीक, संस्कृत, गाथिक, जर्मन, अँगरेजी आदि अनेक भारोपीय भाषाओं के शब्दों की तुलना करके एक ध्वनि-नियम बनाया था। उस नियम से यह पता लगता है कि किस प्रकार जर्मन-वर्ग की भाषाओं में मूल भारोपीय स्पर्शों का विकास ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि अन्यवर्गीय भाषाओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार से हुआ है। उदाहरणार्थ—

ग्रिम-नियम का निर्दोष अंश

सं०	ग्री०	लै०	अँगरेजी
द्वि	δuo	duo	two
पाद्	πoδ-φs	pedis	foot
कः		quis	who

इस प्रकार तुलना करने से यह ज्ञात होता है कि सं०, ग्री०, लै० आदि d द, p प, k क, के स्थान में अँगरेजी आदि ज़र्मन भाषाओं में त t' फ f व्ह wh, हो जाता है। इसी प्रकार की तुलना से ग्रिम ने यह नीचे लिखा निष्कर्ष निकाला था—

संस्कृत आदि में	K. T. P.	G. D. B.	Gh.Dh.Bh.
अँगरेजी आदि में	H. Th. F.	K. T. P.	G. D. B.

इस प्रकार ग्रिम नियम का आधुनिक रूप यह है कि भारोपीय अघोष-स्पर्श K, T, P जर्मन-वर्ग में अघोष घर्ष h, th, f हो जाते हैं, भारोपीय घोष-स्पर्श g, d, b जर्मन में K, t, p अघोष हो जाते हैं; और भारोपीय महाप्राण-स्पर्श gh, dh, bh जर्मन में अल्पप्राण ग, द, ब हो जाते हैं। व्यंजनों में यह परिवर्तन ईसा से पूर्व ही हो चुका था।

इस ग्रिम-नियम को ही जर्मन भाषाओं का 'प्रथम-वर्ण-परिवर्तन' भी कहते हैं।

अपवाद

सिद्धांतत: ध्वनि-नियम का कोई अपवाद नहीं होता। अत: जब ग्रिम-नियम के विरुद्ध कुछ उदाहरण मिलने लगे तो भाषा-वैज्ञानिक उनका समाधान करने के लिये अन्य नियमों की खोज करने लगे और फल-स्वरूप तीन उप-नियम स्थिर किए गए—(१) ग्रासमान का उपनियम, (२) व्हर्नर का उपनियम और (३) ग्रिम-नियम के अपवादों का नियम अर्थात् एक यह भी नियम बना कि कुछ संधिज ध्वनियों में ग्रिम-नियम नहीं लगता।

(१) साधारण ग्रिम-नियम के अनुसार K, T, और P का H, Th और F होना चाहिए पर कहीं कहीं इस नियम का स्पष्ट अपवाद देख पड़ता है। इस पर ग्रासमान ने यह नियम खोज निकाला कि ग्रीक और संस्कृत में एक अक्षर (अर्थात् शब्दांश) के आदि और अंत दोनों स्थानों में एक ही साथ प्राण-ध्वनि अथवा महाप्राण-स्पर्श नहीं रह सकते; अर्थात् एक अक्षर में एक ही प्राण-ध्वनि रह सकती है।

(२) ग्रासमान ने तो यह सिद्ध किया था कि जहाँ ग्रीक K,T,P के स्थान में जर्मन G.D.B. होते हैं, वहाँ समझना चाहिए कि K,T,P प्राचीनतर महाप्राण-स्पर्शों के स्थानापन्न हैं पर कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलने लगे जिनमें शुद्ध K,T,P के स्थान में जर्मन भाषाओं में G.D.B. हो जाते हैं।

इनका समाधान ग्रासमान का नियम भी नहीं कर सकता; अतः इनको समझाने के लिये व्हर्नर ने एक तीसरा ही नियम बनाया—शब्द के मध्य में आनेवाले K,T,P और S के अव्यवहित पूर्व में यदि भारोपीय काल में कोई उदात्त स्वर रहता है तब उसके स्थान में H,P,F और S आते हैं अन्यथा G(GW), D,B, और R आते हैं। भारोपीय स्वरों का निश्चय अधिकतर संस्कृत से और कभी कभी ग्रीक से होता है।

व्हर्नर का नियम

इन नियमों के भी विरुद्ध उदाहरण मिलते हैं पर उनका कारण उपमान (=अंध-सादृश्य) होता है; जैसे—भ्राता में त के पूर्व में उदात्त है अतः brother रूप होना ठीक है, पर पिता, माता में त के पूर्व में उदात्त नहीं है अतः fadar; modar होना चाहिए पर उपमान की लीला से ही father और mother चल पड़े।

उपमान

(३) विशेष अपवाद—कुछ संयुक्त वर्ण ऐसे होते हैं जिनमें ग्रिम-नियम लागू नहीं होता। हम पीछे कह आये हैं कि परिस्थिति के अनुसार ध्वनि-नियम काम करता है। ग्रिम का नियम असंयुक्त वर्णों में सदा लगता है। यह ग्रासमान और व्हर्नर ने सिद्ध कर दिया है। पर कुछ संयुक्त वर्णों में उसकी गति रुक जाती है। इसके भी कारण होते हैं पर उनका विचार यहाँ संभव नहीं है।

व्हर्नर ने लिखा है कि ht, hs, ft, fs, sk, st, sp—इन जर्मन संयुक्त वर्णों में उसका नियम नहीं लगता। इनका विचार हम इस तीसरे नियम के अंतर्गत इस प्रकार कर सकते हैं; यथा—

(अ) भारोपीय sk, st, sp—इनमें कोई विकार नहीं होता।

कुछ विकार ऐसे होते हैं जिनका संबंध केवल अँगरेजी से रहता है। उन्हें भ्रम से इस नियम का अपवाद न समझना चाहिए :

ग्रीक०	गा०	अँ०
Skotos	Skadus	Shade.
Skapto	Skaban	Shave.
Skutos	Skohs	Shoe.

अँगरेजी में sk का sh होना ही नियम है अत: जिन शब्दों में sk रहता है वे विदेशी शब्द माने जाते हैं; जैसे—sky और skin, school आदि।

इस तीसरे नियम में जो अपवाद संयुक्ताक्षर गिनाए गए हैं वे भी सच्चे अपवाद नहीं हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यही मालूम पड़ता है कि जिस परिस्थिति में वे थे वह विकास के विरुद्ध थी। प्रत्येक में एक प्राण-ध्वनि है। इस प्रकार ये अपवाद भी मनमाने नहीं माने जा सकते हैं। उनका भी अपना एक नियम है।

अंत में ग्रिम-नियम और उसके अपवादों का विचार कर चुकने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ध्वनि-नियम के अपवाद होते हैं पर वे अपवाद सकारण होते हैं, अत: यदि उपमान, स्वर आदि उन कारणों को देखकर ध्वनि-नियम की सीमा निश्चित कर दी जाय तो वह निरपवाद माना जा सकता है।

विना काल, कार्यक्षेत्र और उसकी परिस्थिति का उचित विचार किए किसी भी ध्वनि-नियम का विचार करना अवैज्ञानिक होता है।

हिंदी और ग्रिम-नियम

अत: ग्रिम-नियम हिंदी में किसी भी प्रकार लागू नहीं हो सकता। काल के विचार से जब ग्रिम-नियम अँगरेजी तक में पूर्ण रूप से नहीं घटता तब हिंदी में कैसे लग सकता है? कार्यक्षेत्र के विचार से भी ग्रिम-नियम जर्मन वर्ग में कार्य करता है, अन्य किसी में नहीं। और सीमा के विचार की तो आवश्यकता नहीं है। वह तो पूर्व दो बातों—काल और कार्यक्षेत्र के पीछे होता है।

मूल भारोपीय भाषा में दंत्य और ओष्ठ्य व्यंजनों के अतिरिक्त तीन प्रकार के कंठ्य-स्पर्श थे—शुद्ध-कंठ्य, मध्य-कंठ्य और तालव्य। इनका विकास परवर्ती भाषाओं में भिन्न भिन्न ढंग से हुआ है। पश्चिमी भारोपीय भाषाओं में अर्थात् ग्रीक, इटाली, जर्मन तथा कैल्टिक वर्ग की भाषाओं में मध्य-कंठ्य और तालव्य का एक तालव्य-वर्ग बन गया और कंठ्य-स्पर्शों में ओष्ठ्य w ध्वनि सुन पड़ने लगी; जैसे—लै० que क्वे में। पूर्वी भाषाओं में—आर्मेनियन, अल्बेनियन, बाल्टो-स्लाहोनिक, तथा आर्य वर्गों में कंठ्य-ध्वनियों में ओष्ठ्य-भाव नहीं आया, पर कंठ्य-ध्वनियाँ मध्य कंठ्य ध्वनियों के साथ मिलकर एक वर्ग बन गईं। इन्हीं पूर्वी भाषाओं में मूल तालव्य आकर घर्ष-वर्ण बन गए।

तालव्य-भाव का नियम

आर्य-(भारत-इरानी) वर्ग की भाषाओं में एक परिवर्तन और हुआ था। कंठ्य-स्पर्शों में कुछ तालव्य घर्ष-स्पर्श हो गए। यह विकार जिस नियम के अनुसार हुआ उसे तालव्य-भाव का नियम कहते हैं।

नियम—आर्य काल में अर्थात् जब ह्रस्व ए e का ह्रस्व अ a नहीं हो पाया था उसी समय जिन कंठ्य-स्पर्शों के पीछे (पर में) ह्रस्व अ, इ अथवा यू i आता था वे तालव्य घर्ष-स्पर्श हो जाते थे। अन्य परिस्थितियों में कंठ्य-स्पर्शों में कोई विकार नहीं होता था। इस ध्वनि-नियम में भी काल, कार्यक्षेत्र और परिस्थिति—तीनों का उल्लेख हो गया है।

इस तालव्य-भाव-विधि की जब से खोज हुई है तब से अब यह धारणा कि मूलभाषा में केवल अ, इ, उ ये तीन ही स्वर थे। मान्य नहीं रह गई है। अब ए, ओ आदि अनेक मूल स्वर माने जाते हैं।

इसी प्रकार के अन्य अनेक ध्वनि-नियम भाषा-विज्ञान में बनाये जाते हैं। उन्हीं के कारण व्युत्पत्ति में तथा तुलनात्मक ध्वनि-विचार के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है। जैसे—भारतीय आर्य भाषाओं के मूर्धन्य-भाव का नियम अथवा स्वनंत वर्णों का नियम आदि जाने

बिना भारतीय शब्दों का संबंध ग्रीक आदि से जोड़ने में कोरी कल्पना से काम लेना पड़ेगा और तुलना अथवा व्युत्पत्ति आदि वैज्ञानिक विषय न होकर खेल हो जायँगी।

अपश्रुति

नीचे लिखे उदाहरणों की यदि तुलना करें तो हम देखते हैं कि एक ही धातु से बने दो या तीन शब्दों में केवल अक्षर-परिवर्तन होने से अर्थ और रूप में भेद हो गया है, व्यंजन सर्वथा अक्षुण्ण हैं, केवल स्वर-वर्णों में परिवर्तन हुआ है। संबद्ध शब्दों में इस प्रकार का कार्य अनेक भारोपीय तथा सेमेटिक भाषाओं में पाया जाता है। इसी कार्य के सिद्धांत को अपश्रुति अथवा अक्षरावस्थान कहते हैं।

ग्री० Pei'thō, pe'poitha और e''pithon.

लै० fido, foedus, और fides.

अँ० Sing, sang और sung.

जर्मन-binden, band और gebunden.

सं० भृत:, भरति और बभार।

सं० उदित:, वदति और वाद।

हिं० मिलना और मेल। मेला, मिलाप

अरबी—हिमर और हमीर।

अपश्रुति के द्वारा शब्दों और रूपों की रचना में बड़ा भेद हो जाया करता है। प्राचीन भारोपीय काल में तो अपश्रुति का बड़ा प्रभाव रहा होगा। उस प्रभाव के अवशेष आज भी ग्रीक, संस्कृत आदि में देख पड़ते हैं। यह अपश्रुति स्वयं स्वर और बल के कार्यों का फल है अर्थात् अपश्रुति का अध्ययन करने के लिये स्वर और बल का विचार करना चाहिए।

अपश्रुति की उत्पत्ति

स्वर और बल का साधारण परिचय हम पीछे दे चुके हैं। स्वर का प्रभाव स्वर-वर्णों के स्वभाव पर अधिक पड़ता है और बल की प्रवृत्ति अपने पड़ोसी अक्षर को लुप्त अथवा क्षीण करने की ओर देखी जाती है। ये दोनों ही बातें अपश्रुति में देखने को मिलती हैं। इसी

से यह निश्चय किया गया है कि मूल भारोपीय मातृभाषा में स्वर और बल दोनों का ही प्राबल्य रहा होगा उस मूल-भाषा में स्वर कभी प्रकृति में और कभी प्रत्यय में लगता था। आज संस्कृत में प्रायः स्वर का एक निश्चित स्थान रहता है। ग्रीक में तो इससे भी कठोर नियम है कि पद के अंत से स्वर केवल तीसरे अक्षर तक जा सकता है, और आगे नहीं जा सकता। ये नियम मूल-भाषा में नहीं थे। उस समय स्वर का संचार अधिक स्वच्छंद था। शब्दों और रूपों की रचना में स्वर कभी प्रकृति से प्रत्यय पर और कभी कभी प्रत्यय से प्रकृति पर चला जाया करता था, इससे कभी अक्षर में वृद्धि हो जाती थी और कभी ह्रास। एक ही प्रवृत्ति से उत्पन्न शब्दों में इसी वृद्धि और ह्रास को देखकर हम अपश्रुति का निश्चय करते हैं।

ग्रीक में जब शब्द अथवा अक्षर पर उदात्त स्वर रहता है तब 'ए' पाया जाता है पर जब उदात्त स्वर नहीं रहता तब 'ओ' पाया जाता है। 'ए' को उच्च-श्रेणी अथवा उच्चावस्था और 'ओ' को निम्नश्रेणी अथवा नीचावस्था कहते हैं। इसी प्रकार की एक श्रेणी और होती है जिसे निर्बल अथवा शून्य श्रेणी कहते हैं। जिस प्रकार स्वर के हट जाने से उच्च श्रेणी से अक्षर निम्न श्रेणी में चला जाता है उसी प्रकार 'बल' के अभाव में निर्बल श्रेणी की उत्पत्ति होती है। इस श्रेणी में मूल शब्द अथवा अक्षर का सबसे निर्बल अथवा संक्षिप्त रूप देखने को मिलता है। बल के लुप्त होने से प्रायः अनेक वर्णों का लोप भी हो जाता है।

पाँचवाँ प्रकरण

रूप-विचार

नियमानुसार रूप-विचार में केवल शब्दरूपों का अर्थात् शब्दों की विभक्तियों और विभक्ति के स्थानीय साधन[1] शब्दों तथा अन्य रूपमात्रों का विचार होना चाहिए, पर सामान्य व्यवहार में रूप-विचार व्याकरण का पर्याय समझा जाता है। व्याकरण के दो मुख्य[2] भाग होते हैं—शब्द-साधन और वाक्य-विचार। शब्द-साधन[3] में कारक, काल, अवस्था आदि के कारण शब्दों में होनेवाले रूपांतरों का वर्णन रहता है अर्थात् संज्ञा, सर्वनाम विशेषण और क्रिया के रूप कैसे बनते हैं इस पर विचार किया जाता है। पर वाक्य-विचार में उन्हीं सिद्ध रूपों की—प्रयोगार्ह शब्दों की—विवेचना होती है। वाक्य-विचार दो प्रश्नों को हल करता है—(१) वाक्यों अथवा वाक्यांशों से किस प्रकार अर्थ का बोधन होता है और (२) सविभक्तिक शब्दों का कहाँ किस प्रकार प्रयोग होना चाहिए[4]। यदि दूसरे शब्दों में इसे कहें तो यों कह सकते हैं कि 'व्याकरण का मुख्य प्रयोजन है शब्दों के रूप और उन रूपों के प्रयोग का वर्णन तथा विवेचन करना। अतः व्याकरण के जिस भाग में रूपों का वर्णन रहता है वह शब्द-साधन और जिसमें

रूप-विचार और व्याकरण

---

(१) इन सब की व्याख्या इसी प्रकरण में आवेगी।

(२) देखो—Parallel Grammar Series के व्याकरणों में दो ही भाग रहते हैं—Accidence (शब्द-साधन) और Syntax (वाक्य–विचार)

(३) Cf. Greek Grammar by E. A. Sonne-nschein; P. 4.

(४) Cf. Ibid P. 158.

रूपों के प्रयोग और अर्थ की विशेष चिंता की जाती है वह वाक्य-विचार कहलाता है[१]।

इस प्रकार दोनों ही भागों का विषय रूप ही रहता है। इसी से व्याकरण के ये दोनों भाग रूप-विचार में अंतर्भूत हो जाते हैं। यहाँ पर हमें इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि वाक्य-विचार के दो भेद किए जा सकते हैं। उनमें से एक का संबंध रूपों से अधिक रहता है और दूसरे का अर्थ-मीमांसा से। अतः वाक्य-विचार का कुछ संबंध रूप-विचार से और कुछ अर्थ-विचार से रहता है। अब तो अनेक भाषाशास्त्री वाक्य-विचार का पृथक् अध्ययन करते हैं और तब रूप-विचार में केवल शब्द के रूपों का विचार होता है। पर अभी हम रूप-विचार में ही वाक्य-विचार के रूपवाले भाग को ले लेंगे।

रूप-विचार और व्याकरण में भेद केवल इतना रहता है कि व्याकरण अधिक वर्णन-प्रधान होता है और रूप-विचार विचार-प्रधान।

रूप-विचार और व्याकरण में भेद

रूप-विचार में रूपों की तुलना, उनका इतिहास तथा उनसे संबंध रखनेवाले सामान्य सिद्धांतों का विचार किया जाता है। हम यहाँ संस्कृत के उन ग्रंथों को रूप-विचार अथवा भाषा-विज्ञान के ग्रंथ मानेंगे जिनमें व्याकरण के नाम पर सामान्य सिद्धांतों की व्याख्या हुई है, जैसे वैयाकरण-भूषण, मंजूषा आदि। हम पाणिनि की अष्टाध्यायी अथवा उसके आधुनिक रूप 'सिद्धांतकौमुदी' को अवश्य आदर्श व्याकरण मान सकते हैं। उसके प्रकरणों पर सामान्य दृष्टि डालने से हमें व्याकरण[२] के प्रकरणों का साधारण-ज्ञान हो सकता है। सिद्धांत-कौमुदी में ११ प्रकरण माने जाते हैं—

---

(१) देखो Sweet's New English Grammar, Part I. Page 204.

(२) व्याकरण के आधार पर ही रूप-विचार की भित्ति उठाई जाती है, अतः प्रकरण दोनों में प्रायः एक से ही होते हैं।

(१) संज्ञा प्रकरण
(२) संधि प्रकरण
(३) सुबन्त प्रकरण
(४) अव्यय प्रकरण
(५) स्त्रीप्रत्यय प्रकरण
(६) कारक प्रकरण
(७) समास प्रकरण
(८) तद्धित प्रकरण (द्विरुक्त प्रक्रिया भी इसी में आती है)
(९) तिङन्त प्रकरण (जिसमें दसों गण, सन्नन्त, णयन्त, यङन्त, मयङ्लुगन्त, नामधातु, आत्मनेपद प्रक्रिया, भाव-कर्म प्रक्रिया, कर्तृकर्म प्रक्रिया, लकारार्थ प्रक्रिया आदि सभी का विचार किया जाता है)
(१०) कृदन्त प्रकरण
(११) वैदिक प्रकरण

इनमें से पहले दो प्रकरणों में भूमिका है। इतना ध्वनि-विचार का ज्ञान हो जाने पर ही व्याकरण का अध्ययन होना संभव है। ध्वनि-विज्ञान का रूप-विचार से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। सिद्धांत-कौमुदी का तीसरा प्रकरण "सुबन्त" प्रकरण है। इसमें संज्ञा, सर्व-नाम और विशेषण के रूपों का वर्णन हुआ है। चौथे प्रकरण में अव्यय आते हैं क्योंकि अव्यय भी एक प्रकार के सविभक्तिक शब्द ही हैं (देखो—पाणिनि—२।४।८२)। उनकी केवल एक विशेषता है कि उनके रूपों में परिवर्तन नहीं होता। अव्ययों के बाद स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में लिंग का विचार किया गया है, पर वह विचार भी रूप की दृष्टि से ही हुआ है। अंत में विभक्तियों के अर्थ तथा प्रयोग का विचार आता है। यद्यपि यह वाक्य-विचार का प्रकरण है तथापि वहाँ भी ध्यान रूपों पर ही रहता है। तदुपरांत समास और तद्धित के प्रकरणों में यह विचार किया गया है कि शब्द की अंतरंग रचना कैसे होती है।

तिङन्त प्रकरण में क्रियारूपों का वर्णन आता है और उसम लकारार्थ आदि अन्य ऐसी बातें भी आती हैं जो वाक्य-विचार का अंग होती हैं, पर वाक्य-विचार का यह रूप-पक्ष रखे बिना रूप-विचार (अथवा व्याकरण) की सांगता नहीं हो सकती। अंत में वैदिक प्रक्रिया परिशिष्ट के रूप में आती है। इनमें उन रूपों का विचार किया गया है जो उस समय की भाषा में आर्ष माने जाने लगे थे, अर्थात् जो पुरानी भाषा के शब्द होने पर भी लोक में चल रहे थे। यह लौकिक (वर्तमान) और वैदिक (काव्यभाषा में प्रयुक्त होनेवाले परंपरा से प्राप्त प्रयोग) का भेद पूर्णतया वैज्ञानिक है। यह व्याकरण के ऐतिहासिक अध्ययन में विशेष सहायता देता है।

अब विचार कर देखा जाय तो भूमिका के दो प्रकरण तथा कारक[1] और लकार के प्रकरणों को छोड़कर शेष सभी प्रकरण रूप से संबंध रखते हैं। इन रूपों का भी विचार दो प्रकार से हुआ है—एक तो किस प्रकार शब्द विभक्ति-युक्त होकर वाक्य में प्रयोगार्ह बने हैं और दूसरे शब्दों की अंतरंग रचना (विभक्ति जुड़ने के पूर्व की रचना) किस प्रकार हुई है। वाक्य-रचना की दृष्टि से पहले प्रकार का और शब्द-रचना की दृष्टि से दूसरे प्रकार का अध्ययन महत्त्व का है। पहले को हम रूप-विचार का वाक्य-पक्ष और दूसरे को शब्द-पक्ष कह सकते हैं[2]।

---

(१) कारक और लकार का भी सिद्धांतकौमुदी में रूप-पक्ष से ही वर्णन हुआ है, अतः वाक्य-विचार का इतना अंश व्याकरण और रूप-विचार के लिये अनिवार्य है। इसी प्रकार भूमिका में ध्वनि का विचार भी अनिवार्य है। ध्वनि और अर्थ का सर्वथा त्याग करके रूप का विचार हो ही नहीं सकता।

(२) इसी प्रकार अर्थ-विचार में भी दो पक्ष होते हैं—वाक्य-पक्ष और शब्द-पक्ष। इसी कारण वाक्य-विचार में भी दो पक्ष होते हैं—रूप-पक्ष और अर्थ-पक्ष। वास्तव में देखा जाय तो वाक्य-विचार रूप और अर्थ के प्रकरणों में ही अवसित हो सकता है।

शब्द-पक्ष की परीक्षा समास, तद्धित, कृदन्त और सन्नन्त आदि में हुई है। इस शब्द-पक्ष को भी भली-भाँति समझने के लिये हमें एक भेद समझ लेना चाहिए। शब्द दो प्रकार से विकसित हुआ करते हैं—कभी अनेक शब्द मिलकर एक हो जाते हैं और कभी एक शब्द में प्रत्यय लगाने से दूसरा नया शब्द बन जाता है। जैसे राजा और पुत्र इन दो शब्दों से मिलकर एक शब्द राजपुत्र बन जाता है; और दूसरी विधि के अनुसार राजा में प्रत्यय जुड़कर राजकीय, राजापन आदि नये शब्द बन जाते हैं। पहली प्रक्रिया को समाहार-विधि अथवा समास वृत्ति और दूसरी को निष्पत्ति विधि अथवा प्रत्यय वृत्ति कहते हैं[1]।

यद्यपि अब वाक्य-विचार का अध्ययन पृथक् होने लगा है और वाक्य-विचार की अनेक बातें अर्थ-विचार के प्रकरण में आ जाती हैं

विशेष और सामान्य रूप-विचार

तो भी उनका संबंध रूप-विचार से टूट नहीं सका है। अतः रूप-विचार में—किसी भाषा के रूप-विचार का विशेष अध्ययन करने में हमें ऊपर गिनाई हुई सभी बातों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से

---

(१) Cf. H. Sweet's History of Language P. 41 and 42. वहाँ समाहार विधि (Composition) और निष्पत्ति विधि (Derivation) दोनों प्रकार की पद विधियों का सुंदर भेद किया गया है। ये दोनों ही विधियाँ यौगिक शब्दों से संबंध रखती हैं। शब्द-साधन की दृष्टि से शब्द दो ही प्रकार के होते हैं—रूढ़ और यौगिक। रूढ़ में विभक्ति सीधे लग जाती है पर यौगिक शब्द में प्रकृति और प्रत्यय के योग से एक शब्द निष्पन्न हो जाता है; तब उसमें विभक्ति लगती है और शब्द रूपवान् होकर प्रयोगार्ह बनता है। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि यह सब शब्द-साधन की प्रक्रिया वैयाकरण की दृष्टि से सत्य मानी जाती है, पर भाषा-विज्ञान और शब्द-दर्शन का पहुँचा हुआ विद्यार्थी इस उपयोगी और उपादेय प्रक्रिया को सर्वथा काल्पनिक मानता है। (देखो इसी प्रकरण में आगे)

अध्ययन करना पड़ता है। इस प्रकार के अध्ययन को कहते हैं विशेष रूप-विचार। जब हमें व्याकरण की इन सभी बातों का सामान्य विचार करना पड़ता है अर्थात् सामान्य सिद्धांतों और तत्त्वों का अध्ययन और विवेचन करना पड़ता है तब उसे सामान्य रूप-विचार कहते हैं।

इस प्रकार यह जान लेने पर कि रूप-विचार के प्रकरण में शब्दों और शब्द-रूपों की सिद्धि अर्थात् कृत्, तद्धित, समास, विभक्ति आदि का विवेचन, शब्द-भेदों की सामान्य समीक्षा रूप-विकारों का विवेचन आदि व्याकरण की सभी बातों का विचार किया जाता है, हमें और आगे बढ़ने के पूर्व कुछ शब्दों के पारिभाषिक अर्थों को समझ लेना चाहिए। आगे हम शब्द, शब्द-रूप, रूप-मात्र, अर्थ-मात्र आदि जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करेंगे उनकी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। अभी तक हम "शब्द" का बड़े सामान्य, व्यापक तथा लौकिक अर्थ में व्यवहार करते रहे हैं। इस प्रकरण में भी साधारणतया हम वही अर्थ लेंगे। थोड़े विवेचन के उपरांत हम देखेंगे कि कभी कभी ध्वनि की दृष्टि से जिन्हें हम कई शब्द समझते हैं उन्हें रूप की दृष्टि से—वाक्य के अर्थ[1] की दृष्टि से—वैयाकरण एक शब्द मानता है।

कुछ परिभाषाएँ

शब्द-रूप में भी हम शब्द का वही सामान्य और व्यापक अर्थ लेते हैं। शब्द से संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि सभी का बोध कराते हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि जब कोई संस्कृत का विद्यार्थी धातु-रूप और शब्द-रूप की चर्चा करता है तब वह शब्द से क्रिया-शब्दों को छोड़कर अन्य शब्दों का ग्रहण करता है; पर हम शब्दरूप (और शब्द के रूप) से क्रिया, संज्ञा आदि सभी के रूपों का ग्रहण करेंगे

---

(१) जैसे "गच्छति स्म" में दो शब्द हैं पर वाक्यार्थ और रूप-विचार की दृष्टि से यह एक ही शब्द है। "स्म" यहाँ स्वतन्त्र वाचक नहीं है, वह केवल गच्छति के अर्थ का द्योतक है। इसी प्रकार 'गाँव में से' तीन शब्द प्रतीत होते हैं पर वाक्य-पक्ष से तीनों शब्दों को एक शब्द समझना पड़ता है।

और हम शब्द से सविभक्तिक और निर्विभक्तिक दोनों प्रकार के शब्दों का अर्थ लेंगे।

रूप का सामान्य अर्थ संस्कृत और हिंदी के व्याकरण में एक ही होता है। एक ही शब्द के कारक, काल, लिंग, वचन, पुरुष आदि के कारण भिन्न भिन्न रूप हो जाया करते हैं। रूप का यही अर्थ इस प्रकरण में भी लिया जायगा।

अर्थमात्र और रूपमात्र

पर भाषा-विज्ञान में रूप का ही नहीं, रूप-मात्र का भी विचार होता है। अतः रूप-मात्र और साधारण शब्द (अथवा शब्द-रूप) में क्या भेद है यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए। शब्द की ध्वनि-शास्त्रीय परिभाषा[1] से हमें यहाँ प्रयोजन नहीं है। जिसे ध्वनि-शास्त्री एक ध्वन्यात्मक शब्द मानता है उसमें व्याकरण के अनुसार कई शब्द भी माने जा सकते हैं और इसके विपरीत जिन्हें ध्वनि-शास्त्री अनेक शब्द मानता है उन्हें वैयाकरण एक शब्द मान सकता है। अतः यहाँ हमें एक वैयाकरण के अधिकार से शब्द की परिभाषा करनी है। यह भी सहज नहीं है। विचार करने पर ऐसा निश्चय होता है कि भिन्न भिन्न भाषाओं में शब्द की भिन्न भिन्न परिभाषाएँ होनी चाहिए[2]। अतः हम अर्थ-मात्र और रूप-मात्र की व्याख्या करके आगे शब्द की सीमा दिखाने का यत्न करेंगे।

अर्थ-मात्र हम भाषा के उन अंगों को कहते हैं जिनसे भिन्न भिन्न अर्थों (अर्थात् वस्तुओं[3] अथवा भावों) का बोध होता है। और रूप-मात्र उन अंगों को कहते हैं जिनसे उन अर्थों के बीच का संबंध प्रकट होता है। उदाहरणार्थ—'गाय आ रही है' इस वाक्य में दो शब्द हैं

---

(१) देखो—Vendryes' Language P. 57.

(२) देखो—Vendryes' Language P. 89.

(३) 'अर्थ' से संस्कृत में केवल अभिप्राय (meaning) नहीं, अभिधेय (ideas of the concepts) का भी बोध होता है। 'अर्थ उस वस्तु अथवा विषय को कहते हैं जिसे शब्द व्यक्त करता है।

'गाय' और 'आ रही है'; दोनों शब्दों से अर्थों का बोध हो रहा है—एक से गाय के सत्त्व का बोध होता है और दूसरे से आने के भाव का अर्थ प्रकट होता है। इस प्रकार ये दोनों अर्थ-मात्र हैं। इस वाक्य में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि इन दोनों में जो उद्देश्य और विधेय का संबंध है वह भी प्रकट हो रहा है। इन दोनों अर्थों में एक विशेष संबंध है जिसे हम तृतीय पुरुष, एकवचन, वर्तमान काल, स्त्रीलिंग कहकर निर्दिष्ट कर सकते हैं। जिस तत्त्व-विशेष के द्वारा यह संबंध प्रकट हो रहा है उसे रूप-मात्र कहते हैं, वह यहाँ तो शब्द में ही छिपा हुआ है पर कई भाषाओं में उसका पृथक् अस्तित्व भी रहता है। इस प्रकार रूप-मात्र सामान्यता एक ध्वन्यात्मक तत्त्व या अंग (एक वर्ण, एक अक्षर, अथवा अनेक अक्षर) होता है जिससे वाक्य में आए हुए अर्थों के बीच का व्याकरणिक संबंध प्रकट होता है[४]।

यदि संस्कृत का एक वाक्य लें—रामः शोभनां वेदिमकरोत् (राम ने सुंदर वेदी बनाई थी) तो उसमें स्पष्ट देख पड़ता है कि राम, शोभन, वेदी और करो के समान ऐसे अक्षर-समूह हैं जो केवल वाक्य-गत अर्थों का अभिधान करते हैं और उनके साथ ही स्, अम्, म्, अ, त्, आदि ऐसे अक्षर भी हैं जो केवल इस बात का बोध कराते हैं कि क्रिया का करनेवाला कौन है, वह क्रिया कब हुई, उसका कर्म क्या था, उस कर्म की विशेषता क्या थी इत्यादि। इस प्रकार पहले अर्थवाचक अक्षर हैं और दूसरे संबंधवाचक। अर्थवाचक को हम अर्थ-मात्र और संबंधवाचक को रूप-मात्र कहते हैं।

यदि हिंदी के उदाहरण लें तो जाता है, जाते हैं, जाती है, जाते हो आदि वाक्यों में प्रयुक्त क्रियाओं में एक 'जा' ही प्रधान

---

(४) यदि चलती भाषा में कहें तो शब्द में अर्थ और रूप दोनों होते हैं। अतः शब्द के उस अंश को जिससे केवल अभिधेय वस्तु या भाव का बोध होता है 'अर्थ-मात्र', और शब्द के जिस अंश से रूप अर्थात् व्याकरणिक संबंध का बोध होता है उसे रूप-मात्र कहते हैं।

अर्थ का वाचक देख पड़ता है और दूसरे ऐसे साधक अक्षर उसमें जुड़े हुए हैं जो उसके लिंग, वचन, पुरुष आदि के भेदों को दिखाते हुए उनका वाक्य के अन्य शब्दों से संबंध प्रकट करते हैं। इन दूसरे प्रकार के गौण अंशों को ही हम रूप-मात्र अथवा साधक अंश कहते हैं[१]।

रूप-मात्र सदा शब्द के साधक अंश अथवा प्रत्यय नहीं होते, उनका पृथक् अस्तित्व संस्कृत और ग्रीक जैसी विभक्ति-संपन्न भाषा में भी पाया जाता है। किसी संस्कृत वाक्य के अंत में इति जोड़ देने से यह अर्थ निकलने लगता है कि वह वाक्य किसी दूसरी क्रिया का कर्म है वह किसी का कथन अथवा उद्धरण है।

रूप-मात्र का पृथक् अस्तित्व

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह रूप-मात्र शब्द अथवा वाक्य में कई ढंग से आ सकता है—कभी स्वतंत्र शब्द बनकर, कभी शब्दांश अथवा प्रत्यय बनकर, कभी आगम अथवा विभक्ति बनकर। कार्य की दृष्टि से ये सब एक ही जाति में गिने जाते हैं। पर इनमें भेद करना आवश्यक होता है (१) कुछ ऐसे रूप-मात्र होते हैं जो वाक्य के अर्थ-मात्रों से जुड़े हुए मालूम पड़ते हैं अर्थात् वे अपनी प्रकृति से भिन्न किए जा सकते हैं पर (२) कुछ रूप-मात्र ऐसे होते हैं जो अर्थ-मात्र के बोधक अक्षरों में से ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् वे अपनी 'प्रकृति' से भिन्न नहीं किए जा सकते। संस्कृत का 'दातारम्' पहले प्रकार का और अँगरेजी का 'Feet' दूसरे प्रकार का उदाहरण है। दा + तृ + अम्, इस प्रकार धातु, प्रत्यय और विभक्ति का विश्लेषण हो जाता है पर

---

(१) यदि एक सविभक्तिक शब्द की दृष्टि से देखा जाय तो प्रकृति को अर्थ-मात्र (Semanteme) और प्रत्यय को रूप-मात्र (Morpheme) कह सकते हैं। यहाँ प्रकृति में पाणिनि के धातु और प्रातिपदिक दोनों का अंतर्भाव कर लिया जाता है, परंतु सब भाषाएँ सविभक्तिक नहीं होतीं अतः सदा प्रत्यय और रूप-मात्र को पर्याय समझना भूल होगी।

feet में जो स्वर-परिवर्तन से बहुवचन का बोध होता है उसका विश्लेषण करके नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि foot से feet होने में प्रकृति का अक्षर ही परिवर्तित हो जाता है। दूसरे ढंग के उदाहरण सेमेटिक और भारोपीय भाषाओं की अपश्रुति में मिलते हैं[1]।

अपश्रुति और विभक्ति

अपश्रुति और विभक्ति रूप-मात्र की एक ही कोटि में आते हैं; क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अपश्रुति एक प्रकार की अंतर्विभक्ति ही तो है। हिंदी में घोड़ा का बहुवचन होता है घोड़े; अथवा अँगरेजी में boot का बहुवचन boots होता है। पर अरबी में 'हिमर' (गदहा) का बहुवचन होता है हमीर। हिंदी और अँगरेजी में जो बाह्य-विभक्ति काम करती है वही अरबी में अंतर्विभक्ति अथवा अपश्रुति करती है[2]।

स्वर

अपश्रुति के समान ही स्वर (सुर) भी एक महत्त्वपूर्ण रूप-मात्र है। सुदूरपूर्व की स्यामी, अनामी, चीनी आदि भाषाओं में स्वर के द्वारा शब्द अनेक अर्थों और संबंधों का बोध कराते हैं। अफ्रीका की अनेक भाषाओं में भी स्वर का रूप-बोधन के लिये प्रयोग होता है। भारोपीय भाषाओं में भी स्वर का कम महत्त्व नहीं था। ग्रीक और संस्कृत के समान

---

(१) देखो—अपश्रुति अथवा अक्षरावस्थान का वर्णन—भाषा-रहस्य पृ० ३३७।

(२) सच पूछा जाय तो अरबी में अपश्रुति नहीं होती। अरबी शब्दरूपों में होनेवाले जिन स्वर-विकारों को कई विद्वान् अपश्रुति कहते हैं उसे ही अनेक आधुनिक भाषा-शास्त्री संचारी (चर) अंतर्विभक्ति कहते हैं। इनका संबंध अधिक रूपों से ही रहता है। इनसे स्वर, बल आदि का कोई संबंध नहीं रहता। अतः इन्हें अपश्रुति मानना ठीक नहीं। अरबी आदि सेमेटिक भाषाओं में जो स्वर-विकार अपश्रुति के नाम से प्रसिद्ध हैं वे स्पष्ट ध्वनि-नियमों के अंतर्गत आ सकते हैं।

समान अनेक ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें शब्दक्रम सर्वथा स्थिर रहता है। सविभक्तिक भाषाएँ जब व्यवहित और विभक्तिहीन हो जाती हैं तब उनमें कारक का ज्ञान प्रायः पूर्वसर्ग, परसर्ग, उपपद आदि साधन-शब्दों द्वारा अथवा शब्दक्रम-द्वारा होता है।

रूप-मात्र के तीन मुख्य भेद

इस प्रकार हमारी समीक्षा का फल यह है कि रूपमात्र के तीन मुख्य भेद किए जा सकते हैं। (१) पहले वर्ग में प्रत्यय, विभक्ति, आगम, उपसर्ग, विकरण, साधन-शब्द (पूर्वसर्ग, पर-सर्ग, आदि) द्वित्व आदि आते हैं। (२) दूसरे वर्ग में ऐसे रूपमात्र आते हैं जो शब्द की प्रकृति से भिन्न नहीं किए जा सकते जैसे अपश्रुति (अंतर्विभक्ति), स्वर और स्वराभाव। (३) तीसरे वर्ग में स्थान अथवा शब्द-क्रम आता है।

अर्थ-मात्र और रूप-मात्र का संबंध

अब यदि हम अर्थ-मात्र और रूप-मात्र के परस्पर संबंध का विचार करें तो हम भाषाओं के दो भेद कर सकते हैं—(१) कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें अर्थ-मात्र और रूप-मात्र सर्वथा पृथक् नहीं किए जा सकते[1]—एक ही शब्द में अर्थ और रूप दोनों का ज्ञान होता है और (२) दूसरी ऐसी भाषाएँ होती हैं जिनमें रूपमात्रों का स्वतंत्र अस्तित्व पाया जाता है। पहले प्रकार की अर्थात् बद्ध रूपमात्रवाली भाषाओं का उदाहरण प्राचीन भारोपीय तथा सेमेटिक भाषाएँ हैं और दूसरे प्रकार की अर्थात् मुक्त रूपमात्रवाली भाषाओं में चीनी, तुर्की आदि आती हैं। यदि अधिक सूक्ष्म विवेचन करें तो हम एक वर्ग उन भाषाओं का भी

(१) यद्यपि कुछ भाषाओं में रूप-मात्र स्वतंत्र देखे जाते हैं पर व्यवहार वे बिलकुल पंगु होते हैं। उनकी आँख—उनकी द्योतकता तभी सार्थक होती है जब अंधा अर्थ-मात्र उसे अपने कंधे का सहारा देता है। इस प्रकार रूपमात्र और अर्थ मात्र में वही 'पंग्वंध न्याय' लगता है जो सांख्य के प्रकृति-पुरुष में हैं। देखो प्रकृति (Nature) और प्रत्यय (ज्ञान)। ये नाम भी अन्वर्थ हैं।

मान सकते हैं जिनमें दोनों के कुछ लक्षण मिलते हैं। इस तीसरे वर्ग में ही अँगरेजी, फ्रेंच, हिंदी, मराठी आदि भाषाएँ आ सकती हैं पर हम यहाँ सुविधा के विचार से इन्हें पहले वर्ग में ही रखकर वर्णन करेंगे क्योंकि उनमें अभी पहले वर्ग के ही लक्षण अधिक मिलते हैं।

पहले प्रकार की भाषाओं के हम दो उदाहरण लेते हैं—संस्कृत 'अभवम्' और अरबी का 'किताब'[१]। संस्कृत अभवम् (हुआ) में भू धातु है, अ का आगम हुआ है और अम् भूतकाल की विभक्ति है। इस प्रकार इस एक शब्द में ही उसकी प्रकृति (अर्थात् अर्थमात्र) और रूप-मात्र जुड़े हुए हैं। आगम और विभक्ति को हम प्रकृति से पृथक् नहीं कर सकते। प्रायः प्राचीन भारोपीय भाषाओं के शब्दों में अर्थमात्र और रूपमात्र का ऐसा ही संबंध देख पड़ता है। यही दशा 'सेमेटिक' में भी देख पड़ती है। अरबी में कतब (उसने लिखा है), कातिब (लेखक) और किताब (पुस्तक अर्थात् जो कुछ लिखा जाता है) में एक ही धातु है, केवल अपश्रुति के द्वारा रूप का भेद दिखाया गया है। यहाँ पर अपश्रुति ही रूपमात्र है। यहाँ बिना परप्रत्ययों की सहायता के ही अनेक शब्द निष्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार सेमेटिक शब्दों में अर्थमात्र और रूपमात्र के बीच का बंधन और भी अधिक दृढ़ और अभेद्य होता है।

दूसरे प्रकार की भाषाओं में से यदि हम चीनी का उदाहरण लें तो हम देखते हैं कि वह संस्कृत और अरबी के समान भारोपीय और

---

(१) अरबी में केवल संज्ञा के ही नहीं क्रियाओं के भी ऐसे रूप मिलते हैं। यहाँ संज्ञा का उदाहरण देने से यह भ्रम होना चाहिए कि संस्कृत क्रिया के समान प्रकृति और प्रत्ययवाली क्रियाएँ अरबी में नहीं होतीं। उदाहरण के लिये देखो (Vendryes Language P. 80) उक्तुल (मारता है) और मक्तूल (मारा)।

सेमेटिक भाषाओं से सर्वथा भिन्न देख पड़ती है। चीनी में रूपमात्र इतने अधिक स्वतंत्र होते हैं कि हम शब्दों के दो भेद कर सकते हैं—प्रकृति-शब्द (अथवा वाचक) और प्रत्यय-शब्द (अथवा द्योतक)। चीनी वैयाकरण प्रकृति-शब्दों को पूर्ण और प्रत्यय-शब्दों को रिक्त[1] कहा करते हैं। पूर्ण अथवा प्रकृति-शब्द ही हमारे अर्थ-मात्र हैं। रिक्त शब्दों को ही दूसरे विद्वान् रूप-शब्द अथवा साधन-शब्द[2] कहते हैं क्योंकि वे प्रकृति को रूपवान् अथवा सिद्ध बनाते[3] हैं। चीनी में मेरे लड़के के लिये कहते हैं 'वो ती युत-त्सु'। इसमें वो (मैं) और युत-त्सु (लड़का) दो पूर्ण शब्द हैं। ती रिक्त शब्द के द्वारा वाक्य में अर्थ का द्योतन अथवा प्रकाशन होता है। वह हिंदी के 'का' पर-सर्ग का काम करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ती रूप-मात्र अपने अर्थ-मात्र से सर्वथा पृथक् है। यह स्वातंत्र्य यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि वही शब्द कभी पूर्ण (प्रकृति) शब्द का काम करता है और कभी रिक्त (प्रत्यय) शब्द का; जैसे लीआओ (पूरा करना) एक क्रिया है जो भूतकाल का द्योतन करने के लिये दूसरी क्रियाओं के साथ भी प्रयुक्त होती है। लई (आना), ला (समाप्त) = आया है—इस वाक्य में ला वास्तव में लीआओ का ही दूसरा रूप है। तुर्की भाषा में भी रूपमात्र बड़े स्वतंत्र होते हैं। उसमें (प्रत्यय-शब्दों का नहीं प्रत्युत) प्रत्ययों का प्रयोग होता है तो भी वे प्रकृति के साथ किसी नियम से बँधे नहीं रहते। तुर्की में 'उन्होंने प्रेम किया

---

(१) Empty.

(२) Form—words.

(३) इस प्रकार प्रकृति-शब्द, वाचक, पूर्णशब्द अथवा साध्यशब्द अर्थ-मात्र के और प्रत्यय-शब्द, द्योतक, साधक, रिक्त-शब्द, रूप-शब्द अथवा साधन-शब्द रूप-मात्र के पर्याय हो सकते हैं। इन नामों पर विचार करने से अर्थ स्वयं स्पष्ट हो जाता है। इन अन्वर्थ नामों पर विचार करने से अर्थ-मात्र और रूप-मात्र की विशद व्याख्या भी हो सकती है।

है' के लिये चाहे हम सेवमिसलेरदिर कहें अथवा सेवमिसदिरलेर कहें। दोनों का अर्थ एक ही होता है। 'सेव' प्रकृति है और शेष सब प्रत्यय हैं। प्रत्ययों के हटाने वढ़ाने की हमें प्राय: स्वतंत्रता रहती है, केवल धातु का अपना निश्चित स्थान रहता है, उसके पीछे लिंग, वचन, कारक आदि के द्योतक प्रत्ययों को हम जहाँ चाहें रख सकते हैं। हम प्रत्येक प्रत्यय को रिक्त प्रत्यय-शब्द के समान किसी भी शब्द के साथ काम में ला सकते हैं। पर इस स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं होता कि इन प्रत्ययों में भी कोई स्वतंत्र अर्थ रहता है। वे तो उसी प्रकार द्योतक होते हैं जैसे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि के परतंत्र प्रत्यय। अत: कार्य की दृष्टि से सभी प्रत्यय (अर्थात् रूपमात्र) बराबर होते हैं। केवल घूमने फिरने की स्वतंत्रता उन्हें व्यास-प्रधान और संयोग-प्रधान भाषाओं में अधिक मिल जाती है। इन रूपमात्रों के स्वतंत्र और पृथक् प्रयुक्त होने का सबसे अच्छा उदाहरण अमेरिका की कुछ भाषाओं में मिलता है। उन भाषाओं में वाक्य के प्रारंभ में सब रूप-मात्र रख दिए जाते हैं तब सब प्रकृति-शब्द आते हैं। यदि हमें कहना है कि उस आदमी ने उस स्त्री को छुरे से मार डाला तो वाक्य बहुत कुछ इस प्रकार का होगा—वह—उसको—से। मारना—आदमी—स्त्री—छुरा। इस प्रकार यहाँ रूप-मात्र सबके सब अपनी पृथक् नगरी बसाकर रहते हैं।

यदि हम इस परतंत्र और स्वतंत्र की भेद-दृष्टि से अँगरेजी और हिंदी को देखें तो हमें इन भारोपीय भाषाओं में भी स्वतंत्र रूपमात्र मिलते हैं। मिलने को तो संस्कृत और ग्रीक में भी इति और अन के समान स्वतंत्र रूप-मात्र मिलते हैं। हिंदी में प्रश्न करने के लिये 'क्या' का प्रयोग किया जाता है वह 'क्या' एक रूप-मात्र है जैसे 'क्या वह गया' में 'क्या' एक रिक्त शब्द है। इसी प्रकार अँगरेजी और हिंदी की अनेक सहायक क्रियाएँ भी रिक्त शब्द मानी जा सकती हैं; जैसे do, shall will, था, होना, जाना (मर जाना) इत्यादि। हिंदी के परसर्ग भी तो रिक्त

शब्द[1] ही हैं जो विभक्ति का काम करते हैं। परंतु इतने रिक्त शब्दों के होने तथा विभक्तियों के कम हो जाने पर भी अभी इन आधुनिक भारोपीय भाषाओं में भी शब्द के अर्थमात्र और रूपमात्र स्वच्छंद नहीं विचर सकते। 'राम को' के स्थान में 'को राम' प्रयोग कभी नहीं चल सकता।

अंत में इस अर्थमात्र और रूपमात्र के संबंध की अस्थिरता को देखकर यह कहना पड़ता है कि शब्द की परिभाषा प्रत्येक भाषा में एक सी नहीं हो सकती[2] क्योंकि (१) किसी भाषा में एक शब्द इतना पूर्ण होता है कि उसमें अर्थमात्र और रूपमात्र दोनों रहते हैं, उसमें बाहर से कुछ भी जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती, जैसे संस्कृत में। परंतु (२) किसी किसी भाषा में अनेक स्वतंत्र शब्दों अथवा एक शब्द और अनेक प्रत्ययों को मिलाकर एक सार्थक प्रयोगार्ह शब्द मानना पड़ता है, जैसे चीनी अथवा तुर्की में।

हमें भारोपीय भाषाओं का ही विशेष विवेचन करना है। भारोपीय भाषाएँ सविभक्तिक होती हैं। संस्कृत विभक्ति प्रधानता का आदर्श है। अतः हमें संस्कृत शब्द का विश्लेषण करने से विशेष लाभ होगा। संस्कृत के प्रत्येक शब्द में दो अंश होते हैं—एक साध्य अंश

भारोपीय-भाषाओं के प्रत्यय

---

(१) यदि केवल अर्थ की दृष्टि से रिक्त और पूर्ण का भेद किया जाय तो संस्कृत निपात और उपसर्ग तथा हिंदी के अनेक अव्यय भी रिक्त ही कहे जायँगे पर यहाँ हम रूप-मात्र की दृष्टि से हिंदी के परसर्गों को लेते हैं, क्योंकि वे कारकों से संबंध रखते हैं।

(२) इसी से M. Meillet ने एक बड़ी सामान्य परिभाषा बनाई है— "A word is the result of the association of a given meaning with a given combination of sounds, capable of a given grammatical use."

अर्थात् प्रकृति और दूसरा साधक अंश अर्थात् प्रत्यय। प्रकृति दो प्रकार की होती है—(१) तत्त्ववाचक और (२) भाववाचक। और प्रत्यय भी प्रधान रूप से दो प्रकार के होते हैं—(१) विभक्ति प्रत्यय और (२) सामान्य प्रत्यय। इन प्रत्ययों का इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—
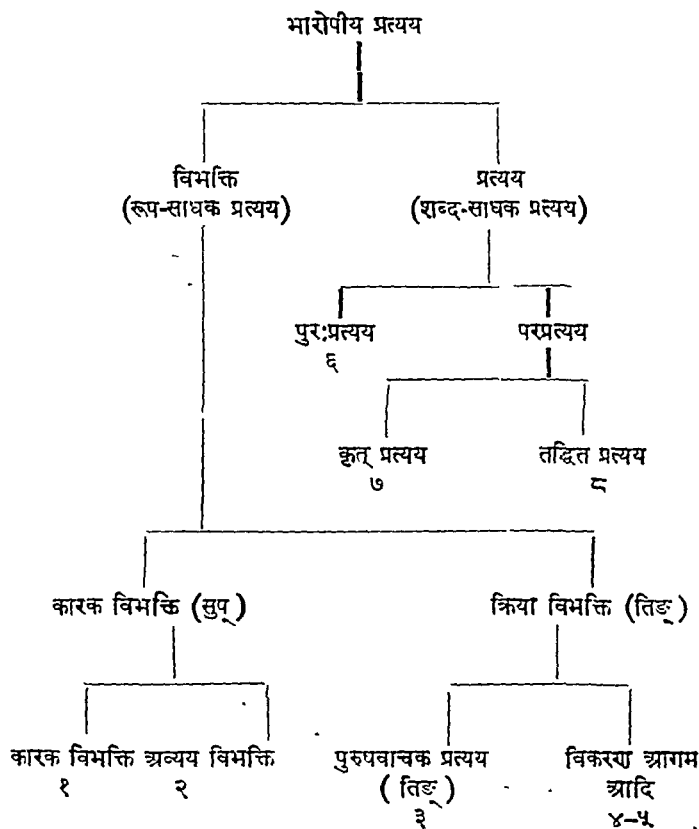
उन्हीं प्रत्ययों का दूसरे ढंग से वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—
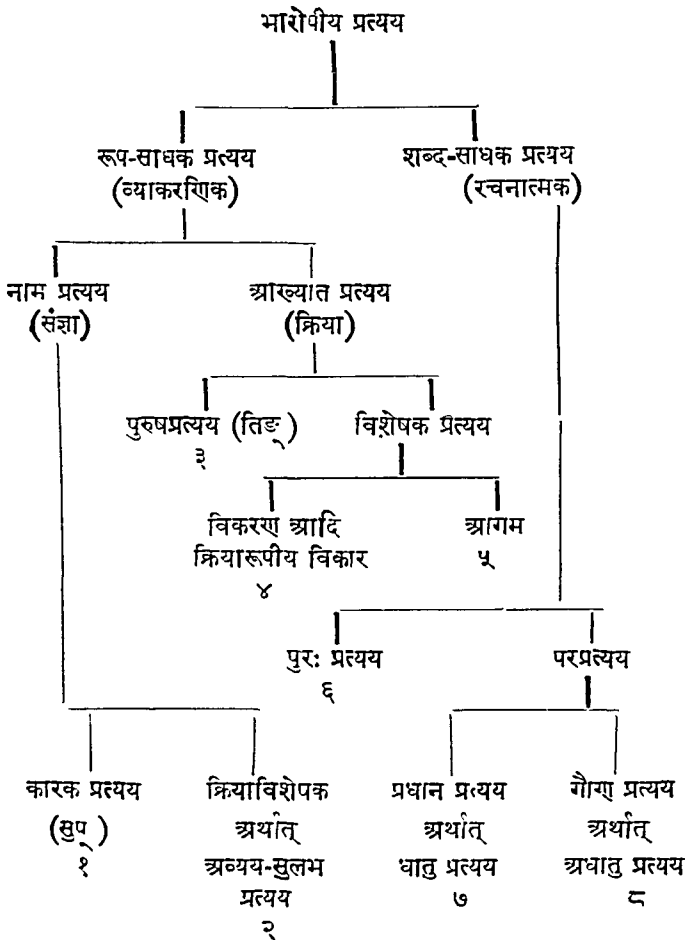
पीछे हम 'दातारम्' का उदाहरण देकर समझा चुके हैं कि उसमें 'दा' प्रकृति है, 'तृ' शब्द-साधक प्रत्यय है और 'अम्' रूप-साधक

प्रत्यय है। इस प्रकार हम प्रत्ययों के प्रधान दो भेदों से परिचित हैं। रूप-साधक प्रत्यय से शब्द का वह रूप बनता है जो वाक्य में प्रयुक्त होता है अर्थात् शब्द प्रयोगार्ह[1] हो जाता है पर इसके पहले—वाक्य के क्षेत्र में आने के पहले—प्रकृति स्वयं जिन प्रत्ययों का सहारा लेकर शब्द को जन्म देती है वे शब्द-साधक प्रत्यय कहलाते हैं। कभी कभी प्रकृति सर्वथा शुद्ध रहती है, उसमें केवल रूप-साधक अर्थात् विभक्ति प्रत्यय लगता है जैसे रामः अत्ति (राम खाता है) में राम+स्, अद्+ ति इन दोनों शब्दों में केवल रूप-साधक प्रत्यय लगे हैं। और यदि हम रामत्वम् शब्द को लें तो उसमें 'म्' रूप-साधक प्रत्यय है; और 'राम' प्रकृति है; इन दोनों के बीच में एक और प्रत्यय है। यह प्रत्यय शब्द-साधक कहलाता है क्योंकि उससे प्रकृति अर्थात् शब्द के अर्थ[2] में विकार आता है। इसी प्रकार अन्नम् में अद् प्रकृति, त् (न्) शब्द-साधक प्रत्यय और म् रूप-साधक प्रत्यय है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रूप-साधक प्रत्यय वाक्यान्वय से और शब्द-साधक प्रत्यय शब्द-रचना से संबद्ध होते हैं।

प्रत्ययों के दो भेद

रूप दो प्रकार के होते हैं संज्ञारूप[3] और क्रिया रूप। इसी से

---

(१) प्रयोगार्ह शब्द को संस्कृत में पद कहते हैं। सविभक्तिक शब्द प्रयोगार्ह होता है। अतः विभक्तिवाले शब्द को ही पद कहते हैं (सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४)। इस प्रकार प्रयोगार्ह शब्द = सविभक्तिक शब्द = पद। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अव्यय भी पद होते हैं। वे असर्वविभक्तिक होते हैं अथवा निपात सर्वदा एक रूप में रहनेवाले होते हैं। पद से शब्द अधिक व्यापक है। सविभक्तिक तथा निर्विभक्तिक दोनों प्रकार के शब्दों को हम शब्द कहते हैं।

(२) शब्द-साधक, प्रकृति-साधक और अर्थ-साधक पर्याय के समान प्रयुक्त होते हैं।

(३) यहाँ संज्ञा में क्रिया के अतिरिक्त सभी ऐसे शब्द आ जाते हैं जिनमें विभक्ति लगती हैं।

प्रत्यय भी दो प्रकार के होते हैं नाम-प्रत्यय और आख्यात-प्रत्यय। नाम प्रत्ययों में से कुछ तो ऐसे होते हैं जो वचन तथा कारक के बोधक होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जिनसे क्रिया-विशेषण अर्थात् अव्ययों के

रूप-साधक प्रत्यय

रूप[1] बनते हैं। पहले प्रकार के प्रत्यय अर्थात् कारक प्रत्यय संस्कृत में सुप् कहे जाते हैं— रामः रामौ रामाः; रामं रामौ रामान् आदि उसके उदाहरण हैं[2]। दूसरे प्रकार के प्रत्ययों के उदाहरण अतः, कुतः, ततः, मुखतः, अभितः, अत्र, देवत्र, दक्षिणाहि आदि हैं। वास्तव में ये दूसरे प्रकार के प्रत्यय कारक-प्रत्ययों से भिन्न[3] नहीं हैं; वे भी संज्ञा, सर्वनाम और विशेषणों के साथ लगते हैं और कभी कभी इस प्रकार बने शब्द कारकों की भाँति प्रयुक्त भी होते हैं। अंतर केवल यही है कि ऐसे शब्द अव्यय होते हैं। वही प्रत्यय किसी भी वचन, लिङ्ग अथवा कारक के साथ आ सकते हैं। चिरात्, सहसा, शनैः, आदौ, रहसि, समीपे आदि विभक्ति-प्रतिरूपक अव्ययों को देखकर यह कहना ठीक मालूम पड़ता है कि क्रियाविशेषण प्रत्यय भी वास्तव में विभक्ति-प्रत्ययों के अंतर्गत आ जाते हैं अर्थात् ये भी रूप-साधक प्रत्यय हैं।

---

(१) जिन शब्दों में रूप-भेद नहीं होता वे ही तो अव्यय (=व्यय-रहित) कहे जाते हैं, फिर अव्ययों के रूप कैसे। अव्ययों का इतिहास कहता है कि सविभक्ति और रूप-भेदवाले शब्द ही जब कारण-वश अपने सगोत्रियों से पृथक् हो जाते हैं तब वे अव्यय बन जाते हैं और सदा एकरूप रहने लगते हैं। वास्तव में अव्यय भी सुबन्त ही हैं।

(२) देखो इन विभक्ति प्रत्ययों के लिये—Whitney's Grammar § 310 or Macdonell's Classical Grammar or पाणिनि ४।१।२ स्वौजस्मौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्।

(३) "There is no ultimate difference between such suffixes and the case-endings in declension" Whitney § 1017 a.

दूसरे प्रकार के रूप-साधक प्रत्यय आख्यात प्रत्यय कहे जाते हैं क्योंकि वे आख्यात अर्थात् क्रिया-रूपों में मिलते हैं। ये आख्यात प्रत्यय भी दो प्रकार के होते हैं—(१) पुरुष-प्रत्यय, (२) विशेषक-प्रत्यय। पुरुषप्रत्यय संस्कृत में तिङ् कहे जाते हैं और गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति आदि उनके उदाहरण हैं अर्थात् ये क्रिया के विभक्ति-प्रत्यय हैं। इनसे काल और वचन के साथ ही प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुषों का बोध होता है।

आख्यात प्रत्यय

विशेषक प्रत्यय केवल रूपों की सिद्धि में सहायक होते हैं अतः वे भी कई प्रकार के होते हैं जैसे विकरण, आगम आदि[१]। विकरण ऐसे अंतःप्रत्यय होते हैं जो क्रिया में पुरुष-प्रत्यय जुड़ने के पहले लगते हैं और जिनसे क्रिया के गण, काल, वाच्य आदि का भी बोध होता है जैसे गच्छति अथवा युध्यते में ति और ते पुरुष-प्रत्यय हैं और अ और य विकरण हैं। संस्कृत में मुख्य विकरण ये होते हैं—शप्, शपो, लुक्, श्लु, श्यन्, श्नु, श, श्नम् उ, श्ना, यक्, च्लि (और उसके सब आदेश), तासि, स्य और सिप्। इनमें से पहले नव विकरण कर्तृ वाच्य में वर्तमान, भूत, आज्ञा और विधि की विभक्तियों के पहले धातुओं में लगते हैं यक् भावे और कर्मणि में लगता है। 'च्लि' लुङ् लकार में, 'तासि' लुट् में और 'स्य' लृङ् और हेतुहेतुमद्भूत में लगता है। शिप् लेट् में लगता है। इन विकरणों की अन्य भारोपीय भाषाओं के उसी ढंग के विशेपक प्रत्ययों से तुलना करें तो बड़ा लाभ हो सकता है। मूल भारोपीय भाषा में ब्रुगमान के कथनानुसार कोई बत्तीस से अधिक ऐसे विशेपक प्रत्यय थे।

---

(१) यहाँ जिस अर्थ में आगम लिया गया है उसके अनुसार आगम एक पुरः-प्रत्यय है और विकरण अन्तः-प्रत्यय। अर्थ से दोनों ही काल के द्योतक होने से एक जाति के माने जा सकते हैं।

संयुक्त होकर आते हैं तक तो वे निश्चय ही पूर्व-प्रत्यय होते हैं। प्र[१], परा, अप आदि ऐसे ही पूर्व-प्रत्यय हैं। ये क्रिया और संज्ञा दोनों के साथ पाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे क्रिया-विशेषण होते हैं जो प्रायः पूर्व-प्रत्यय हो जाया करते हैं जैसे अच्छ, आविस, तिरस्, पुरस्, प्रादुः, बहिः, अंतः विना, अलम्, साक्षात् आदि[२]।

शब्द-साधक परप्रत्ययों का तो संस्कृत में बाहुल्य है। इनके दो मुख्य भेद किए जाते हैं—(१) प्रधान अथवा धातु-प्रत्यय[३] और (२) गौण अथवा अधातु-प्रत्यय[४]। इन नामों से ही प्रकट हो जाता है कि पहले प्रकार के प्रत्यय धातुओं से और दूसरे प्रकार के प्रत्यय अधातुओं से लगते हैं। संस्कृत व्याकरण के कृत् और उणादि प्रत्यय पहले वर्ग में और तद्धित प्रत्यय दूसरे वर्ग में आते हैं। मन् से मति बनाने में 'ति' प्राथमिक अथवा धातु-प्रत्यय लगता है पर मति से मतिमान् बनाने में जो मत् (अथवा मान्) लगता है वह गौण अर्थात् तद्धित प्रत्यय है।

परप्रत्यय

इन प्रत्ययों के विषय में एक बात यह भी जान लेनी चाहिए कि संस्कृत में एक शब्द में प्रायः एक धातु और एक विभक्ति रहती है, पर शब्द-साधक प्रत्यय अनेक हो सकते हैं। इनके क्रम के विषय में भी निश्चित नियम रहते हैं। विभक्ति सदा अंत में रहती है और कुछ विशेष पुरःप्रत्ययों को छोड़कर सभी साधक प्रत्यय धातु और विभक्ति के बीच में आते हैं।

---

(१) संस्कृत में उपसर्ग प्रादयाः कहे जाते हैं और उनकी सूची यह है—प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप।

(२) इन सभी पुरः-प्रत्यय का अर्थ सहित वर्णन ह्विटने ने अपने व्याकरण में किया है—देखो—Whitney's S. Grammar § 1077 and 78.

(३) Primary Suffixes.

(४) Secondary Suffixes.

संस्कृत शब्द के विश्लेषण के लिये उसके स्वर और अपश्रुति का भी विवेचन होना चाहिए क्योंकि ये भी रूप-मात्र[१] होते हैं। इसी प्रकार समास भी संस्कृत शब्द की एक विशेषता है। समास द्वारा भी शब्द की सिद्धि होती है। संस्कृत समासों का अध्ययन भाषा के विकास की दृष्टि से बड़े महत्त्व का होता है। पहले छोटे समास होते थे और पीछे बड़े लंबे लंबे समासों का प्रयोग बढ़ गया था। भाषा-विज्ञान के अनुसार, परवर्ती संस्कृत के लंबे समास संस्कृत भाषा के व्यवहित होने की प्रवृत्ति के द्योतक हैं। यदि संस्कृत कुछ दिन और लोक में ही रहती तो वह व्यवहित हो जाती। उसकी ही बहिन-बेटियाँ तो व्यवहित होकर ही अपना वंश बढ़ा सकीं। संस्कृत के ऐसे समास जिनमें बड़े बड़े वाक्य अंतर्भूत हो जाते हैं इसी प्राकृत प्रवृत्ति के ज्ञापक हैं कि वे सब शब्द बिना किसी रूप-मात्र की सहायता के अर्थ-बोध कराने का यत्न कर रहे थे[२]।

स्वर और अपश्रुति

हम जिन रूपों और रूपमात्रों का साधारण वर्णन अभी तक करते रहे हैं उनमें विकार होता है। उसी विकार के कारण ऐतिहासिक व्याकरण का जन्म होता है पर हमें देखना है कि वे रूप-विकार ध्वनि-विकार में अंतर्भूत हो जाते हैं अथवा उनसे भिन्न अपना कोई अस्तित्व रखते हैं। ध्वनि-विकार से रूप-विकार का बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है तो भी दोनों में बड़ा अंतर रहता है। अधिक ध्वनि-विकार ध्वनि-मात्र से ही संबंध रखते हैं, उनका शब्दों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, पर रूप-विकार प्राय: रूप-मात्र की अपेक्षा शब्द को ही परिवर्तित कर देते हैं; क्योंकि

रूप-विकार

---

(१) प्राय: संस्कृत में स्वर, अपश्रुति तथा समास शब्द-साधक होते हैं।

(२) देखो—Taraporewala's—A Note on Sanskrit Compounds—' in the Sir Ashutosh Mookerjee Volume III 2 PP 449.

रूप का संबंध भाषा के कार्य और व्यवहार से अधिक रहता है और ध्वनि-मात्र तो शब्द का एक ऐसा अंग है जिस पर वाक्यार्थ का प्रभाव पीछे पड़ता है। यहाँ शब्द का पारिभाषिक अर्थ ध्यान में रखकर ही विचार करना चाहिए। इसी प्रकार रूप-विकार अमुक प्रयोग से प्रारंभ होते हैं और उनका क्षेत्र भी परिमित होता है अर्थात् अमुक अर्थ में अमुक प्रत्यय अथवा शब्द में किस प्रकार विकार होता है। दोनों प्रकार के विकारों का भेद उनके परिणाम देखने से भी मालूम हो जाता है। ध्वनि-विकार जब होता है तब वह स्थानी का नाश करके ही अपना आसन जमाता है, पर रूप-विकार अपने साथ अपने पूर्व कार्यकर्त्ता को भी प्राय: रहने देता है। इसी से नये रूपों के चल जाने पर भी पुराने अनेक रूप भी प्रयोग में आया करते हैं। अत: रूप-विकास की अनेक अवस्थाओं के कुछ कुछ चिह्न ऐतिहासिक को मिल जाया करते हैं[१]। साधारण शब्दों में रूप-विकार का अर्थ है रूपमात्र का नाश, उत्पत्ति अथवा परिवर्तन। कभी रूप-मात्र का नाश हो जाता है और शब्द स्वयं ही उसका कार्य करने लगता है, कभी उस रूपमात्र के नाश के साथ ही दूसरे रूपमात्र की उत्पत्ति होती है और कभी एक रूपमात्र के स्थान में दूसरा रूपमात्र कार्य करने लगता है। इसी प्रकार की चिंता रूप-विकार की चिंता कहलाती है।

रूप-विकार के कारण

शब्द के रूपों में विकार मुख्यत: दो प्रवृत्तियों के कारण होते हैं। बोलनेवालों की पहली प्रवृत्ति यह होती है कि शब्द के भिन्न भिन्न रूपों में कुछ सादृश्य और समता हो। यही एक-रूपता (uniformity) की इच्छा बहुत से कम व्यवहार में आनेवाले रूपमात्रों का विनाश कर देती है। दूसरी सामान्य प्रवृत्ति होती है कि हम अपने अर्थ ठीक ठीक प्रकट कर

(१) Cf. Vendryes Language P. 55 व्हेन्द्रिए ने फ्रेंच से उदाहरण देकर इस भेद को स्पष्ट किया है।

सकें अतः दूसरे रूपमात्रों की रचना होती रहती है। पुराने रूपमात्र में कुछ सार्थकता न पाकर अथवा उसमें कुछ विकार देखकर वक्ता तुरंत दूसरे शब्द, रूप-शब्द अथवा रूपमात्र का प्रयोग करने लगते हैं और वही यथासमय विकसित हो जाता है।

कथित भाषा में, प्रतिदिन व्यवहार में आनेवाली बोली में दोनों प्रवृत्तियाँ साथ साथ काम करती हैं—एक ओर नाना रूपों में समानता और एकता लाने का स्वाभाविक कार्य होता रहता है और दूसरी ओर अर्थ में भेद रखने के लिये रूपों में भी भेद रखने का यत्न होता रहता है। बहुत से रूपों की जटिलता से घबड़ाकर वक्ता सरलता की ओर आपसे आप जाता है। वह थोड़े रूपों से अपना काम चलाना चाहता है, पर संसार और जीवन की जटिलता और विविधता को प्रकट करने के लिए ऐसे नये रूपों की आवश्यकता भी नित्य पड़ा करती है। अतः रूपों का भेद सर्वथा नहीं होता। मृत्यु की आंशिक पूर्ति जन्म-संख्या अवश्य ही कर दिया करती है।

वैदिक भाषा में रूपों का बाहुल्य था। एक ओर यह प्रवृत्ति थी कि 'रामा' के समान एक शब्दरूप प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी आदि कई विभक्तियों में आने लगा था। दूसरी ओर इस रूप से जो भ्रम हो जाता था उससे वक्ता घबड़ा रहे थे। परिणाम यह हुआ कि पाणिनि के काल तक आते आते 'रामा' और 'गुहा' जैसे आकारांत प्रयोगों का नाश हो गया। फिर प्राकृतों में भी रूपों को सरल और एक समान बनाने की प्रवृत्ति देख पड़ती है साथ ही भेद रखने की प्रवृत्ति भी उचित मात्रा में थी।

सच बात यह है कि उपमान के द्वारा हमारे वक्ता रूपों को सरल और समान बनाते हैं—अनेक रूपों में से कुछ रूपों से काम चलाते हैं। जैसे संस्कृत में तृतीया[१] की विभक्ति है 'आ'। हस्तिन् (हाथी) एक

(१) संस्कृत में जो सात विभक्तियाँ हैं उनके नामकरण से प्रत्येक देशभाषा के वैज्ञानिक विद्यार्थी को परिचय कर लेना चाहिए—

१ प्रथमा—कर्ता २ द्वितीया—कर्म ३ तृतीया—करण ४ चतुर्थी—संप्रदान ५ पंचमी—अपादान ६ षष्ठी—संबंध ७ सप्तमी—अधिकरण।

शब्द है उसमें 'आ' लगाने से बनता है 'हस्तिना' (हाथी से)। इसी प्रकार, मति, पति, मुनि, भानु आदि शब्दों से आ लगने पर मत्या, पत्या, मुन्या, भान्वा आदि रूप बनने चाहिएँ पर हस्तिना के समान शब्दों के उपमान पर लोग मतिना, पतिना, मुनिना, भानुना आदि बोलने लगे। यह 'ना' वाला रूप इतना प्रयुक्त होने लगा कि अधिक शब्दों में यही जीवित रह सका। कहीं कहीं उसके साथ दूसरे रूप भी चलते रहे जैसे मतिना (स्त्रीलिंग) और पतिना के साथ मत्या और पत्या भी चलते थे। इसी प्रकार षष्ठी और सप्तमी में जहाँ दो दो रूप विकल्प से प्रयुक्त हो सकते हैं वहाँ भी उपमान की यही लीला देखने को मिलती है। साथ ही इस बात का भी उदाहरण मिल जाता है कि नये रूप के साथ पुराना रूप भी मित्र के समान चला करता है। जब शब्द में कोई ध्वनि-विकार होता है तब वह पहली ध्वनि का नाश करके ही चैन लेता है, पर रूप-विकार अपने स्थानी को निकालना आवश्यक नहीं समझता। यदि पुराना रूप सर्वथा क्षणिक होगा तब तो समय पाकर मर ही जायगा अन्यथा वह भी जीवित रहता है।

उपमान का एक बहुत बड़ा उदाहरण है प्राकृत में चतुर्थी का लोप। प्राकृत में चतुर्थी के स्थान में भी षष्ठी आती है। इसमें भी अधिक महत्त्व की बात है षष्ठी विभक्ति की व्यापकता। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी आदि सभी भाषाओं में षष्ठी बड़ी व्यापक है। इसका कारण भी उपमान ही है। अपभ्रंश, अवहट्ट और पुरानी हिंदी में जो 'हि' 'ह' आदि का बाहुल्य देख पड़ता है उसके मूल में भी उपमान का प्रभाव है।

जब हम किसी वाक्य का विश्लेषण करते हैं तब जान पड़ता है कि वाक्य में आए हुए विभिन्न शब्द विभिन्न प्रकार का कार्य-संपादन करते हैं। अर्थात् भाव-प्रकाशन में भिन्न शब्द भिन्न-भिन्न प्रकार से सहायक होते हैं। अतएव रूप-विकार के अध्ययन में यह जानने की सहज जिज्ञासा होती है कि कौन कौन से शब्द भाव-प्रकाशन में किस किस

वाक्य-विश्लेषण अर्थात् शब्दों का भेद

प्रकार की सहायता देते हैं। इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिये हम शब्दों का वर्गीकरण करते हैं।

भिन्न-भिन्न भाषाओं के वैयाकरणों ने शब्दों का वर्गीकरण भिन्न भिन्न प्रकार से किया है; और शब्दभेदों की संख्या दस तक पहुँच गई है, पर वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने पर मुख्य शब्द-भेद तीन ही बच जाते हैं। इसी से भारतवर्ष में प्राचीन काल में शब्दों के तीन विभाग किए गए थे—(१) नाम, (२) आख्यात और (३) निपात। पर आजकल का वर्गीकरण इस प्रकार का है—(१) संज्ञा, (२) क्रिया, (३) अव्यय। संज्ञा के अंतर्गत ही विशेषण और सर्वनाम को भी स्थान दिया जाता है। विशेषण को गुणवाचक संज्ञा भी कहते हैं। हमारे यहाँ अव्ययों का एक विस्तृत विभाग माना गया है जिसमें भिन्न भिन्न प्रकार के अव्यय होते हैं। अव्यय का प्रधान लक्षण यह है कि लिंग वचनादि के कारण उसमें कोई परिवर्तन या रूपांतर नहीं होता।

पाश्चात्य देशों में, शब्दों के आठ विभाग किए गए हैं। यह वर्गीकरण यूनानी विद्वानों का किया हुआ बतलाया जाता है। पर इन आठों विभागों के लैटिन नाम होने के कारण जान पड़ता है कि रोमन लोगों ने इसमें यथेष्ट संशोधन किया था। आधुनिक भारतीय भाषाओं में पाश्चात्य देशों के अनुकरण पर—विशेषकर अँगरेजी के प्रभाव से—शब्दों के आठ भेद माने जाते हैं। संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया और विशेषण तो पहले ही से प्रसिद्ध हैं। अव्ययों के चार उपविभाग किए जाते हैं अर्थात् क्रिया-विशेषण, समुच्चय-बोधक, संबंध-बोधक और विस्मयादि-बोधक। इस प्रकार सब मिलाकर आठ विभाग हो गए। नीचे हम प्रत्येक शब्द-भेद का पृथक् पृथक् विवेचन करेंगे।

संज्ञा

प्रत्येक वाक्य में कुछ शब्द प्रधान होते हैं और कुछ अप्रधान। उदाहरण के लिए हम यह वाक्य लेते हैं। 'एक काला घोड़ा आया।' इस वाक्य में 'घोड़ा' और 'आया' दो शब्द ही मुख्य हैं। भाव-प्रकाशन में जितना महत्त्व

इन दोनों शब्दों का है उतना अन्य शब्दों का नहीं। केवल 'घोड़ा आया' कहने से भी वाक्य का भाव बहुत कुछ व्यक्त हो जाता है। अब इन दोनों शब्दों में भी 'घोड़ा' शब्द अधिक महत्त्व का स्थान रखता है। पहले हम कह चुके हैं कि आदि भाषा में एक एक शब्द पूरे वाक्य का काम करता था और वह एक शब्द संज्ञा होता था। उसी प्रसङ्ग में हम एक बच्चे का उदाहरण देकर समझा चुके हैं कि जिस वस्तु के विषय में हम कुछ कहना चाहते हैं केवल उसका नाम लेकर चेष्टादि द्वारा उसके विषय में कुछ विधान करके अपने भावों को व्यक्त कर सकते हैं। मनुष्य को पहले पदार्थ का बोध होता है और तब क्रिया का। अतएव हमारे विचार से संज्ञा ही सबसे प्राचीन शब्द-भेद है। विदेशी शब्दों का ग्रहण प्राय: सभी भाषाओं में होता है। जब एक जाति का संसर्ग दूसरी जाति से होता है तब उनकी संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, बोलचाल आदि का परस्पर आदान-प्रदान होता है। विदेशी शब्दों के ग्रहण में कई प्रकार के व्यापार सहायक होते हैं जिनमें से मुख्य हैं आगम, विपर्यय, लोप और विकार। कभी कभी विदेशी शब्द तत्सम रूप में ग्रहण किए जाते हैं; जैसे अँगरेजी से हिंदी में मोटरकार, साइकिल, सिनेमा इत्यादि शब्द लिए गए हैं। कोचवान, लालटेन, लौट इत्यादि शब्द तद्भव रूप में आए हैं। कभी कभी नए आविष्कारों के लिये जब अपनी भाषा में नाम नहीं होते हैं तब या तो मूल आविष्कार के दिए हुए नाम को ही ग्रहण कर लेते हैं, जैसे ऊपर दिए हुए साइकिल, सिनेमा इत्यादि या उनके लिये अपने यहाँ नए शब्द गढ़ लेते हैं; जैसे aeroplane वायुयान या हवाई जहाज, electric light विद्युत्प्रकाश। कभी कभी मूल नामों का अनुवाद भी कर लिया जाता है; जैसे wireless telegraphy बेतार का तार, microscope अणुवीक्षण यंत्र, printing press मुद्रणालय, telescope दूरवीक्षण यंत्र इत्यादि।

भारोपीय भाषाओं की संज्ञाओं में लिंग, वचन और कारक की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती है और इन्हीं के कारण संज्ञा में रूपांतर

होता है। पर इन तीनों का किसी एक ही संज्ञा में विद्यमान होना आवश्यक नहीं है। भारोपीय परिवार की प्रायः सभी प्राचीन भाषाओं में पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग—ये तीन लिंग पाए जाते हैं। पर लिंग-निर्णय के लिए किसी भाषा में कोई निश्चित नियम नहीं हैं। कुछ नामों का लिंग नैसर्गिक है। अर्थात् वे पुरुष वा स्त्री के नाम होने के कारण पुल्लिंग वा स्त्रीलिंग माने जाते हैं। पर कुछ नाम ऐसे हैं जिनका नैसर्गिक लिंग निश्चित नहीं है। ऐसे नामों को नपुंसक लिंग देना उचित होता। पर सर्वत्र यह नियम नहीं लगता। ऐसे शब्दों के लिंग को हम कृत्रिम लिंग कह सकते हैं। अतएव नामों के अर्थों और उनके लिंगों में कोई विशेष संबंध नहीं जान पड़ता। यूनानी और लैटिन भाषाओं में वृक्ष के लिये जितने नाम हैं सब स्त्रीलिंग हैं। इसके लिये कोई विशेष कारण नहीं बताया जा सकता। इसी प्रकार संस्कृत में एक अर्थ के बोधक दार, कलत्र और स्त्री शब्द भिन्न भिन्न लिंगों के वाचक हैं। उनका नैसर्गिक लिंग स्त्रीलिंग है पर दार शब्द पुल्लिंग और कलत्र स्त्रीलिंग माना जाता है हिंदी में कलत्र का नैसर्गिक लिंग ही स्वीकृत होता है। देवता शब्द संस्कृत व्याकरण में स्त्रीलिंग माना जाता है। पर उससे बोध पुरुष ही का होता है। संस्कृत में प्रायः शब्दांत के विचार से लिंग-निर्णय होता है जिसका विवेचन पाणिनि के लिंगानुशासन में किया गया है।

संस्कृत के अकारांत तथा यूनानी और लैटिन के ओकारांत नामों के कर्त्ता एकवचन में यदि विसर्ग (स्) लगा रहता है तो वह प्रायः पुल्लिंग होता है। जैसे देवः, रामः, पुरुषः (संस्कृत); ओइकस्, डोमस् (यूनानी), विकस् (लैटिन) इत्यादि। पर इकारांत और उकारांत शब्दों के कर्त्ता एकवचन में विसर्ग की स्थिति यह घोषित करती है कि वह शब्द स्त्रीलिंग अथवा पुल्लिंग है। जैसे कविः मुनिः (पु०); मतिः, गतिः (स्त्री०); साधुः, भानुः (पु०) रेणु (स्त्री)। परंतु विसर्ग की अनुपस्थिति नपुंसकत्व प्रकट करती है। जैसे वारि, दधि

मधु इत्यादि। आकारांत और ईकारांत शब्द संस्कृत, यूनानी और लैटिन तीनों भाषाओं में प्रायः स्त्रीलिंग होते हैं और उनके कर्त्ता एक-वचन में कोई विभक्ति नहीं लगती। जैसे सीता, रामा, नदी, स्त्री, पोर्शिया, डेस्डिमोना, जेसिका, नेरिसा (लैटिन), हीरा (यूनानी) इत्यादि। इसमें संदेह नहीं कि इस नियम के अपवाद भी हैं। जैसे गोपा, विश्वपा (संस्कृत); एग्रिकोला, स्क्रिवा (लै०) आदि कुछ शब्द पुल्लिंग हैं। कभी कभी जब एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्दों का आगमन होता है तब अनुकरण के द्वारा उनमें लिंग-विपर्यय हो जाता है। अर्थात् ग्राहक भाषा में उसी अर्थ के द्योतक शब्द का जो लिंग होता है वही लिंग नए आए हुए शब्द का भी मान लिया जाता है। अनुकरण के द्वारा ही संस्कृत के अनेक शब्दों का लिंग पाली और प्राकृत में बदल गया है। इसी प्रकार संस्कृत से निकली हुई आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी लिंगांतर पाया जाता है। जैसे संस्कृत के पवन और वायु शब्द हिंदी हवा के अनुकरण पर स्त्रीलिंग माने जाते हैं। अग्नि शब्द संस्कृत में पुल्लिंग है। परंतु उससे व्युत्पन्न आगी शब्द हिंदी में इकारांत होने के कारण स्त्रीलिंग हो गया और आगी से आग होने पर भी लिंग वही बना रहा।

वचन

आदिम भारोपीय भाषा में तीन वचन थे—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। पहले द्विवचन का प्रयोग केवल उन वस्तुओं में होता था जिनका नैसर्गिक युग्म है। जैसे आँख, कान, हाथ, पाँव इत्यादि। जिन वस्तुओं का कृत्रिम युग्म है उनके लिये भी द्विवचन का प्रयोग होता था। जैसे रथ के घोड़े, मुद्गर, जूते इत्यादि। परंतु कालांतर में किन्हीं दो वस्तुओं के लिये द्विवचन का प्रयोग होने लगा, और व्याकरण में एकवचन और बहुवचन के साथ साथ द्विवचन के द्वारा भी रूपांतर होने लगा। द्विवचन की निस्सारता धीरे धीरे लोगों पर प्रकट हुई और इसे अनावश्यक समझकर लोगों ने इसका सर्वथा त्याग कर दिया। यही कारण है कि पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक

भारतीय भाषाओं में द्विवचन नहीं है। इतना ही क्यों, यूनानी, लैटिन आदि अन्य आर्य भाषाओं की प्रतिनिधि आधुनिक योरोपीय भाषाओं में भी द्विवचन विद्यमान नहीं है। इस संबंध में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि वैदिक संस्कृत और यूनानी भाषा में जिन वस्तुओं का नैसर्गिक अथवा कृत्रिम युग्म नहीं है उनके लिये जब द्विवचन का प्रयोग होता है तब उनके पूर्व क्रमशः द्वौ और डुओ का व्यवहार होता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि द्विवचन वास्तव में बहुवचन के अनेक रूपों में से एक विशेष रूप है जो रूढ़ हो गया है। बहुवचन का प्रयोग एक से अधिक वस्तुओं के लिये होता है। समूहवाचक, भाववाचक तथा पदार्थवाचक संज्ञाएँ प्रायः एकवचन में ही प्रयुक्त होती हैं, परंतु जब उन संज्ञाओं का भिन्न भिन्न प्रकार प्रदर्शित करना होता है तब बहुवचन में उनका प्रयोग होता है। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको नित्य बहुवचन कह सकते हैं क्योंकि उनका प्रयोग सदैव बहुवचन में ही होता है। जैसे दाराः (स्त्री), आपः (जल) इत्यादि।

संस्कृत, यूनानी, लैटिन आदि भाषाओं की तुलना करने पर पता लगता है कि आदि भारोपीय भाषा में कम से कम सात कारक रहे होंगे। साधारणतः कारकों के द्वारा जितने प्रकार के संबंध प्रदर्शित किए जाते हैं वास्तव में उनसे अधिक संबंध होते हैं। इसी लिये किसी किसी भाषा में कारकों की संख्या बहुत अधिक हो गई है और कहीं कहीं स्पष्टता न होने से कारकों के स्थान में क्रमशः क्रियाविशेषणों तथा संबंधसूचक अव्ययों का अधिकता से प्रयोग आरंभ हो गया। फिनलैंड की भाषा में सात से अधिक कारक हैं जिनके द्वारा अनेक प्रकार के निश्चित संबंध प्रदर्शित होते हैं जो सात कारकों की सीमा के अंदर नहीं आ सकते। जैसे संस्कृत के 'वृक्षात्' का अर्थ होता है 'पेड़ से'। पर यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता कि 'पेड़ के ऊपर से' अथवा 'पेड़ के अंदर से'। फिनलैंड की भाषा में ऐसे संबंधों की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये भिन्न भिन्न कारकों का प्रयोग होता है।

कारक

संबोधन की गणना कारकों में नहीं होती थी। संकृत में संबंध भी कोई कारक नहीं है। संस्कृत में कारकों का विवेचन करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि जिनका संबंध क्रिया से हो वे ही वास्तविक कारक गिने जायँ। संबंध कारक का संबंध क्रिया से होने के कारण इसकी गणना कारकों में नहीं की गई है। अतएव संस्कृत में छः ही कारक हैं।

यह देखने में आता है कि बहुत सी आर्य भाषाओं में कारकों की संख्या क्रमशः घटती गई है। इसके तीन मुख्य कारण बतलाए जाते हैं—(१) अधिक प्रयोग या प्रयोग का अभाव; (२) रूप की समानता; (३) एक कारक की व्यापार-सीमा का विस्तृत होकर दूसरे कारक को अपने अंतर्गत कर लेना।

भिन्न भिन्न कारकों के एकवचना में भिन्न भिन्न रूपों का व्यवहार होता था पर द्विवचन और बहुवचन का कम प्रयोग होने के कारण उनमें भिन्न भिन्न कारकों के लिये भिन्न भिन्न रूपों की आवश्यकता नहीं समझी गई। अतएव एक ही रूप कई कारकों के द्विवचन और बहुवचन का काम देने लग गया। संप्रदान और अपादान के द्विवचन और बहुवचन रूप एक हो गए। अपादान और संबंध के एक वचन में भी रूप-साम्य हो गया। कर्ता, कर्म और संबोधन के द्विवचन तथा बहुवचन के रूप सर्वदा समान ही होते हैं। नपुंसक लिंग में कर्ता और कर्म के सभी रूप एक से होते हैं। पाली में संप्रदान तथा संबंध के एक वचन के रूप एक से होते हैं। करण और अपादान के बहुवचनों के रूप भी एक में मिल गए। द्विवचन में तो कर्ता और संबंध के अतिरिक्त सभी कारकों के रूप एक से होते हैं। इस प्रकार रूप-साम्य ने कारकों की संख्या को कम करने में बड़ी सहायता की।

संबंध की विभक्ति का प्रयोग वैदिक संस्कृत में भी अन्य सभी कारकों के लिये होता था और उनके बाद भी होता रहा। संबंध की विभक्ति की यह व्यापकता प्रायः सभी भारतीय आर्य भाषाओं में पाई जाती है। इसका कारण यह है कि अन्य कारकों के लिये किसी

विशिष्ट संबंध की आवश्यकता होती है पर संबंध कारक में किसी प्रकार का संबंध यथेष्ट होता है। अतएव अन्य कारकों के लिये भी संबंध की विभक्ति काम देने लगी। इस प्रकार संबंध कारक ने बहुत से कारकों के ऊपर प्रभाव डालकर उनकी सीमा पर अपना प्रभुत्व जमा लिया और रूप की दृष्टि से कारकों की संख्या घट गई। पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में कारकों की संख्या कम हो गई है।

कारक विभक्तियों की उत्पत्ति के विषय में अभी तक निश्चित रूप से कुछ पता नहीं चला है। प्रागैतिहासिक काल से ही ये विभक्तियाँ मूल शब्द के अविच्छिन्न अंग के रूप में विद्यमान हैं। अतएव बहुत उद्योग करने पर भी भाषा-वैज्ञानिक अभी तक उनकी उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित सिद्धांत नहीं स्थिर कर सके हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि विभक्तियाँ उन परसर्गों का रूपांतर हैं जो किसी समय स्थान का बोध कराते थे। आज भी जर्मन भाषा में कारकों के दो विभाग किए जाते हैं जिनमें से एक विभाग (अधिकरण और अपादान) का नाम स्थानीय कारक है।

कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि विभक्तियाँ शब्दों के घिसे रूप हैं। शब्दों के अंतिम भाग के घिसने की अधिक संभावना रहती है, अतएव उपसर्गों की अपेक्षा परसर्गों की संख्या सभी भाषाओं में अधिक है। अरबी भाषा में पूर्व-सर्ग और मध्यसर्ग भी पाए जाते हैं। जैसे कतब (=लिखना), तकतुबु (=वह लिखता है); कसब (=लेना), इक्तसब (=उसने अपने लिये प्राप्त किया)। संभवत: यह इत्कसब से ही व्युत्पन्न है। प्राचीन अरबी में उ, इ, अ से कर्ता, संबंध और कर्म का बोध होता था, पर उनका लोप हो गया। अतएव अरबी भाषा अब कारक-हीन है। कभी कभी विभक्तियाँ शब्द का भाग बन जाती हैं और उनमें नई विभक्तियाँ लगती हैं। जैसे घर में की चीज, रास्ते में का पत्थर, पेड़ पर का पत्ता इत्यादि।

कुछ विद्वानों का मत है कि संज्ञा शब्दों के उदय के पहले ही सर्वनामों का उदय हुआ होगा। उनका कहना है कि सबसे पहले "अहं" "मैं" इस भाव की उत्पत्ति हुई होगी और अहं से भिन्न जो कुछ था वह दूसरा समझा जाता था। इन दूसरों में जो निकटस्थ थे वे तो "तुम" हुए और जो दूरस्थ थे उन्हें "वे" "वह" कहा गया। इस प्रकार पहले व्यक्तिवाचक सर्वनामों की उत्पत्ति हुई और क्रमशः उनके अनेक भेद और उपभेद हुए। उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष सर्वनामों में लिंग-भेद नहीं है। यह इनकी प्राचीनता का अच्छा प्रमाण जान पड़ता है। उत्तम और मध्यम पुरुष सर्वनामों में पहले वहुवचन के प्रत्यय नहीं लगते थे। इसका पता इस वात से लगता है कि उनके एकवचन और वहुवचन के रूप सर्वथा भिन्न हैं और एक ही शब्द के रूपांतर नहीं जान पड़ते। जैसे उत्तम पुरुष के एकवचन त्वम्-यूयम्, अहम्-वयम्। उत्तम पुरुष के एकवचन में ही दो शब्दों के रूपांतर पाए जाते हैं; जैसे 'अहम्' और 'माम्'। सर्वनामों में कारकों का प्रयोग भी जान पड़ता है पहले कुछ अनिश्चित-सा था। भारोपीय 'मोइ,' यूनानी 'मोई', लैटिन 'मी' अधिकरण का रूप जान पड़ता है। संस्कृत में 'मयि' का प्रयोग अधिकरण कारक में ही होता है पर यूनानी और लैटिन में संप्रदान कारक में प्रयुक्त होता है

सर्वनाम

संस्कृत में विशेषणों की गणना संज्ञा के अंतर्गत होती है और उन्हें गुणवाचक संज्ञा कहते हैं। वास्तव में गुणवाचक विशेषण भिन्न भिन्न गुणों की संज्ञाएँ हैं। विशेषणों की सृष्टि भिन्न भिन्न वस्तुओं में समानता और विषमता प्रदर्शित करने के लिये हुई थी और आदि में गुणवाचक विशेषण का ही प्रयोग होता था। धीरे धीरे विशेषण के अन्य भेदोपभेदों की आवश्यकता पड़ी और उनका व्यवहार होने लगा। संख्यावाचक और परिमाणवाचक विशेषणों का संबंध संज्ञा से अधिक जान पड़ता है और संकेतवाचक तो वास्तव में सर्वनाम ही हैं।

विशेषण

संख्यावाचक विशेषणों का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। अतएव उसके विषय में संक्षेप में नीचे लिखा जाता है। मूल-भारोपीय भाषा की गणना दशमलवात्मक थी। कहीं कहीं द्वादशमलवात्मक गणना के भी चिह्न मिलते हैं। जैसे अँगरेजी दर्जन और ग्रौस (१२ दर्जन) में। इस द्वादशमलवात्मक गणना के आधार पर एक जर्मन विद्वान् ने एक बड़ी भारी ऐतिहासिक घटना का ढाँचा तैयार किया है। उसका कहना है कि द्वादशात्मक गणना का मूल बैबिलोनिया-वालों की जड़ात्मक गणना है। अतएव उसके मत से आर्यों का आदिम निवास-स्थान बैबिलोन ही था। पर इस सिद्धांत के प्रतिपादन के लिये यथेष्ट सामग्री की कमी है। सर्वनाम और संख्यावाचक शब्द भाषा की स्थायी संपत्ति हैं और उनका परिवर्तन शीघ्र नहीं होता। विभिन्न आर्य भाषाओं के सर्वनामों में उतनी समानता नहीं है जितनी उनके संख्यावाचक शब्दों में है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के संख्यावाचक शब्द प्रायः संस्कृत शब्दों के घिसे हुए रूप हैं। पर कहीं कहीं वे इतने घिस गए हैं कि मूल से बहुत दूर चले गए हैं, जैसे ग्यारह < एकादश। एक बात और भी विचारणीय है कि ग्यारह, बारह, तेरह, सोलह और अठारह में तो 'दश' का 'रह' हो गया है पर पन्द्रह में 'पंचदश' का 'द्' भी है और 'र' भी आ गया है तथा 'चौदह' में मूल 'दस' का ही 'दह' होकर आया है। इसमें 'र' का पता नहीं।

क्रमात्मक संख्यावाचक शब्दों में संस्कृत के 'अम्' अथवा 'तम्' से निकला हुआ 'वाँ' जोड़ दिया जाता है; जैसे दसवाँ ग्यारहवाँ, बीसवाँ, इत्यादि। पर संस्कृत में षष्ठम् न होकर षष्ठ होता है। इसी से हिंदी में 'षष्ठम्' के भ्रम से छठवाँ भी लिखते हैं जो वास्तव में 'छठा' होना चाहिए। संस्कृत में प्रथम और चतुर्थ तो भिन्न हैं पर द्वितीय और तृतीय एक से हैं। इसी प्रकार हिंदी में भी पहला और चौथा भिन्न है एवं दूसरा और तीसरा एक से हैं। पर इनमें परस्पर बहुत अंतर हो गया है।

गुणात्मक (Multiplicative) संख्यावाचक शब्द भी संस्कृत के ही तुल्य हैं। पर हिंदी के शब्दों में सरलता इतनी आ गई है कि हिंदी का पहाड़ा जितनी सुगमता से और जितना शीघ्र पढ़ा जा सकता है उतना संस्कृत का नहीं। पूर्णांक के गुणों के अतिरिक्त यहाँ अर्द्धगुण और पादगुण का भी व्यवहार होता है जैसे दो और आधागुना=ढाई गुना। इसी से यहाँ पहाड़े के अतिरिक्त पौवा, अद्धा, पौना, सवैया, डेढ़ा, अढ़ैया, हूँठा, ढौंचा आदि का भी बहुत प्रचार है जिससे व्यावहारिक कार्यों में बड़ी सहायता मिलती है।

हमारे अव्ययों के अंतर्गत ऐसे शब्द आते हैं जो सब लिंगों और वचनों में एक से रहते हैं। उनके रूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। अव्यय वास्तव में भिन्न शब्दों के सविभक्तिक रूप हैं जो प्रयोग के कारण रूढ़ हो गए हैं। कई भाषाओं में इनके अनेक उपभेद किए गए हैं; जैसे क्रिया-विशेषण, संबंध-सूचक, समुच्चयबोधक तथा विस्मयादि-बोधक। इनमें से सबसे प्रधान क्रिया-विशेषण हैं। यदि हम किम्, दक्षिणा, एना, दिवा, शनै, कामं, तत्र, कुत्र, यत्र, उपाजे, अन्वाजे, हेलया, सहसा, साकं, सुखं, सुखेन आदि शब्दों को लेकर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट देख पड़ता है कि ये सब संज्ञा, सर्वनाम या विशेषणों के कर्म, करण, अपादान और अधिकरण कारकों में से किसी न किसी के रूप हैं। आरंभ में इन शब्दों के कारक-रूपों का व्यवहार वैसे ही होता था जैसे अन्य शब्दों के कारकों का। परंतु क्रियाओं के साथ इनका घनिष्ठ संसर्ग हो जाने से इनका अपना मूल रूप लुप्त हो गया; और जिस रूप में वे क्रियाओं की विशेष अवस्थाओं के सूचक हो गए, उसी रूप में स्थिर होकर क्रियाविशेषण अव्यय कहलाए। हिंदी में संज्ञाओं या सर्वनामों में विभक्तियाँ लगाकर अब तक क्रियाविशेषण बनाए जाते हैं; जैसे अंत में, इस पर, आगे, पीछे, सामने, सबेरे आदि पहले विभक्त्यंत संज्ञाएँ थे। क्रमशः उनकी विभक्तियों का लोप हो गया और ये क्रियाविशेषण

अव्यय
(क) क्रियाविशेषण

के रूप में स्थिर हो गए। इस प्रकार इन क्रियाविशेषणों का एक वर्ग बन गया।

संबंधसूचक शब्दों का इतिहास भी क्रियाविशेषणों के समान ही है। पहले संबंधसूचक शब्द क्रियाविशेषण थे, जैसे कृते, ऋते, पश्चात् सत्रा, साधं, समं इत्यादि। ह्विटनी का कहना है कि वास्तव में संबंधसूचक शब्दों का कोई वर्ग ही नहीं है।

(ख) संबंधसूचक

कोई शब्द-समुदाय ऐसा नहीं है जो संज्ञाओं के अधिकार का व्यापार करता हो। परंतु बहुत से क्रियाविशेषण संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त होते हैं, जिन्होंने क्रमशः कई भाषाओं में संबंधसूचक शब्दों का काम करते करते अपना एक वर्ग बना लिया है। एक दूसरे विद्वान् का कहना है कि संबंधसूचक शब्दों का उदय क्रियाविशेषणों के अनतर हुआ। जिस समय हमारी भाषा में वियोग हुआ और आदिम भाषाओं के बोलनेवाले एक दूसरे से अलग होकर भिन्न भिन्न दिशाओं में चले गए और अपने अपने ढंग पर अपनी अपनी भाषाओं का विकास करने लगे, उस समय हमारी मूल भाषा में एक भी स्वतंत्र संबंधसूचक शब्द नहीं था। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा था, तो संबंधसूचक शब्दों की उत्पत्ति कैसे हुई। इस प्रश्न का उत्तर इस विद्वान् ने यह दिया है—यह भली भाँति विदित है कि प्रारंभ में प्रत्येक संज्ञा-वाचक शब्द अपनी अधीनता का अवलंबन तथा कारकहेतुता का संबंध अनेक अंशों में किंचित् परिवर्तन करके सूचित करता था। परंतु संबंध प्रकट करने की यह रीति बड़ी ही जटिल और असम्यक् थी; क्योंकि सब संज्ञाओं का रूप एक ही प्रकार का न होने के कारण वे एक ही कारक में अनेक रूपों में प्रयुक्त होती थीं; और कारकों की संख्या इतनी थोड़ी थी कि मन जितने प्रकार के संबंधों की भावना कर सकता है, उन सबको वे स्पष्ट रूप से सूचित नहीं कर सकते थे। इसी लिये इनके साथ क्रियाविशेषण लगाकर उनके संबंध स्पष्ट किए जाते थे। परंतु एक ही क्रियाविशेषण को एक ही कारक के साथ प्रयुक्त करने से मन में इस प्रकार की भावना उत्पन्न होने लगी कि

गुणात्मक (Multiplicative) संख्यावाचक शब्द भी संस्कृत के ही तुल्य हैं। पर हिंदी के शब्दों में सरलता इतनी आ गई है कि हिंदी का पहाड़ा जितनी सुगमता से और जितना शीघ्र पढ़ा जा सकता है उतना संस्कृत का नहीं। पूर्णांक के गुणों के अतिरिक्त यहाँ अर्द्धगुणा और पादगुणा का भी व्यवहार होता है जैसे दो और आधागुना = ढाई गुना। इसी से यहाँ पहाड़े के अतिरिक्त पौवा, अद्धा, पौना, सवैया, डेढ़ा, अढ़ैया, हूँठा, ढौंचा आदि का भी बहुत प्रचार है जिससे व्यावहारिक कार्यों में बड़ी सहायता मिलती है।

हमारे अव्ययों के अंतर्गत ऐसे शब्द आते हैं जो सब लिंगों और वचनों में एक से रहते हैं। उनके रूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। अव्यय वास्तव में भिन्न शब्दों के सविभक्तिक रूप हैं जो प्रयोग के कारण रूढ़ हो गए हैं। कई भाषाओं में इनके अनेक उपभेद किए गए हैं; जैसे क्रिया-विशेषण, संबंध-सूचक, समुच्चयबोधक तथा विस्मयादि-बोधक। इनमें से सबसे प्रधान क्रिया-विशेषण हैं। यदि हम क्षिप्रं, दक्षिणा, एना, दिवा, शनैः, कामं, तत्र, कुत्र, यत्र, उपांशु, अन्वाञ्च, हेलया, सहसा, नाकं, सुखं, सुखेन आदि शब्दों को लेकर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट देख पड़ता है कि ये सब संज्ञा, सर्वनाम या विशेषणों के कर्म, करण, अपादान और अधिकरण कारकों में से किसी न किसी के रूप हैं। आरंभ में इन शब्दों के कारक-रूपों का व्यवहार वैसे ही होता था जैसे अन्य शब्दों के कारकों का। परंतु क्रियाओं के साथ इनका घनिष्ठ संबंध हो जाने से इनका अपना मूल रूप लुप्त हो गया; और जिस रूप में ये क्रियाओं की विशेष अवस्थाओं के सूचक हो गए, उसी रूप में स्थिर होकर क्रियाविशेषण अव्यय कहलाए। हिंदी में संज्ञाओं या सर्वनामों में विभक्तियाँ लगाकर अब तक क्रियाविशेषण बनाए जाते हैं; जैसे अंत में, इस पर, आगे, पीछे, सामने, सबेरे आदि पहले विभक्त्यंत संज्ञाएँ थीं। क्रमशः इनकी विभक्तियों का लोप हो गया और ये क्रियाविशेषण

अव्यय

(क) क्रियाविशेषण

के रूप में स्थिर हो गए। इस प्रकार इन क्रियाविशेषणों का एक वर्ग बन गया।

संबंधसूचक शब्दों का इतिहास भी क्रियाविशेषणों के समान ही है। पहले संबंधसूचक शब्द क्रियाविशेषण थे, जैसे कृते, ऋते, पश्चात् सत्रा, सार्धं, समं इत्यादि। ह्विटनी का कहना है कि वास्तव में संबंधसूचक शब्दों का कोई वर्ग ही नहीं है।

(ख) संबंधसूचक

कोई शब्द-समुदाय ऐसा नहीं है जो संज्ञाओं के अधिकार का व्यापार करता हो। परंतु बहुत से क्रियाविशेषण संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त होते हैं, जिन्होंने क्रमशः कई भाषाओं में संबंधसूचक शब्दों का काम करते करते अपना एक वर्ग बना लिया है। एक दूसरे विद्वान् का कहना है कि संबंधसूचक शब्दों का उदय क्रियाविशेषणों के अनतर हुआ। जिस समय हमारी भाषा में वियोग हुआ और आदिम भाषाओं के बोलनेवाले एक दूसरे से अलग होकर भिन्न भिन्न दिशाओं में चले गए और अपने अपने ढंग पर अपनी अपनी भाषाओं का विकास करने लगे, उस समय हमारी मूल भाषा में एक भी स्वतंत्र संबंधसूचक शब्द नहीं था। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा था, तो संबंधसूचक शब्दों की उत्पत्ति कैसे हुई। इस प्रश्न का उत्तर इस विद्वान् ने यह दिया है—यह भली भाँति विदित है कि प्रारंभ में प्रत्येक संज्ञा-वाचक शब्द अपनी अधीनता का अवलंबन तथा कारकहेतुता का संबंध अनेक अंशों में किंचित् परिवर्तन करके सूचित करता था। परंतु संबंध प्रकट करने की यह रीति बड़ी ही जटिल और असम्यक् थी; क्योंकि सब संज्ञाओं का रूप एक ही प्रकार का न होने के कारण वे एक ही कारक में अनेक रूपों में प्रयुक्त होती थीं; और कारकों की संख्या इतनी थोड़ी थी कि मन जितने प्रकार के संबंधों की भावना कर सकता है, उन सबको वे स्पष्ट रूप से सूचित नहीं कर सकते थे। इसी लिये इनके साथ क्रियाविशेषण लगाकर उनके संबंध स्पष्ट किए जाते थे। परंतु एक ही क्रियाविशेषण को एक ही कारक के साथ प्रयुक्त करने से मन में इस प्रकार की भावना उत्पन्न होने लगी कि

कारक-सूचकों तथा स्थान और समय सूचक अव्ययों में किसी न किसी प्रकार का कार्य-कारण का सा संबंध है। इस अवस्था में इन क्रिया-विशेषणों को कारक-सूचक न मानकर लोगों ने इन्हें वास्तव में संबंध-सूचक मान लिया। इस प्रकार समय और स्थान-सूचक क्रियाविशेषण कर्म, संप्रदान तथा संबंध के सूचक हो गए। उदाहरण के लिये हम संस्कृत का 'अधि' शब्द ले लेते हैं जो पहले क्रियाविशेषण था, पर आगे चलकर संबंध-सूचक होकर कर्म कारक का व्यापार संपादित करने लगा। फिर यह धातुओं के साथ लगकर क्रिया से कर्म का अनुशासन करने लगा। 'अर्थ अधिगच्छति (=धन प्राप्त करता है) पहले 'अधि अर्थं गच्छति' (=धन की ओर जाता है) था। पीछे 'अधि' 'गच्छति' के साथ लगकर 'अर्थ' का अनुशासन करने लगा। वैदिक भाषा में संबंधसूचक क्रियाविशेषणों ने अपनी स्वतंत्रता स्थिर रखी थी, पर पीछे से वह नष्ट हो गई। अतएव यह सिद्धांत निकला कि पहले संज्ञाओं से क्रियाविशेषणों की उत्पत्ति हुई और उनसे संबंधसूचक शब्दों का वर्ग स्थापित हुआ।

(ग) समुच्चयबोधक

जहाँ एक ही घटना का समय अथवा परिस्थिति बतलानी होती है वहाँ तो किसी कारक अथवा उसके घिसे हुए रूप क्रियाविशेषण तथा संबंधसूचक द्वारा काम चल जाता है, पर जहाँ पर एक कभी दूसरे का कारण या परिणाम होता है वहाँ एक अन्य प्रकार के शब्द की आवश्यकता होती है। ऐसे स्थलों पर पहले कोई शब्द नहीं रहता था वरन् दोनों वाक्य साथ साथ रख दिए जाते थे और उनका परस्पर संबंध निश्चित करने का भार पाठक के ऊपर रहता था। जैसे "तुम उन्हें भोजन देते हो, वे प्रसन्न होते हैं।" यहाँ पहला वाक्य दूसरे वाक्य का कारण है पर दोनों को जोड़नेवाला कोई शब्द उनके बीच नहीं है। वेदों में तथा बाइबिल में ऐसे प्रयोग अधिक संख्या में पाए जाते हैं। भाषा-विकास के साथ साथ इसके अभिव्यक्ति के ढंग भी विकसित हुए। अतएव वाक्यों का परस्पर संबंध प्रदर्शित करने के लिये यत्, तत्, अतः, यदि आदि

समुच्चयवोधक शब्दों की उत्पत्ति हुई। जिस प्रकार क्रियाविशेषण और संबंधसूचक अव्यय वास्तव में संज्ञा के सविभक्तिक रूढ़ रूप हैं उसी प्रकार समुच्चयवोधक अव्यय भी सर्वनाम के सविभक्तिक रूढ़ रूप हैं। अतएव ध्यानपूर्वक देखा जाय तो क्रियाविशेषण संबंधवोधक और समुच्चयवोधक अव्ययों में कोई विशेष अंतर नहीं है।

(घ) विस्मयादिवोधक

चौथा अव्यय विस्मयादिवोधक है। यूनानी लोग इसकी गणना शब्द-भेदों में नहीं करते थे। वास्तव में विस्मयादिबोधक शब्द एक पूर्ण वाक्य होता है। जैसे अहा, ओफ, छिः, धिक् इत्यादि। इनमें से प्रत्येक शब्द एक पूर्ण वाक्य की व्यंजना करता है। अतएव विस्मयादिवोधक शब्दों का विचार शब्दों के साथ न होकर वाक्य-विन्यास में होना चाहिए।

ऊपर जो अव्ययों का इतिहास दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि वास्तव में सभी अव्यय संज्ञा से ही उत्पन्न हुए हैं। विशेषण और सर्वनाम तो एक प्रकार से संज्ञा के अंग ही हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि भाषा की आदिम अवस्था में केवल संज्ञा और क्रिया-वाचक शब्द रहे होंगे और जैसे जैसे भाषाएँ विकसित होती गईं वैसे वैसे उनके भेदोपभेद होते गए जिसके परिणाम-स्वरूप आज हमारी भाषा में शब्दों के आठ भेद पाए जाते हैं।

क्रिया

क्रिया के विवेचन में इसके रूपों और प्रयोगों का इतिहास जानने में जितनी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं उतनी संज्ञा आदि के विषय में नहीं हैं। संज्ञा के रूपों और प्रयोगों के विषय में प्रायः सब आर्य भाषाओं में जितनी समानता है उतनी क्रिया-रूपों में नहीं। इसमें संदेह नहीं कि कारकों में बहुत परिवर्तन और उनका परस्पर मिश्रण हो गया है, पर क्रिया-रूपों में कहीं अधिक परिवर्तन हुआ है। क्रिया के विषय में भिन्न भिन्न आर्य भाषाओं में तुलना के लिये सामग्री भी यथेष्ट नहीं है जिससे आधुनिक रूपों का

प्राचीन इतिहास जानने में कुछ सहायता मिले। अतएव क्रिया का विवेचन करना भाषा-वैज्ञानिक के लिये अत्यंत दुष्कर कार्य है।

केवल संस्कृत, यूनानी और स्लैवोनिक भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें क्रिया के प्राचीन रूप सुरक्षित हैं। इनमें से विशेषकर संस्कृत और यूनानी के रूपों में बहुत साम्य है। केल्टिक, इटैलिक तथा जर्मेनिक भाषाएँ इस विषय में बहुत पिछड़ी हुई हैं, अर्थात् उनमें प्राचीन रूपों की कमी है। पर जर्मेनिक भाषाओं में कुछ रूप बहुत प्राचीन और अपरिवर्तित दशा में हैं। यूनानी और लैटिन के क्रिया-रूपों में कुछ भी साम्य नहीं है। अतएव प्राचीन रूपों का पता लगाने के लिये संस्कृत और यूनानी के रूपों की तुलना आवश्यक है और उसी के द्वारा क्रिया का प्राचीन इतिहास जाना जा सकता है।

मूल भारोपीय भाषा में वर्तमान (Present), अपूर्णभूत (Imperfect) भविष्य (Future), पूर्णभूत (Perfect) और सामान्यभूत (Aorist) विद्यमान थे। पर प्लूपरफेक्ट (Pluperfect) पीछे का जान पड़ता है। हेतुहेतुमद् (Subjunctive) और विध्यर्थ (Optative) भी रहे होंगे। पर इन सभों का प्रयोग जिन अर्थों में आजकल होता है उन अर्थों में उस समय नहीं होता था। केवल इनके रूप विद्यमान थे। संस्कृत में यद्यपि तीन वाच्य पाए जाते हैं पर यूरोपीय विद्वानों का विचार है कि मूल भारोपीय भाषा में केवल दो ही वाच्य थे—कर्तृवाच्य और भाववाच्य। यूनानी भाषा में भाववाच्य और कर्तृवाच्य तो हैं पर वास्तविक कर्मवाच्य नहीं है। भाववाच्य तथा कुछ नए रूपों के द्वारा एक तीसरा वाच्य बना लिया गया है जो कर्मवाच्य के सदृश है। लैटिन में भाववाच्य नहीं है। कर्मवाच्य भी नए ढंग से बनाया गया है। कर्तृवाच्य है तो पर बहुत परिवर्तित अवस्था में। अतएव वाच्य के विषय में संस्कृत ही सबसे पूर्ण भाषा है।

जिन अर्थों में कालों का प्रयोग हम लोग करते हैं वह आधुनिक है। नीचे कालों का विवेचन संक्षेप में किया जाता है। संस्कृत भाषा के कालों और अर्थों (moods) को मिलाकर कुल दस लकार

माने जाते हैं। वैदिक संस्कृत में एक और लकार था जिसे लेट् कहते थे। संस्कृत की अपेक्षा आधुनिक भारतीय भाषाओं में कालों की संख्या अधिक है। अतएव संस्कृत की अपेक्षा इन भाषाओं में भिन्न भिन्न कालों की अभिव्यक्ति अधिक निश्चित रूप में हो सकती है। संस्कृत में भूतकाल के लिये तीन लकार हैं; पहले उनमें परस्पर भेद था और उनका ठीक ठीक व्यवहार होता था पर पीछे से उनमें कोई अंतर नहीं रह गया। भविष्य के लिये दो लकार हैं, पर 'लृट्' का प्रयोग काल-निर्णय कराने में विशेष सहायक नहीं जान पड़ता। अतएव कालों में उसकी गणना करना व्यर्थ है। वर्तमान के लिये केवल एक लकार का प्रयोग होता था। इस प्रकार संस्कृत का काल-विभाग पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस विषय में आधुनिक भाषाओं का काल-विभाग अधिक विकसित है।

बहुत प्राचीन काल में वर्तमान का प्रयोग तीन अर्थों में होता था—(१) जो नित्य सत्य हो; जैसे दिन-रात का होना, (२) ऐतिहासिक वर्तमान और (३) भविष्य के अर्थ में; जैसे 'मैं कल जा रहा हूँ।' भूतकाल के विषय में हम पहले कह चुके हैं कि पूर्ण, अपूर्ण और सामान्य का प्रयोग बिना भेद के होता था। पहले 'लिट्' का प्रयोग नियमतः बिना देखी हुई भूतकाल की घटना (परोक्ष भूत) के लिये होता था। पर भट्टि काव्य के लेखक ने 'अभून्नृपः' लिखकर इस नियम को तोड़ दिया है। अतएव पीछे भूतकाल मात्र के लिये 'लिट्' का प्रयोग होने लगा। सामान्यभूत का प्रयोग कभी कभी ऐसी घटना के लिये भी होता था जो आरंभ तो भूतकाल में हुई पर समाप्त अभी हुई है; अर्थात् जिसे हम पूर्ण वर्तमान कह सकते हैं। पूर्ण वर्तमान का इस अर्थ में प्रयोग संस्कृत और स्लैह्लोनिक भाषा में विशेष रूप से पाया जाता है। हेतुहेतुमद् का प्रयोग भविष्य का अर्थ द्योतित करता था जैसा कि संस्कृत में है। यूनानी आदि भाषाओं में यह एक अर्थ (mood) माना जाता है।

प्राचीन इतिहास जानने में कुछ सहायता मिले। अतएव क्रिया का विवेचन करना भाषा-वैज्ञानिक के लिये अत्यंत दुष्कर कार्य है।

केवल संस्कृत, यूनानी और स्लैवोनिक भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें क्रिया के प्राचीन रूप सुरक्षित हैं। इनमें से विशेषकर संस्कृत और यूनानी के रूपों में बहुत साम्य है। केल्टिक, इटैलिक तथा जर्मैनिक भाषाएँ इस विषय में बहुत पिछड़ी हुई हैं, अर्थात् उनमें प्राचीन रूपों की कमी है। पर जर्मैनिक भाषाओं में कुछ रूप बहुत प्राचीन और अपरिवर्तित दशा में हैं। यूनानी और लैटिन के क्रिया-रूपों में कुछ भी साम्य नहीं है। अतएव प्राचीन रूपों का पता लगाने के लिये संस्कृत और यूनानी के रूपों की तुलना आवश्यक है और उसी के द्वारा क्रिया का प्राचीन इतिहास जाना जा सकता है।

मूल भारोपीय भाषा में वर्तमान (Present), अपूर्णभूत (Imperfect) भविष्य (Future), पूर्णभूत (Perfect) और सामान्यभूत (Aorist) विद्यमान थे। पर प्लूपरफेक्ट (Pluperfect) पीछे का जान पड़ता है। हेतुहेतुमद् (Subjunctive) और विध्यर्थ (Optative) भी रहे होंगे। पर इन सभों का प्रयोग जिन अर्थों में आजकल होता है उन अर्थों में उस समय नहीं होता था। केवल इनके रूप विद्यमान थे। संस्कृत में यद्यपि तीन वाच्य पाए जाते हैं पर यूरोपीय विद्वानों का विचार है कि मूल भारोपीय भाषा में केवल दो ही वाच्य थे—कर्तृवाच्य और भाववाच्य। यूनानी भाषा में भाववाच्य और कर्तृवाच्य तो हैं पर वास्तविक कर्मवाच्य नहीं है। भाववाच्य तथा कुछ नए रूपों के द्वारा एक तीसरा वाच्य बना लिया गया है जो कर्मवाच्य के सदृश है। लैटिन में भाववाच्य नहीं है। कर्मवाच्य भी नए ढंग से बनाया गया है। कर्तृवाच्य है तो पर बहुत परिवर्तित अवस्था में। अतएव वाच्य के विषय में संस्कृत ही सबसे पूर्ण भाषा है।

जिन अर्थों में कालों का प्रयोग हम लोग करते हैं वह आधुनिक है। तीनों कालों का विवेचन संक्षेप में किया जाता है। संस्कृत भाषा के कालों और अर्थों (moods) को मिलाकर कुल दस लकार

माने जाते हैं। वैदिक संस्कृत में एक और लकार था जिसे लेट् कहते थे। संस्कृत की अपेक्षा आधुनिक भारतीय भाषाओं में कालों की संख्या अधिक है। अतएव संस्कृत की अपेक्षा इन भाषाओं में भिन्न भिन्न कालों की अभिव्यक्ति अधिक निश्चित रूप में हो सकती है। संस्कृत में भूतकाल के लिये तीन लकार हैं; पहले उनमें परस्पर भेद था और उनका ठीक ठीक व्यवहार होता था पर पीछे से उनमें कोई अंतर नहीं रह गया। भविष्य के लिये दो लकार हैं, पर 'लृट्' का प्रयोग काल-निर्णय कराने में विशेष सहायक नहीं जान पड़ता। अतएव कालों में उसकी गणना करना व्यर्थ है। वर्तमान के लिये केवल एक लकार का प्रयोग होता था। इस प्रकार संस्कृत का काल-विभाग पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस विषय में आधुनिक भाषाओं का काल-विभाग अधिक विकसित है।

बहुत प्राचीन काल में वर्तमान का प्रयोग तीन अर्थों में होता था—(१) जो नित्य सत्य हो; जैसे दिन-रात का होना, (२) ऐतिहासिक वर्तमान और (३) भविष्य के अर्थ में; जैसे 'मैं कल जा रहा हूँ।' भूतकाल के विषय में हम पहले कह चुके हैं कि पूर्ण, अपूर्ण और सामान्य का प्रयोग विना भेद के होता था। पहले 'लिट्' का प्रयोग नियमत: विना देखी हुई भूतकाल की घटना (परोक्ष भूत) के लिये होता था। पर भट्टि काव्य के लेखक ने 'अभून्नृप:' लिखकर इस नियम को तोड़ दिया है। अतएव पीछे भूतकाल मात्र के लिये 'लिट्' का प्रयोग होने लगा। सामान्यभूत का प्रयोग कभी कभी ऐसी घटना के लिये भी होता था जो आरंभ तो भूतकाल में हुई पर समाप्त अभी हुई है; अर्थात् जिसे हम पूर्ण वर्तमान कह सकते हैं। पूर्ण वर्तमान का इस अर्थ में प्रयोग संस्कृत और हैलेनिक भाषा में विशेष रूप से पाया जाता है। हेतुहेतुमद् का प्रयोग भविष्य का अर्थ द्योतित करता था जैसा कि संस्कृत में है। यूनानी आदि भाषाओं में यह एक अर्थ (mood) माना जाता है।

प्रकार रूप-विचार के विशेष अध्ययन में चार मुख्य प्रकरण होते हैं—१ समास, २ कृत्, तद्धित आदि रचनात्मक प्रत्यय, ३ कारक-विभक्ति और ४ क्रिया-विभक्ति। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर रूप-विचार का विशेष अध्ययन किया जा सकता है।

छठा प्रकरण

अर्थ-विचार

(१)

भाषा-विज्ञान के दो अंगों का विवेचन पीछे हो चुका। उसके तीसरे अंग का नाम है अर्थ-विचार अथवा शब्दार्थ-विज्ञान। हिंदी में अभी कोई एक शब्द इस विज्ञान के लिये रूढ़ नहीं हुआ है। तीन शब्द प्रयोग में आ रहे हैं—अर्थातिशय, अर्थविचार और शब्दार्थ-विज्ञान। अंतिम शब्द सबसे अधिक व्यावहारिक और सरल मालूम पड़ता है, तो भी हमने 'अर्थ-विचार' नाम को अपनाया है क्योंकि इसका प्रयोग हम पहले कर चुके हैं। अंत में जाकर तो वही शब्द स्थिर होगा जिसका व्यवहार अधिक होने लगेगा।

नामकरण

सच पूछा जाय तो अभी अँगरेजी, फ्रेंच आदि पाश्चात्य भाषाओं में भी इस विज्ञान का नाम स्थिर नहीं हो सका है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न नाम चलाने का यत्न किया है। प्रोफेसर पोस्टगेट ने रेमाटोलोजी (Rhematology) प्रस्तावित किया है। ग्रीक शब्द रेमा का अर्थ होता है 'शब्द' (कही हुई बात)। ब्रेअल साहब ने सेमांटीक नाम रखा है। फ्रेंच नाम सेमांटीक का अँगरेजी पर्याय सेमांटिक्स अथवा सेमासियोलोजी होता है। यही सेमांटिक्स शब्द आजकल अधिक चल रहा है। यदि इसका ठीक और स्पष्ट भाषांतर किया जाय तो 'अर्थातिशय' अथवा 'अर्थ-विचार' कहना उचित होगा। ऐसा कई लेखकों'

का कथन है। तथापि हम, जैसा कह चुके हैं, शब्दार्थ-विज्ञान अथवा अर्थ-विचार नामों का ही व्यवहार करेंगे।

अर्थ-विचार का विषय

अब यह विचार करना चाहिए कि इस विषय के अंतर्गत क्या क्या आता है। कई लोग समझते हैं कि शब्दों की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति का ही दूसरा नाम अर्थ-विचार है; अर्थात् व्युत्पत्ति शास्त्र और अर्थ-विचार पर्याय हैं। दोनों प्रकार के विवेचनों में बहुत सी बातें समान होने से यह भ्रम हो जाता है, पर वास्तव में दोनों एक नहीं हो सकते। व्युत्पत्तिशास्त्र ध्वनि, रूप और अर्थ तीनों का विचार करके शब्दों का इतिहास रचता है, पर अर्थ-विचार शब्दों के अर्थ और अर्थ-विकार से ही अपना संबंध रखता है। व्युत्पत्ति-विद्या व्याकरण के समान एक कला है पर अर्थ-विचार भाषा-विज्ञान के समान विज्ञान है। इसी से व्युत्पत्ति-विद्या का विद्यार्थी केवल आवश्यकतानुसार अर्थों तथा अर्थ-विकारों का अध्ययन करता है। अर्थ-विचार करनेवाला उन अर्थों तथा अर्थ-विकारों के कारणों तथा नियमों का अध्ययन करता है। इसी से अर्थ-विचार का मुख्य विषय शब्दों की व्युत्पत्ति और उनकी ऐतिहासिक व्याख्या नहीं है। उसका विषय है भाषा का मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा सिद्धांत प्रतिपादन। जैसा प्रोफेसर अरटल ने कहा है अर्थ-विचार के मुख्य प्रश्न ये हैं—(१) पहला प्रश्न यह है कि किसी अमुक भाषा ने अपने भाव और विचार किस प्रकार किन किन साधनों से अभिव्यक्त किए हैं? इसका भी विचार एक व्यक्ति की दृष्टि से करना होगा। (२) दूसरा प्रश्न है कि वही एक रूप कितने अर्थों का बोध कराने में समर्थ है? (३) और तीसरा प्रश्न है कि वही एक अर्थ कितने भिन्न-भिन्न रूपों में आ सकता है?

अर्थ-विचार के अंतर्गत और भी अधिक प्रश्न आ सकते हैं—जैसे, क्यों किसी शब्द को अर्थबोध कराने की शक्ति मिलती है? किस प्रकार शब्दों की शक्ति घटती बढ़ती है? वह 'शक्ति' है क्या? मनुष्यों में वह कौन सी शक्ति है जो इस शब्दव्यापार अथवा शब्द-शक्ति से संबंध रखती है? इत्यादि। अभी पश्चिम के भाषा-शास्त्री भी इतनी

छठा प्रकरण

अर्थ-विचार

(१)

भषा-विज्ञान के दो अंगों का विवेचन पीछे हो चुका। उसके तीसरे अंग का नाम है अर्थ-विचार अथवा शब्दार्थ-विज्ञान। हिंदी में अभी कोई एक शब्द इस विज्ञान के लिये रूढ़ नहीं हुआ है। तीन शब्द प्रयोग में आ रहे हैं—अर्थातिशय, अर्थविचार और शब्दार्थ-विज्ञान। अंतिम शब्द सबसे अधिक व्यावहारिक और सरल मालूम पड़ता है, तो भी हमने 'अर्थ-विचार' नाम को अपनाया है क्योंकि इसका प्रयोग हम पहले कर चुके हैं। अंत में जाकर तो वही शब्द स्थिर रहेगा जिसका व्यवहार अधिक होने लगेगा।

नामकरण

सच पूछा जाय तो अभी अँगरेजी, फ्रेंच आदि पाश्चात्य भाषाओं में भी इस विज्ञान का नाम स्थिर नहीं हो सका है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न नाम चलाने का यत्न किया है। प्रोफसर पोस्टगेट ने रेमटॉलॉजी (Rhematology) प्रस्तावित किया है। ग्रीक शब्द रेमा का अर्थ होता है 'उक्त' (कही हुई बात)। ब्रेअल साहब ने सेमंटीक नाम चुना है। फ्रेंच नाम सेमंटीक का अँगरेजी पर्याय सेमंटिक्स अथवा सेस्मालोजी होता है। यही सेमंटिक्स शब्द आजकल अधिक चल रहा है। यदि इसका ठीक और स्पष्ट भाषांतर किया जाय तो 'माने-तत्त्व' अथवा 'माने-विचार' कहना उचित होगा। ऐसा कई लेखकों[१]

---

(१) देखो आशुतोष-ग्रंथ में सरकार का लेख। 'अर्थ' से धन, वस्तु आदि का भी बोध होता है पर 'माने' के बारे में कोई भ्रम नहीं हो सकता।

का कथन है। तथापि हम, जैसा कह चुके हैं, शब्दार्थ-विज्ञान अथवा अर्थ-विचार नामों का ही व्यवहार करेंगे।

अब यह विचार करना चाहिए कि इस विषय के अंतर्गत क्या क्या आता है। कई लोग समझते हैं कि शब्दों की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति का ही दूसरा नाम अर्थ-विचार है; अर्थात् व्युत्पत्ति शास्त्र और अर्थ-विचार पर्याय हैं। दोनों प्रकार के विवेचनों में बहुत सी बातें समान होने से यह भ्रम हो जाता है, पर वास्तव में दोनों एक नहीं हो सकते। व्युत्पत्तिशास्त्र ध्वनि, रूप और अर्थ तीनों का विचार करके शब्दों का इतिहास रचता है, पर अर्थ-विचार शब्दों के अर्थ और अर्थ-विकार से ही अपना संबंध रखता है। व्युत्पत्ति-विद्या व्याकरण के समान एक कला है पर अर्थ-विचार भाषा-विज्ञान के समान विज्ञान है। इसी से व्युत्पत्ति-विद्या का विद्यार्थी केवल आवश्यकतानुसार अर्थों तथा अर्थ-विकारों का अध्ययन करता है। अर्थ-विचार करनेवाला उन अर्थों तथा अर्थ-विकारों के कारणों तथा नियमों का अध्ययन करता है। इसी से अर्थ-विचार का मुख्य विषय शब्दों की व्युत्पत्ति और उनकी ऐतिहासिक व्याख्या नहीं है। उसका विषय है भाषा का मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा सिद्धांत प्रतिपादन। जैसा प्रोफेसर अरटल ने कहा है अर्थ-विचार के मुख्य प्रश्न ये हैं—(१) पहला प्रश्न यह है कि किसी अमुक भाषा ने अपने भाव और विचार किस प्रकार किन किन साधनों से अभिव्यक्त किए हैं? इसका भी विचार एक व्यक्ति की दृष्टि से करना होगा। (२) दूसरा प्रश्न है कि वही एक रूप कितने अर्थों का बोध कराने में समर्थ है? (३) और तीसरा प्रश्न है कि वही एक अर्थ कितने भिन्न-भिन्न रूपों में आ सकता है?

अर्थ-विचार का विषय

अर्थ-विचार के अंतर्गत और भी अधिक प्रश्न आ सकते हैं—जैसे, क्यों किसी शब्द को अर्थबोध कराने की शक्ति मिलती है? किस प्रकार शब्दों की शक्ति घटती बढ़ती है? वह 'शक्ति' है क्या? मनुष्यों में वह कौन सी शक्ति है जो इस शब्दव्यापार अथवा शब्द-शक्ति से संबंध रखती है? इत्यादि। अभी पश्चिम के भाषा-शास्त्री भी इतनी

दूर जाकर दार्शनिक खोज नहीं करते, पर ऐसा किया जा सकता है और भारत के भाषा-वैज्ञानिकों ने शब्द-शक्ति के अध्ययन करने में ऐसा किया भी है।

यदि भारतीय दृष्टि से इस अर्थ-विचार का विषय निर्धारित करें तो दो बातें सामने आती हैं। यहाँ पर निरुक्त-विद्या और शब्द-शक्ति मीमांसा ऐसे दो विषय थे, पर आजकल के अर्थ-विचार में दोनों का ही एक प्रकार से समावेश हो जाता है। यद्यपि कुछ विद्वान् निर्वचन और व्युत्पत्ति को भी अर्थ-विचार का अंग मानते हैं तथापि अधिक विद्वान् केवल उन नियमों और सिद्धांतों को ही अर्थ-विचार का विषय मानते हैं जिनसे अर्थों और अर्थ-विकारों के अध्ययन में हमें सहायता मिलती है।

पहले हमें भाषा के बुद्धिनियम और ध्वनिनियम का भेद और बुद्धिनियम और अर्थ-विचार का भेद समझ लेना चाहिए। इन दोनों के विवेक से हमारा विषय सर्वथा स्पष्ट हो जायगा। जिस प्रकार ध्वनि-नियम देश और काल की सीमा के भीतर कार्य करते हैं उसी प्रकार बुद्धिनियम सीमा के भीतर नहीं रहते, वे स्वतंत्र होकर चाहे जितनी

बुद्धिनियम और ध्वनिनियम

भाषाओं तथा कालों में व्यापक रूप से लग सकते हैं। यदि विचार किया जाय तो नियम अथवा कानून शब्दों का सच्चा अर्थ यहाँ बौद्धिक नियमों में नहीं घटता है; क्योंकि ये नियम कोई अपवाद-रहित, सर्व-व्यापी, सदा सत्य निकलनेवाले कानून नहीं होते। 'इन नियमों का अर्थ है कुछ व्यवहारों और व्यापारों में पाए जानेवाले स्थिर संबंध[१]'।

किसी भी शब्द का जब तक ध्वन्यात्मक विवेचन होता है तब तक हम उसके उच्चारण की ओर देखते हैं—उस शब्द का अमुक भाषा में

शब्द के संबंध

अमुक काल में ऐसा उच्चारण था और अमुक कारण अथवा कारणों से उच्चारण में विकार आया। इस प्रकार के उच्चारण-विकारों अथवा ध्वनि-विकारों से संबंध

---

(१) Constant relation discoverable in a series of phenomena."

रखनेवाले नियम ध्वनि-नियम कहलाते हैं। उच्चारण को अलग करके देखा जाय तो शब्द के दो प्रकार के संबंध बच रहते हैं—शब्द का एक संबंध होता है अपने वाक्य से और दूसरा संबंध होता है उस अर्थ (अथवा चीज) से जिसका वह शब्द बोध कराता है। इन दो प्रकार के संबंधों से ही शब्द कुछ कहने योग्य होता है, समर्थ और शक्तिमान् होता है। यदि इन संबंधों को हटा लिया जाय तो शब्द में कुछ रह ही नहीं जाता, वह विनिमय और व्यवहार कर ही नहीं सकता।

इन दोनों संबंधों को दूसरे शब्दों में अन्वय और शक्ति कहते हैं और दोनों का साधारण ज्ञान हमें यथाक्रम व्याकरण और कोष से होता है। व्याकरण में मुख्यतः अन्वय-द्योतक अंगों, निपातों अथवा शब्दों का विवेचन रहता है। गौण रूप से इसमें समास, कृदंत आदि के रचनात्मक प्रत्यय भी आ जाते हैं। कोष में शब्द और उसके वाच्य-अर्थ की व्याख्या रहती है। साधारणतया इसी के सहारे विद्यार्थी शब्द और अर्थ के अन्य 'स्थिर संबंधों' की भी खोज कर लेता है। इन द्विविध संबंधों के विवेचन करने का प्रयोजन यह है कि हम रूप-मात्र और अर्थ-मात्र का भेद कर सकें। भाषा के जो अंग अथवा अंश अन्वय-संबंध का बोध कराते हैं वे रूप-मात्र कहे जाते हैं और जो शब्दार्थ संबंध अर्थात् 'शक्ति' का बोध कराते हैं वे अर्थमात्र कहलाते हैं। जैसे 'राम ने हमसे कहा था' इस वाक्य में तीन रूप हैं—१ राम ने, २ हमसे, ३ कहा था। अब इनमें से 'ने', 'से' और 'आ था' रूपमात्र हैं और 'राम', 'हम' और 'कह' अर्थ-मात्र हैं। रूप-विचार में रूपमात्रों का और अर्थ-विचार में अर्थमात्रों का विचार होता है।

दूसरी बात है बुद्धिगत नियमों और अर्थ-विचार का भेद। जब अर्थ के अनुसार अर्थों में परिवर्तन होता है। तब उन विकारों का बुद्धिगत कारण होता है। उन कारणों का विचार करके जो नियम स्थिर किए जाते हैं वे बौद्धिक नियम कहे जाते हैं। जब केवल अर्थों में विकार आने की तथा उन विकारों के कारणों की विवेचना होती है तब वह

बौद्धिक नियम और अर्थ-विचार

अर्थ-विचार कहलाता है। आगे के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा। हम उदाहरण अधिक हिंदी के ही देंगे, पर कहीं कहीं तुलना के लिये संस्कृत, अँगरेजी, बँगला, मराठी आदि के शब्द भी देने का यत्न करेंगे।

बौद्धिक नियम

जब एक अर्थ (भाव अथवा विचार) को प्रकट करने के लिये अधिक शब्द प्रयुक्त होते हैं और फिर कारण-वश शब्द कम हो जाते हैं तब इस विकार का कारण 'विशेष भाव' माना जाता है।

१. विशेष भाव का नियम

अनेक से खिंचकर एक की ओर विशेष भाव रखने की इस प्रवृत्ति से शब्दों तथा शब्दार्थों का प्रायः ह्रास होता है। यदि एक ही व्याकरणिक सबंध दिखाने के लिये अनेक प्रत्ययों का प्रयोग होता है तो धीरे धीरे कुछ दिनों में उन अनेक प्रत्ययों का काम दो अथवा एक प्रत्यय से ही चलने लगता है। विशेष भाव के कारण इस प्रकार अनेक प्रत्ययों का ह्रास अथवा लोप हुआ करता है। प्राचीन भाषाओं में तारतम्य का बोध प्रत्ययों से हुआ करता था। ये प्रत्यय आदि काल में बहुसंख्यक और बहुत प्रकार के थे। धीरे धीरे ये कम होते गए। संस्कृत में पहले तर, तम, ईयस, इष्ट दो प्रकार के प्रत्यय इस अर्थ में आते थे, पर पीछे से प्रयोग के नाते दूसरे प्रकार के प्रत्यय विजयी होते गए। जैसे—गरीयस्, लघीयस्, द्राघीयस्, महीयस्, वरीयस्, श्रेयस्, प्रेयस; और गरिष्ठ, लघिष्ठ, द्राघिष्ठ, महिष्ठ, वरिष्ठ, श्रेष्ठ, प्रेष्ठ इत्यादि। दूसरी ओर संख्यावाचकों में तम के संक्षिप्त रूप 'म' की विशेषता देख पड़ती है। पहले प्रथम, पंचम, सप्तम के समान रूप ही व्यवहार में आते हैं। ईयमवाले, रूप तो दो ही देख पड़ते हैं, यथा—द्वितीय और तृतीय। इसी प्रकार इष्ठ का 'थ' भी केवल चतुर्थ और श्रेष्ठ इन्हीं दो रूपों में बच गया। इस प्रकार तारतम्य का बोध कराने में एक प्रत्यय ने और संख्या का बोध कराने में दूसरे ने विशेषता प्राप्त कर ली है। इसे ही कहते हैं विशेष भाव का नियम।

आजकल की देश-भाषाओं में इस प्रकार के तारतम्यसूचक प्रत्यय लुप्त हो गए हैं। उनका कार्य कुछ शब्दों से चल जाता है; जैसे बँगला चेये, गुजराती थी, हिंदी अपेक्षा इत्यादि। मराठी, बँगला और हिंदी तीनों में ही 'अधिक' शब्द से तुलना का बोध होता है। हिंदी का 'और' तथा बँगला का 'आरउ' भी प्रायः इसी अर्थ में आता है।

देश-भाषाओं के तत्सम शब्दों में ईयस् आदि प्रत्यय पाए जाते हैं, पर इनका विचार तो भाषा के व्याकरण में होता ही नहीं और दूसर यदि विचार किया भी जाय तो भी उनके प्रत्ययों का पृथक् अस्तित्व ही नहीं माना जा सकता। संस्कृत वैयाकरण घनिष्ठ, श्रेष्ठ, उत्तम आदि के प्रत्ययों का अर्थ करता है, पर हिंदी का प्रयोक्ता इन बने-तैयार शब्दों को ही लेकर आगे बढ़ता है। वह कहता है—१ वह संबंध और भी अधिक घनिष्ठ है; २ मोहन विद्या में अधिक श्रेष्ठ है; ३ उसका काम तुमसे भी अधिक उत्तम है इस प्रकार हिंदी, बँगला आदि में अब इस भाव के प्रत्यय बिलकुल नहीं रह गए हैं। यह प्रवृत्ति तो संस्कृत तक में पाई जाती है। जैसे श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम। एक प्रकार की व्याकरणिक छापवाले सभी शब्दों में से प्रायः एक शब्द अपने सजातीयों से अलग हो जाता है और उस व्याकरणिक भाव को प्रकट करनेवालों में प्रधान बन जाता है। इस प्रधानता पाने के साथ ही वह अपना व्यक्तित्व भी खो बैठता है, अब वह एक व्याकरणिक साधन मात्र रह जाता है।

बँगला में अधिक, आरउ, चेये, बेशी इत्यादि शब्द अर्थपक्ष के विचार से 'तर' प्रत्यय के बराबर ही माने जाते हैं। ऐसे शब्दों का स्वतंत्र अर्थ प्रायः लुप्त हो जाता है और यह गौण अर्थ ही सामने आ जाता है। जैसे 'बेशी खाउआ' (बँ०), अधिक खाना, कम खर्च आदि प्रयोगों में इन शब्दों का मूल अर्थ है पर 'बेशी छोट' किंवा 'बेशी बड़' (बँ०) 'यह घर उससे कहीं अधिक छोटा है' के समान वाक्यों में बेशी और अधिक केवल तारतम्य का बोध कराते हैं।

प्राचीन काल की विभक्तियों के स्थान में परसर्गों का आना 'विशेष भाव' के नियम का दूसरा उदाहरण है। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन के समान प्राचीन भाषाओं में कर्त्ता, कर्म, करण आदि के कारक संबंधों का बोध ऐसे प्रत्ययों द्वारा हुआ करता था जो उन शब्दों में अभिन्न रूप से मिले रहते थे। जब इन कारकों से मनःकल्पित सभी संबंधों का बोध स्पष्ट रूप से न हो सका तो वक्ता लोग कुछ क्रियाविशेषणों को भी साथ साथ जोड़ने लगे। संस्कृत में पहले उपसर्गों का क्रिया से ऐसा ही घनिष्ठ संबंध था। वे वैदिक काल में क्रियाविशेषण के समान प्रयुक्त होते थे, जैसे—प्रतित्यं चारुमध्वरं·····अग्न आगहि। अस्माकमुदरेषु आ इत्यादि। पीछे से लौकिक संस्कृत में वे ही क्रिया-विशेषण दो मार्गों से चले। एक ओर वे संबंधवाचक अव्यय बन गए और दूसरी ओर क्रियाओं में अव्यवहित रूप से मिल गए।

बँगला, हिंदी आदि देश-भाषाओं के परसर्गों का इतिहास इस 'विशेष भाव' की ही कहानी है। तृतीया के स्थान में 'के द्वारा', द्वितीया के स्थान में 'की सेवा में' अथवा 'पास', चतुर्थी के स्थान में 'के लिये', 'के वास्ते' आदि के समान प्रयोग तो साधारण हैं, क्योंकि वे निजी कारणों से आए हैं पर ने, को, से, में आदि विभक्तियाँ ही वियोग और विश्लेषण द्वारा विशेष भाव की प्रवृत्ति प्रकट कर रही हैं।[१]

अँगरेजी के संबंध कारक वाले चिह्न 'S में भी इसी विशेष भाव का सिद्धांत पाया जाता है। विभक्ति का यह चिह्न इतना स्वतंत्र हो गया है कि वह दो तीन शब्दों के बाद भी रखा जाता है; जैसे The King of England's Tower, Asquith and Lloyd George's ministry. बँगला में भी उसी प्रकार संबंध सूचक 'र', कर्मवाचक 'के' और अधिकरण-बोधक 'ते' चिह्नों का स्वतंत्र शब्दों के समान प्रयोग होता है। जैसे—कलिकाता, वर्धमान, पाटना ও अलाहाबादेर लोक। राम,

---

(१) इन परसर्गों तथा विभक्तियों का इतिहास 'हिंदी भाषा', पृ० १२८ में देखिए।

श्याम ও जदू के दाउ (अर्थात् दो)। कृष्णनगर ও कलिकाताते देखिव। यदि हिंदी के परसर्गों को देखा जाय तो उनकी भी यही दशा है। 'उन्होंने' में 'ने' विभक्ति मिली हुई है पर वही 'ने' दूर रहकर भी काम करता है; जैसे राम, श्याम और कृष्ण ने...... ।

भारतीय देश-भाषाओं के पारिवाचिक प्रयोग भी इसी विशेष भाव के कारण उत्पन्न हुए हैं। जैसे—हिंदी के आता हूँ, गया था, और बँगला में गियाछि, जाइतेछि, आसियाछिलाम। इस संबंध में संस्कृत के आस, चकार और बभूव से बननेवाले रूप विचारणीय हैं। ये व्यवहिति की नहीं, संहिति की प्रवृत्ति प्रकट कर रहे हैं। दातास्मि के समान प्रयोग अवश्य ही अर्वाचीन रहे होंगे।

धात्वर्थ के अनुसार अथवा किसी ऐतिहासिक कारण से जो शब्द एक बार पर्याय रहते हैं या देखने में पर्यायवाची मालूम होते हैं, वे ही शब्द जिस व्यवस्थित प्रक्रिया के द्वारा भिन्न भिन्न अर्थों में आने लगते हैं उसको कहते हैं भेदीकरण अथवा भेदभाव का नियम। बड़ी सीधी बात है कि भाषा का प्रश्न मूल में समाज का प्रश्न है। जिस प्रकार समाज में उन्नति का अर्थ है भेद, उसी प्रकार भाषा ज्यों-ज्यों बढ़ती है उसमें भी भेदभाव बढ़ता है। उदाहरण के लिये हम दो बातें लेते हैं। पहले भाषा सीखने में बच्चा अभेद की नीति से काम लेता है, पर ज्यों-ज्यों बढ़ने लगता है वह शब्दों और अर्थों में भेद करने लगता है। इसी प्रकार जो अल्पज्ञ विद्यार्थी कोष में एक अर्थवाले शब्दों को रट लेने के बाद व्यवहार में अथवा साहित्य की भाषा में उनका प्रयोग देखता है वह शीघ्र ही भेद भाव का ज्ञान कर लेने पर विशेषज्ञ हो जाता है।

२. भेद (भेदीकरण) का नियम

Differentiation.

इतिहास में साधारण सी बात है कि जब मेल से अथवा लड़ाई से किसी प्रकार दो भिन्न-भिन्न भाषाओं अथवा बोलियों का सामना होता है तब एक बार उन व्यक्तियों का शब्द-भांडार आपसे आप बढ़ जाता है। पर धीरे धीरे उस बढ़े भांडार की व्यवस्था की जाती है; या तो कुछ शब्द अप्रयुक्त और अप्रसिद्ध हो जाते हैं अथवा पर्यायवाची

शब्दों में थोड़ा अर्थभेद कर लिया जाता है। उदाहरण के लिये, भारत में विदेशियों के आने से देशी भाषाओं में विदेशी शब्द बढ़े। मुसलमानों और अँगरेजों के साथ फारसी, अरबी और अँगरेजी के शब्द खूब बढ़े। पर आज उन सब शब्दों के अर्थ में पूरा भेद किया जाता है। समाज में पर्यायवाची शब्द तो कभी चलते ही नहीं। यदि एक शब्द के आगे बढ़ने पर दूसरा मरता नहीं, तो उसके अर्थ में कुछ न कुछ आंशिक भेद तो अवश्य ही कर लिया जाता है। डाक्टर, वैद्य, हकीम और कविराज चारों ही पर्यायवाची शब्द हैं, पर हिंदी में चारों के अर्थ में स्पष्ट भेद हो गया है। डाक्टर से एलोपैथी, होमोपैथी, अथवा प्रकृति-चिकित्सा के समान किसी आधुनिक प्रणाली के चिकित्सक का अर्थ लिया जाता है; वैद्य से सीधे आयुर्वेद जाननेवाले देशी चिकित्सक का बोध होता है; हकीम से यूनानी चिकित्सावाले का अथवा किसी मुसलमान चिकित्सक का अभिप्राय निकलता है और कविराज का अर्थ होता है बंगाली चिकित्सक। कोई भी अँगरेजी का वक्ता इन चारों को डाक्टर कह सकता है, उर्दूवाला चारों को हकीम कह सकता है, बंगाली कविराज से सब का बोध करा सकता है और संस्कृत-भाषी तो सबको वैद्य कहता ही है, पर आज हिंदी में चारों भाषाओं के शब्द आ गए हैं। इसी से यह भेदीकरण का नियम चला है। इसी प्रकार पाठशाला, मदरसा और स्कूल शब्दों में भी कैसा भेद देख पड़ता है। पाठशाला संस्कृत से संबंध रखती है, मदरसा उर्दू-फारसी से और स्कूल हिंदी-अँगरेजी से। कभी कभी तो एक ही भाषा से आए पर्यायवाची शब्दों में भी बड़ा भेद हो जाता है। पाठशाला, विद्यालय, विद्यापीठ, सरस्वती-भवन आदि हिंदी में संस्कृत से ही आए हैं, पर आज विद्यापीठ का नाम लेते ही श्रोता को राष्ट्रीय विद्यापीठ, महिला विद्यापीठ आदि के समान आधुनिक ढंग की संस्था का ध्यान आ जाता है, विद्यालय और सरस्वती-भवन से प्रायः संस्कृत की ही उच्च शिक्षा देनेवाली संस्थाओं का बोध होता है। पाठशाला शब्द बड़ा व्यापक हो गया है, वह सभी का बोध कराता है। इस प्रकार यद्यपि कन्या पाठशाला, कुमार पाठशाला, संस्कृत पाठशाला

आदि प्रयोगों में पाठशाला शब्द जातिवाचक हो गया है तो भी उसका रूढ़ार्थ संस्कृत की सामान्य शाला होता है। पाठशाला से छोटाई का बोध होता है और विद्यालय अथवा कालेज से बड़ी संस्था का बोध होता है। इसी प्रकार मास्टर और पंडित, लम्प और प्रदीप, बाजार और हाट, आदि के समान पर्यायवाची शब्दों में भेद के नियम ने काम किया है।

ये विदेशी भाषाओं के आए हुए शब्दों के उदाहरण हैं, पर स्वयं उसी तत्सम शब्द से निकले तद्भव शब्द में भी यह भेदीकरण का नियम काम करता है, जैसे—पुस्तक और पोथी, कार्य और काज, धात्री और धाड़ी (बँ०), देवता और देया (बँ०), गर्भिणी और गाभिन इत्यादि। धाड़ी है तो धात्री का ही तद्भव रूप पर वह बँगला में पशुओं के लिये ही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार गाभिन शब्द भी पशु-पक्षियों के ही संबंध में आता है। यह शब्द बँगला, हिंदी, मराठी आदि कई भाषाओं में चलता है। जिस प्रकार तत्सम और तद्भव शब्दों में अर्थ-भेद हो जाता है उसी प्रकार तत्सम और देशी शब्दों में भी भेदीकरण का कार्य चलता है। उदाहरण के लिये 'बियाना' देशी शब्द है, वह प्राय: पशुओं के लिये आता है पर प्रसव करना अथवा होना स्त्रियों के लिये प्रयुक्त होता है और अधिक शिष्ट प्रयोग है।

सीधी बात तो यह है कि देशी, विदेशी, तद्भव आदि कहीं के भी शब्द हों जब वे एकार्थवाचक हो जाते हैं तब शीघ्र ही भेदीकरण का कार्य प्रारंभ हो जाता है। कुछ और उदाहरण लेकर इसे स्पष्ट करना चाहिए। बच्चों के लिये जो शब्द आते हैं उन्हें देखना चाहिए। गाय के बच्चे को बच्छा या बछड़ा, घोड़े के बच्चे को बछेड़ा, भैंस के बच्चे को पड़वा, सुअर के बच्चे को छौना, भेड़ अथवा बकरी के बच्चे को मेमना, मछली के बच्चे को पोना, साँप के बच्चे को पोआ, और कुत्ते के बच्चे को पिल्ला कहते हैं। इसी प्रकार बँगला आदि सभी भाषाओं में भिन्न जीवों के बच्चों के लिये भिन्न भिन्न शब्द आते हैं। अँगरेजी के child, calf, kid, colt, cub आदि शब्द भी इसी कोटि के हैं।

समूह-वाचक शब्दों में भी अर्थ-भेद का अच्छा उदाहरण मिलता है, जैसे—मित्रों की टोली, भाषाओं की गोष्ठी, पशुओं का गल्ला, डाकुओं का गिरोह, देहातियों का झुंड, अहीरों का गोल, लड़ाकों की टुकड़ी, टिड्डियों का दल, बगलों की पाँत, जनता की भीड़ इत्यादि।

एक ही अंग के अनेक नामों में भी इसी ढंग का भेद होता है; जैसे—पीठ और पुट्ठा, कोख और पेट, नख और खुर, स्तन और थन, थूथन और नाक।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि धात्वर्थ और यौगिक अर्थ को महत्त्वहीन करनेवाली सबसे बड़ी प्रक्रिया भेदीकरण है। एक ही 'भू' धातु और एक ही उपसर्ग 'अनु' से बने 'अनुमान' और 'अनुभव' में कितना अर्थ-भेद हो गया है। ऐसे उदाहरण संस्कृत में सैकड़ों मिल सकते हैं। बुद्धि और बोध, श्राद्ध और श्रद्धा, वेद और विद्या जैसे शब्द एक ही धातु से निकले हैं और रूप में भी बहुत मिलते हैं पर अर्थ-भेद कितना अधिक हो गया है।

मनुष्य का विचार और संस्कार जितना ही बढ़ता जाता है, यह अर्थ-भेद की प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। यह प्रसिद्ध बात है कि भिन्न-भिन्न कोटि के व्यक्तियों के कारण एक ही व्यापार के लिये कई शब्दों का व्यवहार होता है। जैसे—देवता को चने का 'भोग लगाया' है, मैंने भी चना 'खाया' है, और उन महात्माओं ने भी चना 'पाया' है। इसी प्रकार हम लोग पूज्य और मान्य लोगों के 'दर्शन' करने जाते हैं और अपने मित्रों को 'देखने' जाते हैं। अर्थात् सामान्य लोगों के बारे में जिन शब्दों का प्रयोग होता है उनका बड़े लोगों के लिये कभी नहीं होता। प्रभविष्णु व्यक्तियों के लिये प्रभविष्णु शब्दों का प्रयोग होता है। यदि किसी सामान्य मनुष्य की मृत्यु होती है तो हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य मर गया; पर किसी बड़े के बारे में कहना पड़ता है तो हम कहते हैं कि उनका स्वर्गवास हो गया। रास्ते की धूल को धूल अथवा गर्द कहते हैं, पर जब पवित्रता का भाव रहता है

तब रज अथवा रेणु शब्दों का प्रयोग होता है; जैसे—गुरु-चरण-रज, तीर्थरेणु इत्यादि।

नम्रता दिखाने के लिये भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे—आपका दौलतखाना, मेरा गरीबखाना, उन लोगों का घर; इन तीनों का अर्थ एक ही है। कभी कभी दो पर्यायवाची शब्दों में एक शिष्ट बन जाता है और दूसरा अशिष्ट; जैसे दोस्त और यार। दोनों ही मित्र के पर्याय हैं पर हिंदी में 'यार' अशिष्टता का अर्थ देता है। उस्ताद और उस्तादजी एक होते हुए भी भिन्न अर्थ के वाचक हैं। बेहया और निर्लज्ज पर्याय हैं, पर लोग बेहया को अधिक बुरा समझते हैं। प्रणय और प्रेम में भी हिंदी ने बड़ा भेद कर लिया है। प्रणय केवल दांपत्य प्रेम को कहते हैं।

सलाम, प्रणाम, नमस्कार, नमस्ते आदि सभी शब्दों का सामान्य अर्थ एक ही है पर हिंदी में सलाम ब्राह्मणेतर जातियों में चलता है। प्रणाम बड़ों के प्रति और नमस्कार बराबरीवालों के प्रति किया जाता है। नमस्ते पुराना शब्द है पर उसमें नवीन युग और सुधारवाद के भाव भरे समझे जाते हैं। इसी प्रकार आशीर्वाद देने के अनेक प्रकार हैं—आशीर्वाद, चिरंजीव, नारायण, हरिस्मरण आदि। यदि इन प्रणाम, नमस्कार के पर्यायों का संग्रह करके उनके अर्थ-भेद का अध्ययन किया जाय तो बड़ा मनोरंजक शिक्षाप्रद मनोवैज्ञानिक लेख तैयार हो सकता है। जय जय, जयरामजी की, जय जिनेंद्रजी की, ॐ नमो नारायण, दण्डवत्, पालागी, आदाब, शिव शिव, जय गोपाल की, वाह गुरु की इत्यादि न जाने कितने प्रयोग हैं पर सब में अर्थ-भेद भी है।

अब थोड़ा भेद-प्रवृत्ति की सीमा का भी विचार लेना चाहिए।

(१) जिन शब्दों में अर्थ-भेद होता है उन्हें उस भाषा में पहिले ही से विद्यमान रहना चाहिए। भेदीकरण विद्यमान सामग्री में ही काम करता है, वह कुछ नई सामग्री उत्पन्न नहीं करता।

(२) दूसरी बात यह है कि पहले तो अर्थ-भेद स्पष्ट रहता है, पर जब संचय अधिक हो जाता है तब फिर मानव-मन उन भेदों को भूलने लगता है, अंत में जाकर अनेक शब्दों का लोप हो जाता है। जैसे खाद्

भक्त, अद्, अश् आदि में पहले भेद रहा होगा, पर अब नहीं है। भू और अस् अथवा स्पश् और हश् पहले अर्थ-भेद के कारण जीते थे पर पीछे उनका भेद-भाव नष्ट हो जाने से उनके अनेक रूप भी नष्ट हो गए।

(३) तीसरी बात यह है कि अर्थ-भेद का सभ्यता से संबंध रहता है। जो समाज जितना ही अधिक सभ्य होगा उसकी भाषा में अर्थ-भेद उतना ही अधिक होगा। हम लोग सात से भी अधिक रंगों के नाम लेते हैं पर संथाल केवल दो रंग जानते हैं—काला और सफेद।

३. उद्योतन का नियम

उद्योतन उस प्रक्रिया का नाम है जिससे अच्छा खराब अथवा अन्य कोई दूसरा विशेष अर्थ रूपविशेष के साथ संबद्ध हो जाता है—इस प्रकार जो द्योतकता आ जाती है वही पीछे से उन रूपों की सहज संपत्ति मालूम होने लगती है। उदाहरण के लिये हिंदी का 'हा' प्रत्यय पहले सामान्य संबंध प्रकट करता था, जैसे स्कुलिहा लड़का, उतरहा आदमी, पुरबिहा चावल, पाठशालिहा विद्यार्थी इत्यादि, पर संसर्ग के प्रभाव से अब इस प्रत्यय में गर्व का भाव घुस गया है, जैसे रुपयहा, कुर्सिहा; मोटरहा। दूसरा उदाहरण 'ई' प्रत्यय है। साहबी, नवाबी, गरीबी, अमीरी, मुनीमी आदि में 'ई' का सामान्य अर्थ है, पर पीछे से साहबी ठाट, नवाबी चाल, मुनीमी ढंग, स्कूली रंग आदि प्रयोगों के प्रभाव से 'ई' में एक नई द्योतकता आ गई है। इसी को कहते हैं उद्योतन अथवा अर्थोद्योतन।

प्रारंभिक काल में लिंगभेद के प्रत्यय भी प्रायः उद्योतन से ही बन गए थे। घटनावश अथवा कभी किसी बलाबल के विचार से जो प्रत्यय स्त्रीवाचक अथवा पुरुषवाचक शब्दों के साथ लग गए, पीछे से वे उन्हीं लिंगों के द्योतक बन बैठे। संस्कृत के आ, ई आदि लिंग-द्योतक प्रत्यय इसी प्रकार बने हैं। पहले गोपा (पुल्लिंग) और माला (स्त्रीलिंग) जैसे दोनों लिंग के प्रयोग चले, पर स्त्रीवाचक शब्दों में ही 'आ' अधिक पाए जाने से लोगों ने उसे स्त्रीप्रत्यय मान लिया।

वही स्त्रीप्रत्यय हिंदी में आकर दूसरे प्रकार के संसर्ग में पड़ने से पुल्लिंग और वड़प्पन का सूचक वन गया। धोती, गौरी, सती, मौसी, डोरी, किवाड़ी, घंटी, मटकी, पोथी आदि का वड़प्पन तथा पुरुषत्व प्रकट करना होता है तो हम कहते हैं—धोता, गौरा, सता, मौसा, रस्सा, डोरा, किवाड़ा, घंटा, मटका, पोथा। सता, मौसा, डोरा आदि शब्दों में पुरुषत्व की भावना है।

कभी कभी प्रकृति का एक अंश उद्योतन के द्वारा प्रत्यय वन जाता है, जैसे 'पश्चात्' प्रकृति है उससे वना पाश्चात्य; पर पीछे से 'आत्य' ही प्रत्यय वन गया और अव हम पौर्वात्य और दाक्षिणात्य भी कहने लगे हैं। पाली में तस्स + अंतिकं मिलकर 'तस्सन्तिकं रूप वना करता था पर पीछे सन्तिकं संवंधसूचक प्रत्यय वन गया। इस प्रकार प्रकृति के अंशों में भी द्योतकता आ जाती है। अँगरेजी में डेस्पाटिज्म (Despotism) और पेट्रिआटिज्म (Patriotism) आदि शब्दों में 'इज्म' प्रत्यय है पर पीछे से 'टिज्म' ही प्रत्यय वन गया और 'ईगो' से इगोटिज्म जैसे शब्द वनने लगे। इसी प्रकार पिआनिस्ट (Pianist) और मैशिनिस्ट (Machinist) आदि शब्दों में 'ईस्ट' प्रत्यय है पर पीछे 'न' भी प्रत्यय में आ मिला और टुवैकोनिस्ट (Tobacconist) के समान शब्द-रचना होने लगी।

संस्कृत में तो ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ पूरी की पूरी प्रकृति उद्योतन के द्वारा प्रत्यय वन गई है जैसे गो-युगच् प्रत्यय। गोयुग का अर्थ है गाय अथवा वैल का जोड़ा, पर संसर्ग से उसमें केवल जोड़ा प्रकट करने की शक्ति आ गई। अतः अव उष्ट्रगो-युगच् (एक जोड़ा ऊँट) के समान प्रयोग चलने लगे हैं। इस प्रकार अर्थ के अनुसार रूप वन जाया करते हैं।

जव विभक्तियाँ ध्वनि-नियम अथवा अन्य किसी कारण से लुप्त हो जाती हैं तव भी यह आवश्यक नहीं होता कि जनता के मन से भी उनका लोप हो जाय। इसी मनोवृत्ति के कारण प्रायः प्राचीन काल की कुछ अप्रयुक्त विभक्तियाँ भी भाषा में मिल जाया करती हैं। इस मनोवृत्ति

का पोषण करके विभक्तियों को जीवित रखनेवाली तीन बातें होती हैं—(१) परंपरा, (२) वाक्य अथवा पाद में शब्द का स्थान, और (३) उपमान, जो सहज ही दूसरी मिलती-जुलती रचनाओं से हमारी स्मरणशक्ति पर प्रभाव डाल देता है।

४. विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम

अगत्या, अर्थात्, दैवात, हठात् आदि पहले प्रकार के; गया वक्त, मुआ बैल, सोया आदमी आदि दूसरे प्रकार के; और गढ़ंत, पढ़ंत, लड़ंत आदि तीसरे प्रकार के उदाहरण हैं। गया, सोया आदि संस्कृत के गतः, सुप्तः आदि के तद्भव रूप हैं और गढ़ंत जैसे शब्द संस्कृत के कृदंतों की उपमा पर बने हैं। महंत, श्रीमंत आदि शब्द भी इसी प्रकार बने हैं।

कभी कभी कुछ पुराने रूप केवल साहित्यिक भाषा अथवा बोलियों में पाए जाते हैं; जैसे घरे, पाठशाले गाँवे, खरिहाने खेते आदि में संस्कृत की सप्तमी जी रही है, पर प्रयोग अब बोलियों में ही अधिक होते हैं। सिर-माथे रखना और भूखों-मरना के समान प्रयोगों में जो विभक्ति के चिह्न हैं वे दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं अर्थात् वे विभक्तियाँ अपने स्थान के कारण अभी तक बच रही हैं।

भेद-नियम के समान ही इस विभक्तिशेष के नियम की भी सीमा है। जब अवशिष्ट विभक्तियाँ सर्वथा अप्रसिद्ध और अप्रयुक्त हो जाती हैं तब तो उनका नाश अवश्यंभावी हो जाता है। पर सामान्य नियम यही है कि पुरानी भाषा की बची विभक्तियों से नवीन भाषा की शोभा बढ़ती है। आपे प्रयोगों की महिमा समझनेवाले इस प्रवृत्ति और नियम को भली भाँति समझ सकते हैं।

कभी कभी भ्रम से हमें जिस अर्थ का भान होने लगता है वही अर्थ उस प्रत्यय अथवा शब्द में भी पीछे से स्थिर हो जाता है। जैसे अँगरेजी आक्सन (oxen) को आक्स का बहुवचनांत रूप समझते हैं। पर वास्तव में पहले संस्कृत उक्षन् के समान ही आक्सन (oxen) भी एंग्लो-सैक्सन काल में एकवचन की प्रकृति है इसमें कोई भी

५. मिथ्या प्रतीति का नियम

वहुवचन की विभक्ति नहीं है, पर जब उसमें वहुवचन का भ्रम हुआ तो लोगों ने उसमें से दो अंश निकाले—आक्स (एकवचन का रूप) और अन (en) वहुवचन का प्रत्यय। इस प्रकार यह भ्रम भी उत्पादक सिद्ध हुआ।

अँगरेजी का मोर (more) शब्द तुलनावाचक समझा जाता है। वास्तव में ऐसी वात नहीं है पर भ्रम होने का ही यह फल है कि 'मो' (mo) के समान प्रकृति की कल्पना की जाती है और उससे मोस्ट (most) रूप भी वनाया जाता है। इसी प्रकार चेरीज, पीज आदि शब्द पहले एकवचन थे पर भ्रम से वे वहुवचन मान लिए गए। इसी से अव चेरी और पी ये एकवचन वन गए हैं और 'ज' वहुवचन का चिह्न माना जाने लगा है। सिंग (Sing) सैंग (Sang) संग (Sung) के समान रूपों में जो स्वर-वैषम्य है वह आजकल का द्योतक माना जाता है। वास्तव में ऐसा भ्रम से ही हुआ है। पहले स्वर और वल के कारण ही ऐसे रूप वन गए थे पर अव उनमें व्याकरण-वाली द्योतकता आ गई है। इस प्रकार मिथ्या प्रतीति वहुत कुछ उत्पन्न कर डालती है।

कभी कभी जहाँ विभक्ति अथवा प्रत्यय रहते हैं उन पर ध्यान न जाने से एक दूसरे प्रकार की भ्रांति (या मिथ्या प्रतीति) होती है। जैसे मैंने, विधान ने, अभी भी इत्यादि दुहरे प्रत्यय लगे हैं। 'कावुल-वाला' के स्थान पर 'कावुलीवाला' और 'विविध' के स्थान पर 'विविध प्रकार' का प्रचलन भी इसी भ्रांति के कारण हुआ है। 'गुलमेहँदी का फूल' 'गुलरोगन का तेल' 'दर असल में' आदि प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है।

मनुष्य अनुकरणप्रिय होता है। यदि उसे शब्द वनाना पड़ता है तो वह किसी एक चलते शब्द के अनुकरण पर नया शब्द गढ़ लेता है।

६. उपमान का नियम

वह उचित नियमों की चिंता नहीं करता। ब्रेअल ने लिखा है कि इस प्रकार उपमान का अनुकरण भाषा में वहुत काम करता है। मुख्यत: चार वातों में उपमान का विशेष प्रयोग होता है—

(१) भाव-प्रकाशन की कोई कठिनाई दूर करने के लिये।

(२) अधिक स्पष्टता लाने के लिये।

(३) किसी विषय अथवा सादृश्य पर जोर देने के लिये।

(४) किसी प्राचीन अथवा अर्वाचीन नियम से संगति मिलाने के लिये।

प्राचीन भारोपीय काल में उत्तम पुरुष एकवचन, वर्तमान के दो प्रत्यय थे—मि और ओ। आदिष्ट क्रियाओं में ओ और अनादिष्ट में मि लगता था पर उपमान के प्रभाव से यह भेद धीरे धीरे मिट गया। संस्कृत में लोगों ने मि को अपना लिया और ग्रीक में ओ को। यद्यपि दोनों भाषाओं में ऐसे चिह्न मिलते हैं जिनसे दोनों रूपों का पता चलता है तथपि प्रयोग में एक का ही बोलबाला है। संस्कृत के अस्मि और अवेस्ता के अह्मि की बराबरी का एह्मि ग्रीक में भी मिलता है। इसी प्रकार संस्कृत के ब्रवा जैसे रूप ग्रीक के भेरो और लेटिन के फेरो जैसे रूपों में स्मारक माने जा सकते हैं। इस प्रकार उपमान भेद को मिटाने और नए शब्दों को सरल से सरल ढंग से गढ़ने में सहायक होता है, वह शब्दों के विनाश और उत्पत्ति दोनों का बीज बनता है।

वेदों में आवम् और युवम् भी कर्ता द्विवचन के रूप आते हैं पर पीछे से इन रूपों का नाश हो गया क्योंकि संज्ञा के कर्ता और कर्मवाले द्विवचन रूप एक से होते थे। अतः इसी उपमान पर सर्वनाम के वे ही रूप चले जो कर्म के समान थे और आगे चलकर जीवित रहे। कर्म में आवाम् और युवाम् रूप थे। अतः कर्ता में आवम् और युवम् के साथ ये रूप भी चलने लगे, पर जनता तो कम से कम शब्दों से काम लेना चाहती है, अतः थोड़े ही दिनों में केवल आवाम् और युवाम् ही रह गए।

इसी प्रकार संस्कृत के व्यंजनांत शब्दों को लोगों ने स्वरांत शब्दों के समान बना लिया है। पाली, प्राकृत और हमारी देशभाषाएँ इसके प्रमाण हैं। नरस्, पितरम्, कर्मन्, मनस् आदि सभी हिंदी में अकारांत हैं।

अपभ्रंश काल में कम से कम विभक्तियाँ लगाने में भी यही कठिनाई से बचने की प्रवृत्ति थी। ध्वनि-विकारों के कारण उस काल में इतने अधिक रूप चल पड़े थे कि लोगों ने सीधे विभक्ति-हीन को अपनाना आरंभ किया। प्राकृतोंवाली विभक्तियों को लगाकर बोलने की पुरानी प्रवृत्ति थी। यही साहित्यिक प्रचलन था। पर भिन्न भिन्न ढंग के आभारों के संसर्ग से विभक्ति-हीन रूप भी चल पड़े थे। लोगों ने विभक्तिहीनता को ही सुविधा-जनक पाया और इसको उपमान ने धीरे धीरे पूर्ण कर दिया। जब एक प्रधान अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति बढ़ी तो दूसरे अपभ्रंशों में भी उसकी देखादेखी होने लगी। इसी प्रकार तो उपमान अपना क्षेत्र बढ़ाता है। अंत में उसका एकछत्र राज्य हो जाता है। आज हमारी भाषाओं में विभक्ति-हीनता ही चारों ओर देख पड़ती है।

विभक्तियों के यदि ऊपर लिखे इतिहास पर विचार करें तो एक बात और देख पड़ती है। अपभ्रंश के पिछले काल में हं, हु, हिं आदि हकारवाली विभक्तियाँ इतनी अधिक आने लगी थीं कि भाषा में स्पष्टता कम हो चली थी। अतः इस स्पष्टता को बढ़ाने के लिये लोग दूसरी ओर झुक पड़े कि विना विभक्ति के रूपों को लेकर और उन्हीं में कोई परसर्ग आदि जोड़कर काम चलाने लगे। उपसर्गों और परसर्गों का लक्ष्य प्रारंभ में स्पष्टता बढ़ाना ही था।

जिस प्रकार भाषा की हानि होती है, उसी प्रकार उसे नई वस्तुओं का लाभ भी होता है। एक ओर कुछ अंगों और अंशों का विनाश है और दूसरी ओर नए रूपों और अर्थों का विकास होता है। यद्यपि हानि की अपेक्षा लाभ कम ध्यान में आता है तथापि प्राप्ति होती है। यह विचार करनेवालों को मालूम हो जाता है। उदाहरण के लिये ब्रेयल ने अव्यय कृदंत (Infinitive) कर्मवाच्य और क्रिया-विशेषणों के विकास को नई प्राप्ति माना है। क्रिया-रूपों में अव्यय कृदंत सबसे अधिक अर्वाचीन है। यह वास्तव में सबसे अधिक सामान्य रूप है जिसमें

६. नये लाभ

पुरुष, वचन, काल, वाच्य आदि किसी का बंधन नहीं रहता। इसी प्रकार कर्मवाच्य भी पीछे से आत्मनेपद के रूपों को लेकर आगे बढ़ा है। सभी भारोपीय भाषाओं में कर्मवाच्य का विकास पीछे से हुआ है।

क्रिया-विशेषण भी अभी हाल की चीज है। कोई भी संज्ञा अथवा विशेषण जब अव्यय बनकर विभक्तियाँ पहिनना छोड़ देता है, तब यह क्रियाविशेषण बन जाता है। यह तो हम लोगों के सामने भी हुआ करता है। जैसे चिरम्, अगत्या आदि। हिंदी, बँगला आदि में काल और परसर्ग भी अर्वाचीन संपत्ति है। संस्कृत में उपसर्ग भी धीरे धीरे संबंधवाचक अव्यय बने हैं।

जब कारणवश एक ही अर्थ के वाचक कई शब्द काम में आने लगते हैं तब स्वभावतः लोग कुछ रूपों की ओर विशेष रुचि दिखाते हैं।

८. अनुपयोगी रूपों का विनाश

कभी यह शब्दों के निजी मूल्य के कारण होता है और कभी व्यापार तथा व्यवहार के अनुरोध से भी ऐसा होता है कि कुछ शब्द अधिक प्रिय हो जाते हैं। किसी भी प्रकार हो, जब कुछ शब्द अथवा शब्दरूप अनुपयोगी हो जाते हैं तब आपसे आप उनका लोप होने लगता है और कभी कभी तो ऐसा होता है कि दो-तीन शब्द मिलकर एक शब्द की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में काम करते हैं, जैसे संस्कृत में देखना क्रिया के लिये वैदिक काल में दो धातुएँ थीं—स्पश् और दृश्। पीछे दोनों एक बन गई। अब 'पश्य' आदेश माना जाता है और केवल कुछ रूपों में उसका ग्रहण होता है और शेष कालों में दृश् के ही रूप चलते हैं। इसी प्रकार गच्छति, जगाम, अगमत् आदि की भी दशा है।

संस्कृत के सर्वनाम रूपों का भी पिछला इतिहास देखा जाय तो अहम्, आवाम्, वयम्, त्वं, युवाम्, सः, ते, तस्मात् आदि रूप भिन्न भिन्न प्रातिपदिकों से बने हैं। अब भूल जाने के कारण हम सातों विभक्तियों के रूप एक ही प्रकृति से मान लेते हैं। सः जिस शब्द से

बना है उसका सप्तमी और पंचमी में सस्मिन् और सस्मात् होता था; तस्मिन् और तस्मात् दूसरे शब्द के रूप थे पर पीछे से सस्मिन् के समान रूप अनुपयोगी हो गए और दूसरे रूप उनके स्थान में रख दिए गए।

यदि भारतीय आर्य भाषाओं की क्रिया का इतिहास देखें तो वहाँ यह विनाश की लीला और भी बढ़ी हुई है। जितने रूप वैदिक भाषा में हैं उतने परवर्ती लौकिक संस्कृत में नहीं हैं। जितने रूप संस्कृत में हैं उतने प्राकृत और अपभ्रंश में नहीं हैं। प्राचीन द्विवचन का लोप भी अनुपयोगी रूपों के विनाश का ही उदाहरण है।

संज्ञा शब्दों के रूपों के बारे में जब हम कई विभक्तियों में एकरूपता पाते हैं तो इसे भी विनाश का ही परिणाम समझना चाहिए।

[२]

पहले खंड में जिन नियमों की चर्चा हुई है उनके उदाहरणों पर विचार करने से प्रकट हो जाता है *कि उनमें अर्थ-प्रकाशन की प्रवृत्ति* ने रूपों और रूपमात्रो को जन्म दिया है, एक विशेष प्रकार की लोकबुद्धि ने अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिये उन शब्दों को संचालित किया है। अब इस खंड में हम शब्द के अर्थों के बढ़ने, घटने, मिटने आदि की व्याख्या करेंगे।

वे ही शब्द जो पहले अच्छे अर्थ में आते थे कारणवश बुरे अर्थ में आने लगते हैं और तब उनका वही मुख्यार्थ बन जाता है। उदाहरणार्थ पहले सत् और असत् का अर्थ था 'विद्यमान' और अविद्यमान'। उनमें पीछे से भले और बुरे का अर्थ आ गया। यही अर्थ हमारी हिंदी में भी आया है। इसी प्रकार 'इतर' का सामान्य अर्थ होता था 'दूसरा' पर अब उससे छोटेपन और अल्पज्ञता का भाव टपकता है।

१. अर्थापकर्ष

अतिशयोक्ति के कारण प्रायः शब्दों का जोर कम हो जाता है जैसे सत्तानाश, सर्वनाश, निर्जीव जीवन, विराट् सभा, प्रलयकारी दृश्य।

इन शब्दों का अक्षरार्थ नहीं प्रत्युत सामान्य अर्थ लिया जाता है अर्थात् उनका सच्चा बल अब कम हो गया है।

जिन अर्थों और भावों को समाज गोपनीय समझता है उनको प्रकट करनेवाले अच्छे शब्द भी अपना गौरव खो बैठते हैं, जैसे संस्कृत अथवा हिंदी में सहवास, प्रसंग, समागम आदि सामान्य अर्थ में आते हैं पर अब जनता में इनका संबंध कामशास्त्र से हो चला है। हिंदी में दोस्ती और यारी का अर्थ किस प्रकार पहले अच्छा था और अब बुरा हो गया है, सबको मालूम है। कहीं कहीं की बोलियों में शब्दों के बुरे अर्थ हो जाया करते हैं। जैसे गुरु और राजा साहित्यिक भाषा में ठीक माने जाते हैं पर बनारसी बोली में उनमें गुंडेपन की गंध आती है।

कुछ लोगों के पेशे ऐसे होते हैं जिनके कारण अच्छे शब्द ऊँचे से थोड़े नीचे आ जाते हैं जैसे महाजन, महाराज आदि। महाजन का सीधा अर्थ है बड़ा आदमी। यही अर्थ संस्कृत में था और हिंदी में भी हो सकता है पर रुपये देने-लेनेवाले भी ऐसे ही महाजन होते हैं, अतः अब उसका रूढ़ अर्थ संकुचित और छोटा हो गया है। अब महाजन का मुख्य अर्थ होता है लेन-देन करनेवाला धनी व्यापारी। इसी प्रकार महाराज का प्रयोग बड़े राजाओं अथवा मान्य ब्राह्मणों के लिये होता था, पर जब ब्राह्मणों ने रसोई बनाने का पेशा अपनाया तब यह नाम भी उन्हीं के साथ रसोइया का पर्याय बन गया। एक बात ध्यान देने की है कि इस प्रकार पेशे के कारण सभी भाषाओं और प्रांतों में शब्दों का पतन हुआ है। बंगाल का ठाकुर (=भगवान्), उड़ीसा का पुजारी, बिहार का बावाजी और युक्तप्रांत का महाराज सभी अब रसोइया के पर्याय हो गये हैं। एक दूसरा बड़ा चलता शब्द है भैया। युक्तप्रांत में इसका प्रयोग भाई के अर्थ में होता है पर दक्षिण-पश्चिम के गुजराती तथा महाराष्ट्र लोगों में भैया का अर्थ होता है हट्टा-कट्टा युक्तप्रांतीय नौकर। इसका कारण वही पेशेवाली बात है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि एक प्रांत से दूसरे प्रांत में जाने पर भी अनेक शब्दों का अर्थ बिगड़ जाता है।

जिस प्रकार प्रांत बदलने से अर्थ बदल जाता है उसी प्रकार एक भाषा से दूसरी भाषा में जाने पर भी कभी कभी अर्थ भ्रष्ट से हो जाते हैं; जैसे फारसी का खैरख्वाह शब्द हिन्दी और बँगला में अब कुछ नीच वृत्ति प्रकट करता है। चालाक और चालाकी शब्दों में भी इस प्रकार का छोटा भाव आ गया है।

सतत उपयोग के कारण भी शब्दों की शक्ति कम हो जाती है जैसे बाबू, महाराज, महाशय आदि। अब बाबू में वह बड़प्पन और जमींदारी का मूल अर्थ नहीं रह गया। अब तो वह अँगरेजी के मिस्टर और हिन्दी के श्रीयुत् के समान शिष्टाचार-वाचक हो गया। हिंदी के श्रीयुत और श्रीमान् शब्दों की भी यही दशा हुई है। बाबू शब्द के बारे में तो यहाँ तक भाव बदला है कि अब बाबूगिरी का अर्थ होता है छोटी नौकरी और आरामतलबी की वृत्ति।

'पाखंड' शब्द का इतिहास इस संबंध में बड़ा मनोरंजक होगा। अशोक ने कुछ ऐसे साधुओं को, जो बौद्ध नहीं थे, पाखंड कहा और उन्हें दक्षिणा भी दी। पर मनु ने पाखंड से बुरा अर्थ लिया है। वैष्णवों ने पाखंड से अवैष्णव का अर्थ लिया और उसके बाद पाखंड का अर्थ होने लगा नास्तिक, ढोंगी, कपटी। अब हिंदी, गुजराती आदि में पाखंडी इसी नीच अर्थ में आता है।

इसी अपकर्ष से मिलती-जुलती दूसरी बात यह है कि लोग कुछ अपवित्र, अशुभ और अप्रिय बातों का बुरापन कम करने के लिये सुंदर शब्दों का प्रयोग करते हैं और इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ गिरा देते हैं। जैसे शौच का अर्थ होता है पवित्रता और सफाई। पर अब शौच से निवृत्त होना, 'शौच जाना' आदि प्रयोगों में शौच का अर्थ होता है पाखाने जाना। मृत्यु के लिये स्वर्गवास, पंचत्वप्राप्ति, गंगालाभ, वैकुंठ-लाभ आदि शब्द प्रसिद्ध ही हैं।

२. अर्थापदेश

कभी कभी इसी कटुता को बचाने के लिये विपरीत भाव प्रकट करके अपना अर्थ स्पष्ट करते हैं। जैसे स्त्रियाँ कहती हैं कि चूड़ियाँ अधिक हो

गई है अर्थात् चावल नहीं है। भोजन करते समय लोग कहते हैं, चावल अधिक हो गया है अर्थात् दाल नहीं है। इसी प्रकार राजा के बीमार पड़ने पर लोग कहते हैं कि बादशाह के दुश्मनों की तबीयत अच्छी नहीं है।

अमंगल और अशुभ से बचने के लिये लोग दुकान बंद करने को दुकान बढ़ाना, चूड़ी उतारने या तोड़ने को चूड़ी बढ़ाना, दिया बुझाने को दिया बढ़ाना कहते हैं। ऐसे प्रयोग हिंदी में ही नहीं संस्कृत में भी होते हैं।

कभी कभी प्रथाओं के कारण भी घुमाव-फिराव के शब्दों का प्रयोग होने लगता है जैसे भारतीय स्त्रियाँ अपने पतियों का नाम नहीं लेतीं। यदि किसी स्त्री के पति का नाम है रूपनारायण तो वह रुपया के स्थान पर कलदार अथवा मुद्रा शब्द का प्रयोग करने लगती है।

धार्मिक भावना के कारण भी अनेक शब्दों के अर्थों में परिवर्तन आ जाता है, जैसे शीतला की कृपा, माता का आगमन, महारानी की दया आदि बीमारी के वाचक हैं।

अर्थापकर्ष का ठीक विपरीत कार्य है अर्थोत्कर्ष। पर जिस प्रकार जीवन में उत्कर्ष के उदाहरण कम मिलते हैं उसी प्रकार भाषा के शब्द-भांडार में भी अर्थोत्कर्ष के उदाहरण कम ही मिलते हैं। 'साहस' शब्द इसका बड़ा सुंदर उदाहरण है। संस्कृत में साहस का अर्थ होता था* हत्या, चोरी, व्यभिचार, कठोरता और झूठ, पर अब हिंदी, बँगला आदि में साहस का बड़ा ऊंचा और सराहनीय अर्थ हो गया है।

३. अर्थोत्कर्ष

'कपड़ा' शब्द दूसरा उत्कर्ष का उदाहरण है। संस्कृत के कर्पट और पाली के कप्पट का अर्थ होता था जीर्ण वस्त्र, पर अब तो उसका अर्थ बहुत ऊँचे पर आ गया है।

---

*संस्कृतवाले अर्थ के लिये देखिए—

मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम्।
पारुष्यमनृतं चेव साहसं पंचधा स्मृतम्॥

'मुग्ध' शब्द संस्कृत में सुंदर अथवा मूढ़ अर्थ देता था। (मुग्धस्तु सुंदरे मूढे); पर अब हिंदी और बँगला के मुग्ध में अच्छाई अच्छाई ही रह गई है, बुराई तनिक सी भी नहीं है। हिंदी में मुग्ध होने का अर्थ कितना उत्कृष्ट है।

४ अर्थ का मूर्तीकरण तथा अमूर्तीकरण

कभी एक शब्द का अमूर्त अर्थ मूर्त हो जाता है अर्थात् वह शब्द क्रिया, गुण अथवा भाव का बोधक न होकर किसी द्रव्य का वाचक हो जाता है; और कभी इसके विपरीत मूर्ति का अर्थ अमूर्त बन जाता है। देवता और जनता पहले प्रकार के उदाहरण हैं। जनता (जन + ता) और देवता (देव + ता) पहले भाववाचक थे पर पीछे उनका मूर्त अर्थ हो गया। अब संस्कृत और हिंदी दोनों ही में इनका भाववाचक अर्थ भूल गया है। इसी प्रकार जाति (=जन्म) और संतति (लगातार बढ़ते जाना, विस्तार) भी अमूर्त अर्थ के वाचक थे पर पीछे से ब्राह्मण जाति और तीन संतति आदि में मूर्त अर्थ आ गया। हिंदी के मिठाई और खटाई भाववाचक शब्द हैं पर पीछे से वे द्रव्य-वाचक हो गए।

दूसरे प्रकार की प्रक्रिया अर्थात् अमूर्त से मूर्त होने के उदाहरण हैं—कपाल और हृदय। ये दोनों शब्द मूर्त अंगों के वाचक थे। पर अब उनका लाक्षणिक प्रयोग भाग्य और भावुकता के अर्थ में होने लगा है। इसी प्रकार बड़ी छाती, बड़ा कलेजा आदि में भी साहस, दृढ़ता आदि के अर्थ आ गए हैं। खट्टा, मीठा, तीता आदि गुणवाचक शब्द हैं पर इनका प्रयोग द्रव्यवाचक के समान होता है, जैसे मुझे खट्टा मीठा और तीता तो सदा के लिये मना है।

शयन (बिछौना), भवन (घर), वसन (कपड़ा) आदि शब्द आज द्रव्यवाचक हैं पर पहले ये भाववाचक थे। अनट् प्रत्यय से बने भाववाचक शब्दों का मूर्तीकरण बहुत मिलता है।

प्राय: जब शब्द उत्पन्न होते हैं, उनमें बड़ी शक्ति होती है, उनका अर्थ भी बड़ा सामान्य और व्यापक होता है, पर दुनिया के व्यापारों

संतानों का अर्थ देने लगा। अंत में अब इस शब्द से यूरेशियन मात्र का बोध होता है। हिंदी और बँगला में फिरंगी से कभी कभी यूरोपियन मात्र का अर्थ भी ले लिया जाता है।

बँगला का 'मेये' शब्द भी बड़ा मनोरंजक है। पहले यह माई का पर्याय था। पर पीछे से मेये का अर्थ लड़की और स्त्री होने लगा। रानीगंज में तो मेये का 'पत्नी' अर्थ भी होता है। मेये लोक और मेये मानुस में मेये सामान्य अर्थ में आया है।

बड़े महत्त्व के व्यक्तिवाचक नाम भी जातिवाचक बन जाते हैं, जैसे—यहाँ तो कई 'कालिदास' बैठे हैं। अभी अनेकों 'गांधी' की आवश्यकता है।

एक लिंग के शब्द से दूसरे लिंग का भी बोध कराना तो साधारण बात है। जैसे—घोड़े से घोड़ा-घोड़ी दोनों का और बिल्ली से बिल्ला-बिल्ली दोनों का बोध होता है।

आलंकारिक प्रयोगों में अर्थ-विस्तार साधारण बात होती है, जैसे—सीधा पथ, सीधा वचन, सीधा मन, फल खाना, मार खाना, भय खाना, घूस खाना आदि। इसी ढंग के उदाहरणों में हम उन्हें भी ले सकते हैं जो एक इंद्रिय का गुण बताने के बाद दूसरी इंद्रियों के साथ भी आने लगते हैं, जैसे—मधुर स्वाद, मधुर शब्द, मधुर गंध, मधुर स्पर्श, मधुर गीत इत्यादि।

कभी कभी सादृश्य के कारण जब एक के अंग का दूसरे पर आरोप किया जाता है तब भी अर्थ का विस्तार हो जाता है, जैसे—घड़े की गर्दन, बोतल का गला, पतंग की पूँछ, नदी की गोद, आलू की आँख, अनानास की आँखें, कमल का उदर इत्यादि। इस प्रकार के उदाहरण संस्कृत हिंदी, बँगला, अँगरेजी आदि सभी भाषाओं में बहुत मिलते हैं।

जैसा प्रोफेसर ह्विटने ने कहा है, सभी प्रकार के अर्थ-विकार दो शीर्षकों के नीचे आ सकते हैं—साधारणीकरण और असाधारणीकरण

प्रयोगों में यह अर्थ विद्यमान है जैसे स्त्रीरत्न, नररत्न इत्यादि, पर अब रत्न का मुख्य अर्थ विशेष प्रकार का पत्थर हो गया है।

संबंधी शब्द तो संस्कृत में बड़ा व्यापक है पर हिंदी में आकर वह केवल 'नातेदार' का अर्थ देने लगा।

६. अर्थ-विस्तार

अर्थ-संकोच के विपरीत कार्य का नाम है अर्थ-विस्तार। उपाधियों और कुछ गुणों के आधार पर ही नाम रखे जाते हैं, पीछे से उन नामों का रूढ़ और संकुचित अर्थ सामने रह जाता है और यौगिक अर्थ भूल जाता है। ऐसी स्थिति में वह नाम आवश्यकता पड़ने पर विशेष से सामान्य की ओर बढ़ने लगता है। जैसे हिंदी में स्याही का मूल अर्थ है काली, पर अब उसका रूढ़ अर्थ हो गया है किसी भी प्रकार की लिखने की स्याही—जैसे काली स्याही, लाल स्याही, नीली स्याही इत्यादि। पहले जो शब्द मंगल अथवा प्रारंभ आदि के द्योतन के लिये सप्रयोजन लाया जाता है, वही पीछे से सामान्य अर्थ का वाचक बन जाता है, जैसे श्रीगणेश, बिस्मिल्ला आदि आज केवल ग्रंथों तथा पूजनों में ही नहीं, सभी कामों में प्रयुक्त होने लगे हैं। अब श्रीगणेश का रूढ़ अर्थ है प्रारंभ। इसी प्रकार 'इति श्री' का भी अर्थ-विस्तार हुआ है। अब इसका अर्थ होता है समाप्ति।

बहुत से व्यक्तिवाचक नाम ऐसे होते हैं जो अपने गुणों के कारण जनता में जातिवाचक बन जाते हैं जैसे गंगा, लंका आदि। आज कोई भी पवित्र नदी भारत में गंगा के नाम से पुकारी जाती है। उत्तराखंड के पहाड़ों पर बीसों गंगा हैं। दक्षिणापथ की गोदावरी, कृष्णा आदि भी यात्रियों तथा तटवासियों द्वारा गंगा ही कही जाती हैं। अधिक स्पष्टता के लिये वे गोदावरी गंगा के समान नामों का व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार किसी गाँव की दूरी का बोध कराने के लिये लंका का प्रयोग किया जाता है। 'अरे वह तो लंका के छोर पर रहता है।'

'फिरंगी' शब्द में भी अर्थ-विस्तार का सुंदर उदाहरण है। पहले यह पुर्तगाली डाकू के लिये आता था। पीछे उनकी वर्णसंकर

में पड़कर वे संकुचित हो जाते हैं। इस संकोच की सविस्तर कथा लिखी जाय तो अर्थ-विचार का बड़ा मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद अंग तैयार हो जाय। ब्रेअल ने तो लिखा है कि जो लोग जितने ही अधिक सभ्य हैं, उनकी भाषा में उतना ही अर्थ-संकोच पाया जाता है। एक ही गोली शब्द के सिपाही, वैद्य, दरजी, खिलाड़ी आदि भिन्न भिन्न व्यक्तियों के साथ भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। प्रायः व्यवसायी और व्यापारी सदा सामान्य और यौगिक शब्दों से ही अपना काम लेते हैं पर पीछे उनका अर्थ संकुचित हो जाता है। जैसे खोलाई, भराई आदि जब चित्रकार के मुख से निकलते हैं तो उनका विशेष और संकुचित अर्थ होता है।

५. अर्थ-संकोच

पहले जो शब्द पूरी जाति के वाचक थे पीछे वे एक वर्गमात्र के बोधक हो जाते हैं, जैसे—संस्कृत का मृग शब्द ऋग्वेद में पशु मात्र का वाचक था (देखिए—मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः)। अभी तक मृगराज शब्द का पशुराज अर्थ होता है। पर पीछे से मृग का अर्थ हो गया केवल हरिण। अँगरेजी के डीयर (deer) शब्द की भी ऐसी ही कहानी है। फारसी के मुर्ग शब्द का अर्थ होता है पक्षी मात्र, पर अब बँगला, हिंदी आदि में मुर्गा से केवल एक पक्षी का बोध होता है। अबला शब्द भी इसी प्रकार का है। पर इससे अब केवल स्त्री का बोध होता है।

पहले प्रायः सभी वस्तुओं के सामान्य नाम थे। पीछे संकोच बढ़ते बढ़ते आज वे विशेष और रूढ़ शब्द बन गए हैं। धान्य का पहले अर्थ था सामान्य धन। पीछे धान्य का अर्थ हुआ अन्न और अब हिंदी में धान का अर्थ होता है केवल चावल और वह भी बिना कूटा बनाया चावल। पहले अन्न का अर्थ होता था कोई खाद्य पदार्थ पर अब तो अन्न, फल, कंद और दूध आदि में भी भेद किया जाता है। घास शब्द का ही मूल अर्थ है 'जो कुछ चरा जाय और खाया जाय'। 'वन' शब्द की भी कहानी संकोच की ही कथा है। पहले किसी भी 'वन' को—सुंदर वन को वन कहते थे। आज भी लाक्षणिक

प्रयोगों में यह अर्थ विद्यमान है जैसे स्त्रीरत्न, नररत्न इत्यादि, पर अब रत्न का मुख्य अर्थ विशेष प्रकार का पत्थर हो गया है।

संबंधी शब्द तो संस्कृत में बड़ा व्यापक है पर हिंदी में आकर वह केवल 'नातेदार' का अर्थ देने लगा।

६. अर्थ-विस्तार

अर्थ-संकोच के विपरीत कार्य का नाम है अर्थ-विस्तार। उपाधियों और कुछ गुणों के आधार पर ही नाम रखे जाते हैं, पीछे से उन नामों का रूढ़ और संकुचित अर्थ सामने रह जाता है और यौगिक अर्थ भूल जाता है। ऐसी स्थिति में वह नाम आवश्यकता पड़ने पर विशेष से सामान्य की ओर बढ़ने लगता है। जैसे हिंदी में स्याही का मूल अर्थ है काली, पर अब उसका रूढ़ अर्थ हो गया है किसी भी प्रकार की लिखने की स्याही—जैसे काली स्याही, लाल स्याही, नीली स्याही इत्यादि। पहले जो शब्द मंगल अथवा प्रारंभ आदि के द्योतन के लिये सप्रयोजन लाया जाता है, वही पीछे से सामान्य अर्थ का वाचक बन जाता है, जैसे श्रीगणेश, बिस्मिल्ला आदि आज केवल ग्रंथों तथा पूजनों में ही नहीं, सभी कामों में प्रयुक्त होने लगे हैं। अब श्रीगणेश का रूढ़ अर्थ है प्रारंभ। इसी प्रकार 'इति श्री' का भी अर्थ-विस्तार हुआ है। अब इसका अर्थ होता है समाप्ति।

बहुत से व्यक्तिवाचक नाम ऐसे होते हैं जो अपने गुणों के कारण जनता में जातिवाचक बन जाते हैं जैसे गंगा, लंका आदि। आज कोई भी पवित्र नदी भारत में गंगा के नाम से पुकारी जाती है। उत्तराखंड के पहाड़ों पर बीसों गंगा हैं। दक्षिणापथ की गोदावरी, कृष्णा आदि भी यात्रियों तथा तटवासियों द्वारा गंगा ही कही जाती हैं। अधिक स्पष्टता के लिये वे गोदावरी गंगा के समान नामों का व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार किसी गाँव की दूरी का बोध कराने के लिये लंका का प्रयोग किया जाता है। 'अरे वह तो लंका के छोर पर रहता है।'

'फिरंगी' शब्द में भी अर्थ-विस्तार का सुंदर उदाहरण है। पहले यह पुर्तगाली डाकू के लिये आता था। पीछे उनकी वर्णसंकर

संतानों का अर्थ देने लगा। अंत में अब इस शब्द से यूरेशियन मात्र का बोध होता है। हिंदी और बँगला में फिरंगी से कभी कभी यूरोपियन मात्र का अर्थ भी ले लिया जाता है।

बँगला का 'मेये' शब्द भी बड़ा मनोरंजक है। पहले यह माई का पर्याय था। पर पीछे से मेये का अर्थ लड़की और स्त्री होने लगा। रानीगंज में तो मेये का 'पत्नी' अर्थ भी होता है। मेये लोक और मेये मानुस में मेये सामान्य अर्थ में आया है।

बड़े महत्त्व के व्यक्तिवाचक नाम भी जातिवाचक बन जाते हैं, जैसे—यहाँ तो कई 'कालिदास' बैठे हैं। अभी अनेकों 'गांधी' की आवश्यकता है।

एक लिंग के शब्द से दूसरे लिंग का भी बोध कराना तो साधारण बात है। जैसे—घोड़े से घोड़ा-घोड़ी दोनों का और बिल्ली से बिल्ला-बिल्ली दोनों का बोध होता है।

आलंकारिक प्रयोगों में अर्थ-विस्तार साधारण बात होती है, जैसे—सीधा पथ, सीधा वचन, सीधा मन, फल खाना, मार खाना, भय खाना, घूस खाना आदि। इसी ढंग के उदाहरणों में हम उन्हें भी ले सकते हैं जो एक इंद्रिय का गुण बताने के बाद दूसरी इंद्रियों के साथ भी आने लगते हैं, जैसे—मधुर स्वाद, मधुर शब्द, मधुर गंध, मधुर स्पर्श, मधुर गीत इत्यादि।

कभी कभी सादृश्य के कारण जब एक के अंग का दूसरे पर आरोप किया जाता है तब भी अर्थ का विस्तार हो जाता है, जैसे—घड़े की गर्दन, बोतल का गला, पतंग की पूँछ, नदी की गोद, आलू की आँख, अनानास की आँखें, कमल का उदर इत्यादि। इस प्रकार के उदाहरण संस्कृत हिंदी, बँगला, अँगरेजी आदि सभी भाषाओं में बहुत मिलते हैं।

जैसा प्रोफेसर ह्विटने ने कहा है, सभी प्रकार के अर्थ-विकार दो शीर्षकों के नीचे आ सकते हैं—साधारणीकरण और असाधारणीकरण

(सामान्य भाव और विशेष भाव)। उपचार दोनों ही अवस्थाओं में काम करता है।

सच पूछा जाय तो सभी अर्थ-विकार उपचार के अंतर्गत आ जाते हैं और पीछे जो उदाहरण आए हैं वे भी उपचार के ही उदाहरण हैं। उपचार और संसर्ग—इन्हीं दो की व्याख्या में पूरा अर्थ-विचार आ जाता है तो भी हम यहाँ कुछ ऐसे उदाहरण चुनेंगे जो पिछले कार्यों में न आए हों।

मुख्यार्थ बोध होने पर और देश, काल अथवा अन्य किसी कारण से संबद्ध होने पर ही उपचार की क्रिया होती है। उपचार के उदाहरण तो सभी साहित्य के विद्यार्थी जानते हैं। किसे लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण न मालूम होंगे? अत: हम दो ही चार उदाहरण देंगे।

(१) चोटी और दाढ़ी का मेल होना कठिन है क्योंकि अब धर्म ही नहीं इसमें राजनीति भी घुस पड़ी है। यहाँ चोटी से हिंदू और दाढ़ी से मुसलमान का ग्रहण हुआ है। इस प्रकार एक अंग से पूरे अंगी का ग्रहण हुआ है।

(२) लेखक और रचयिता के नाम से ही उसकी सारी कृतियों का बोध हो जाता है। हिंदी के विद्यार्थी को बंकिम, नवीन, रवींद्र, शरद आदि को पढ़ना उतना ही आवश्यक है जितना भारतेंदु, प्रसाद और मैथिलीशरण को।

(३) विशेष ध्यान में आनेवाला बाह्य लक्षण भी कभी कभी पूरी वस्तु के लिये उपचरित होता है। जैसे, हम लाल पगड़ी से सिपाही का और सफेद पगड़ी से पारसी लोगों के पुरोहित का अर्थ लेते हैं।

(४) कभी कभी जिस चीज से वह वस्तु बनी रहती है उसी का नाम चल पड़ता है, जैसे तार से अब केवल द्रव्य का ही नहीं, उस प्रकार के समाचार भेजने का अर्थ लिया जाता है।

(५) कुछ शब्दों में भ्रम के कारण भी उपचार होता है, जैसे संस्कृत के अवकाश से हिंदी और बँगला में विश्राम समय का बोध होने लगा

है। वास्तव में अवकाश का अर्थ होता है देश, पर अब देश से वह शब्द काल तक पहुँच गया।

सच पूछा जाय तो रूपक उपचार के भीतर ही आ जाते हैं, तो भी उनमें कुछ विशेषता होने के कारण उन्हें लोग अलग गिनते हैं।

७. रूपक

अन्य उपचार के कारण धीरे धीरे काम करते हैं पर रूपक उसी क्षण इस तेजी से काम करता है कि हमारा ध्यान एकदम उस ओर खिंच जाता है। उदाहरण के लिये—पंजाब का सिंह अभी जीवित है। वह गदहा कहाँ गया? उस साँपिन से सभी डरते हैं। आज कमल मुरझाया क्यों है?

जब एक शब्द दूसरे अर्थ में आने लगता है तब यह आवश्यक नहीं होता कि पहला अर्थ मिट ही जाय। इस प्रकार एक शब्द का

८. अनेकार्थता

कभी कभी बहुत से अर्थों में व्यवहार होने लगता है। यह भी लक्षण और उपचार के अंतर्गत आता है पर अध्ययन की सुविधा के लिये उसके उदाहरण अलग दिए जाते हैं—

(१) 'मूल' शब्द दर्शन, गणित, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, भाषा-विज्ञान आदि में भिन्न भिन्न अर्थ देता है।

(२) 'धातु' भी व्याकरण, वैद्यक, खनिजशास्त्र आदि में भिन्न भिन्न अर्थों में आता है। बौद्ध लोग दंतधातु से बुद्ध के स्मारक का अर्थ लेते हैं।

(३) योग भी दर्शन, गणित, व्यायाम आदि में भिन्न भिन्न अर्थ रखता है।

कभी कभी संक्षेप की प्रवृत्ति शब्द को अनेकार्थक बना देती है जैसे कांग्रेस, सभा आदि। अमेरिकावाला कांग्रेस से अपनी व्यवस्था-

अनेकार्थता का एक कारण

पिका का, यूरोपियन इतिहासज्ञ वियेना की कांग्रेस का और हिंदुस्तानी अपनी राष्ट्रीय सभा का अर्थ लेता है। इसी प्रकार काशी में सभा कहने से साहित्यिक नागरी प्रचारिणी सभा का, पंडित लोग दक्षिणावाली सभा का और व्याख्यानवाले व्याख्यानवाली सभा का अर्थ लेते हैं।

प्रत्येक भाषा में कुछ ऐसे शब्द-समूह प्रयुक्त होते हैं जिनको हम चाहें तो नित्य समास कह सकते हैं। अर्थात् विग्रह करने पर उनका अर्थ ही बदल जाता है। जैसे अध्यापक बच्चों को पढ़ाने के पूर्व कहवाते हैं 'ओना मासी धम्'। यह एक एकोच्चरित समूह है। इसका पहला रूप था ॐ नमः सिद्धम्। पर आज-कल प्रायः कोई भी इसको नहीं समझता, केवल मंगल के लिये इस पद-समूह का व्यवहार होता है।

९. एकोच्चरित समूह

प्रशस्तियों और सिरनामों में भी ऐसे समूहों के उदाहरण मिलते हैं 'सिद्ध श्री सर्वोपरि विराजमान राज-राजेश्वर' इत्यादि इत्यादि अथवा 'अत्र कुशलं तत्रास्तु' 'शेष शुभम्' आदि। बहुतसी कहावतें भी इसके उदाहरण हैं जैसे 'घर के न घाट के'।

रूपविचार में हम प्रत्ययविधि और समासविधि का विचार कर चुके हैं, पर वास्तव में समास का अर्थ-विचार से अधिक संबंध है। अर्थ ही समास का कारण होता है और वही उसके रूप की व्यवस्था करता है। संस्कृत में तो अर्थ की दृष्टि से ही समास के नित्य, अनित्य आदि अनेक भेद किए जाते हैं। अव्ययीभाव, द्वंद्व, तत्पुरुष, बहुव्रीहि आदि का अर्थ-विचार की दृष्टि से बड़ा सुंदर अध्ययन होता है। यहाँ हम तत्सम उदाहरणों को नहीं देते हैं, केवल कुछ तद्भव शब्दों को उद्धृत कर देते हैं। विशेष अध्ययन के लिये कोई भी विद्यार्थी व्याकरण लेकर सविस्तर विचार कर सकता है।—

१०. समास

चीर-फाड़, दौड़-धूप, आदमी-जन, देख-भाल। लपक-झपक, हलचल, धर-पकड़, मुँहमुदा दिन, हायपेट, जीतोड़ परिश्रम, कलमुँहा, कच्छलंपट, मुँहमाँगा, परकटा, नकटा, बदरफट घाम, मुँहफट, मुँहदेखी, बदमिजाज, पेटपोछना, घरघुसना, बोड़मुँहा, सस्तमुल्ला, मिठबोला, हाथउधरा, दियासलाई, मरभुखा, मुछमुंडा, कामचोर, बाँस का फाटक, राजादरवाजा, बड़ेगाँव, आए दिन, मनभाया, मनभावती गंजोड़ा इत्यादि।

यह प्रकरण सबसे अधिक महत्त्व का है। यदि पूर्ण रूप से अध्ययन किया जाय तो नामकरण के भीतर शब्दशक्ति का पूरा विचार आ जाता है। कोई नाम किसी वस्तु के लिये कैसे चला अर्थात् उसमें वह संकेतग्रह कैसे होने लगा? फिर उस नाम की शक्ति कैसे घटी अथवा बढ़ी? इत्यादि बातों का विचार नामकरण में अवश्य आना चाहिए। इन सबका पूरा उत्तर देने के लिये वाचक, लक्षक, व्यंजक, वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य आदि सभी की व्याख्या करनी पड़ेगी तभी इस विषय का शास्त्रीय विवेचन हो सकेगा। इस अध्ययन के दो मुख्य ढंग हैं, एक तो पहले संकेतग्रह और शाब्दबोध पर विचार करके यह निश्चय करना कि कैसे द्रव्य, गुण, क्रिया और व्यक्ति इन चारों भेदों के नाम बँट जाते हैं और फिर किस प्रकार पहले एक सामान्य अर्थ होता है, तब मुख्य अर्थ स्थिर होता है, तब उससे आगे लक्ष्य, व्यंग्य, तात्पर्य आदि की उत्पत्ति होती है। इस व्यवस्थित अध्ययन से साहित्य का मर्म समझ में आ जाता है। और दूसरी विधि है बहिरंग परीक्षा की। कुछ संज्ञाओं और नामों को लेकर उनकी उत्पत्ति तथा व्याख्या करना अधिक सरल और मनोरंजक होता है। पहले ढंग से भारतवर्ष के शब्द-शक्तिवालों ने अध्ययन किया है और दूसरे ढंग से ब्रेअल आदि आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने लिखा-पढ़ा है। हम पहले शब्द-शक्ति का संक्षेप में वर्णन करके तब शब्दों की बहिरंग परीक्षा के संबंध में कहेंगे।

११. नामकरण

साधारणतया लोग वाक्य के अल्पतम सार्थक अवयव को शब्द कहते हैं। संस्कृत शब्दानुशासन के कर्त्ता पतंजलि से लेकर आज तक के देश-भाषाओं के वैयाकरण शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार करते हैं; कई आचार्यों ने शब्द को वाणी, भाषा अथवा वाक्य सामान्य का उपलक्षण भी माना है अर्थात् वाक्य और शब्द दोनों के अर्थ में 'शब्द' का प्रयोग किया है। शब्द-शक्ति के प्रकरण में भी शब्द का वैसा ही व्यावहारिक तथा व्यापक अर्थ लिया जाता है; अन्यथा अक्षर से लेकर पद, वाक्य तथा महावाक्य तक की शक्तियों का अंतर्भाव

शब्द और इसके भेद

शब्द-शक्ति में न हो पाता। शब्द तीन प्रकार के होते हैं—वाचक, लक्षक तथा व्यंजक। मुख्य और प्रसिद्ध अर्थ को सीधे सीधे कहनेवाला शब्द वाचक कहलाता है। लक्षक अथवा लाक्षणिक शब्द बात को लखा भर देता है, अभिप्रेत अर्थ को लक्षित मात्र करता है; और व्यंजक शब्द (मुख्य अथवा लक्ष्य अर्थ के अतिरिक्त) एक तीसरी बात की व्यंजना करता है; उससे प्रकरण, देश, काल आदि के अनुसार एक अनोखी ध्वनि निकलती है। उदाहरणार्थ यह मेरा घर है—इस वाक्य में घर शब्द वाचक है, अपने प्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पर सारा घर खेल देखने गया है—इस वाक्य में 'घर' उसमें रहनेवालों का लक्षक है अर्थात् यहाँ घर शब्द लाक्षणिक है। और यदि कोई अपने ऑफिसर मित्र से बात करते करते कह उठता है, 'यह घर है, खुलकर बातें करो।' तब 'घर' कहने से यह ध्वनि निकलती है कि यह ऑफिस नहीं है। यहाँ घर शब्द व्यंजक है।

शब्द-शक्ति का स्वरूप

इन सभी प्रकार के शब्दों का अपने अपने अर्थ से एक संबंध रहता है। उसी संबंध के बल से प्रत्येक शब्द अपने अपने अर्थ का बोध कराता है। बिना संबंध का शब्द अर्थहीन होता है उसमें किसी भी अर्थ के बोध कराने की शक्ति नहीं रहती। संबंध उसे अर्थवान् बनाता है, उसमें शक्ति का संचार करता है। संबंध का शक्ति से ही शब्द इस अर्थमय जगत् का शासन करता है, लोकेच्छा का संकेत पाकर चाहे जिस अर्थ को अपना लेता है, चाहे जिस अर्थ को छोड़ देता है। इसी संबंध-शक्ति के घटने-बढ़ने से उसके अर्थ की ह्रास-वृद्धि होती है। इसी संबंध के भाव अथवा अभाव से उसका जन्म अथवा मरण होता है। अर्थात् संबंध ही शब्द की शक्ति है, संबंध ही शब्द का प्राण है। इसी से शब्दतत्त्व के जानकारों ने कहा है 'शब्दार्थ संबंधः शक्तिः' अर्थात् शब्द और अर्थ के संबंध का नाम शक्ति है।

शब्द और अर्थ के इस संबंध को किसी किसी आचार्य ने 'वृत्ति' और किसी किसी ने 'व्यापार' नाम दिया है, इससे शब्दार्थ-स्वरूप के

प्रकरण में सामान्यतया शब्दार्थ संबंध, शब्द-शक्ति, शब्दवृत्ति और शब्द-व्यापार का अभेद से व्यवहार किया जाता है पर प्रत्येक नाम में अपना निरालापन है। शक्ति में बल और ओज है, वृत्ति में आश्रित रहने का भाव है, व्यापार में क्रिया और उत्पादना की ओर झुकाव है 'कारण' जिसके द्वारा कार्य करता है उसे 'व्यापार' कहते हैं। घड़े के बनाने में कुंभकार, मिट्टी, चाक आदि कारण हैं। चाक का घूमना, कुंभकार का उसे घुमाना आदि व्यापार है। घड़ा कार्य है। इसी प्रकार शब्द से अर्थ का बोध कराने में शब्द 'कारण' होता है, अर्थ-बोध कार्य और शब्द-शक्ति कारण का व्यापार है।

शक्ति के अन्य पर्याय-वाची शब्द

वैयाकरण वास्तविक शक्ति के व्यावहारिक रूप की चार कलाएँ मानते हैं—दिक्, काल, साधन और क्रिया। दिक् में भूगोलशास्त्रीय दृष्टि से शब्द-शक्ति का समावेश होता है। 'काल' की लीला इतिहास में देखने को मिलती है। शब्द में कालवश शक्ति का ह्रास तथा उपचय हुआ करता है। भाषा-शास्त्रियों के विचार में शब्द-शक्ति पर भूगोल और इतिहास का प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है। साधन का अर्थ वह शक्ति है जिसके द्वारा कोई भी वस्तु अपना व्यापार सिद्ध करती है। कारक इसी लिये साधन के अंतर्गत आ जाते हैं; क्योंकि शब्द की इसी शक्ति के द्वारा वाक्य की क्रिया निष्पन्न होती है। साधन का इतना व्यापक अर्थ मानने पर प्रश्न उठता है कि क्रिया का क्या अर्थ है। क्रिया से यहाँ आलंकारिकों के शब्द-व्यापार का अभिप्राय है। साधन और क्रिया (व्यापार) में अंतर स्पष्ट है। साधन के द्वारा वाक्य की क्रिया (अर्थात् धात्वर्थ) निष्पन्न होती है—वह वाक्य के प्रत्येक शब्द को आपस में संबद्ध कर देती है, पर व्यापार-रूप क्रिया द्वारा शब्द अपने अर्थ से संबद्ध होता है। साधन एक शब्द को दूसरे शब्द से जोड़ता है, क्रिया (अथवा व्यापार) शब्द को उसके ही अर्थ से जोड़ती है। यद्यपि दोनों शब्द की ही शक्ति हैं पर एक बहिरंग है, दूसरी अंतरंग। इस प्रकार क्रिया का अर्थ एक शब्द-भेद नहीं रह जाता। क्रिया से यहाँ शब्द की अर्थ-बोध कराने की

क्रिया का बोध होता है। शब्दार्थ-समीक्षा की दृष्टि से इसी शब्द-क्रिया अर्थात् शब्द-व्यापार का प्राधान्य रहता है।

शक्ति के इस व्यावहारिक स्वरूप की व्याख्या करने के लिये उससे संबद्ध शब्द और अर्थ—दोनों की ही आंशिक व्याख्या करनी पड़ती है। अतः शब्द-शक्तियों का—अर्थात् अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना को—और उन शक्तियों के आश्रयभूत वाचक, लक्षक तथा व्यंजक तीनों प्रकार के शब्दों को अपना प्रधान विषय बनाता है। शब्द की व्याख्या में थोड़ी अर्थ की भी व्याख्या आ ही जाती है। अर्थ के लिये ही तो शब्द व्यापार करता है।

शास्त्रीय ढंग से सूत्र-रूप में कहें तो साक्षात् संकेतित अर्थ को कहनेवाला शब्द वाचक कहलाता है। साधारणतया व्यवहार में देखा जाता है कि लोगों में जो 'संकेत' अथवा 'समय' प्रचलित रहता है उसी के सहारे शब्द अपने अर्थ का बोध कराता है अर्थात् केवल शब्द से श्रोता को अर्थ का बोध नहीं हो सकता। किसी अनभिज्ञ से यदि कहा जाय कि 'गाय लाओ' तो वह इस वाक्य से क्या समझ सकता है? उसके लिये इन शब्दों में कोई अर्थ ही नहीं है। वह जानता ही नहीं कि इन शब्दों से किस अर्थ की ओर संकेत किया गया है। पर वही मनुष्य किसी जानकार को कहते सुनता है कि 'गाय लाओ' और देखता है कि दूसरा गाय ले आता है। इन दोनों के इस व्यवहार को देखकर वह वाक्य का अर्थ समझ लेता है। इसी प्रकार व्यवहार से वह 'गाय बाँधो', 'घोड़ा लाओ' आदि वाक्यों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। कुछ वाक्यों का ज्ञान हो जाने पर वह अपनी अन्वय-व्यतिरेकवाली बुद्धि से 'गाय' और 'लाओ' आदि को पृथक् पृथक् समझने लगता है। पहली बार उसने वाक्य का अर्थ तो समझ लिया था पर उसका व्याकरण न समझ सका था। धीरे धीरे 'गाय' शब्द को कई अन्य शब्दों के साथ उसी व्यक्ति का अर्थ-बोध कराते हुए देखकर उसका अर्थ समझ लिया, अर्थात् यह जान लिया कि गाय शब्द का किस वस्तु-विशेष में संकेत है। इसी प्रकार 'लाओ' क्रिया का

वाचक शब्द

कई वाक्यों में अन्वय देखकर व्यतिरेक द्वारा उसका भी संकेत समझ लेता है। अब संकेत ज्ञान हो जाने से वे ही शब्द उसे अर्थ का बोध कराने लगते हैं।

बालक की भाषा सीखने की प्रक्रिया पर ध्यान देने से संकेत ज्ञान की बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। एक सयाना आदमी कहता है—'गाय लाओ'। दूसरा उसके आज्ञानुसार गाय ले आता है। बालक यह सब देख-सुनकर उस वाक्य का अर्थ समझ जाता है। आगे चलकर 'गाय बाँधो' 'घोड़ा लाओ' आदि वाक्य भी वह अपने बड़े-बूढ़ों के व्यवहार को देखकर समझने लगता है। तब कहीं उसकी अन्वय व्यतिरेक द्वारा सोचने की सहज प्रवृत्ति 'गाय' और 'लाओ' का अवयवार्थ समझा देती है। पहले बालक व्यवहार से पूरे वाक्य का अर्थ समझता है। फिर धीरे धीरे व्यवहार से ही वह अलग अलग शब्दों का अर्थ समझने लगता है, अर्थात् उसे इस बात का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि किस शब्द का किस अर्थ में संकेत है।

व्यवहार द्वारा संकेत-ग्रह

जब बालक व्यवहार से कुछ शब्द समझने लगता है, गुरुजन उसे बहुत से शब्द व्यवहार के बाहर के भी समझा देते हैं। वह उन्हें चुपचाप मान लेता है। आप्त पुरुष बच्चे को एक पदार्थ दिखाता है—और कहता है यह पुस्तक है। बालक इस शब्द के संकेत को झटपट समझ जाता है। आगे चलकर बालक व्याकरण पढ़ता है; प्रकृति, प्रत्यय आदि का ज्ञान अर्जन करता है। अनेक शब्दों को तथा शब्दों के अनेक रूपों को सहज ही समझने लगता है। कुछ शब्दों का अर्थ वह उपमान के बल से लगा लेता है। वह गाय पहचानता है तो 'गवय' की बात सुनकर उसको गाय जैसा एक पशु समझ लेता है। वह मनुष्य का अर्थ व्यवहार से सीख चुका है। इस-लिये उपमान की सहायता से वह देव, यक्ष आदि योनियों की भी कल्पना कर लेता है। एक देव शब्द के सुर, अमर आदि अनेक पर्याय वह कोश से सीख लेता है। संदेह होने पर वह वाक्य-शेष से संकेत-निर्णय

संकेत के अन्य गत ग्राहक

करता है। गंगा शब्द का संकेत नदी और लड़की दोनों में है, पर जब इस शब्द का वाक्य में प्रयोग होता है तब दूसरे शब्दों से इसका भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'गंगा की धारा में आज कितना वेग है',— इस वाक्य का गंगा शब्द स्पष्टतया नदी-वाचक है। 'यव' का अर्थ 'जव' भी होता है और 'कंगुनी' का चावल भी। वाक्यशेष अर्थात् प्रसंग से इसका भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है। आर्य लोगों के प्रसंग में यव का अर्थ 'जव' होता है, पर म्लेच्छ लोग 'यव' से कंगुनी का चावल समझते हैं। कुछ शब्द समझे हुए शब्दों के साथ आने से अनायास ही समझ में आ जाते हैं। जैसे 'वसंते पिक: कूजति'—वसंत में पिक बोल रही है— इस वाक्य में पिक शब्द दूसरी भाषा[1] का है पर पाठक 'वसंत में बोलती है'—इतना अर्थ समझ लेने पर पिक शब्द का भी अर्थ लगा लेता है। 'मधुप कमल पर मँडरा रहे हैं' इस वाक्य के 'मधुप' शब्द को कमल आदि शब्दों को समझनेवाला सहज ही समझ लेता है। इस प्रकार सिद्ध पदों की सन्निधि से बालक बहुत से शब्दों का संकेत-ज्ञान कर लेता है। इतने पर भी जो शब्द समझ में नहीं आते उन्हें स्पष्ट करने के लिये वह विवृति की सहायता लेता है। व्याख्या देशी-विदेशी सभी भाषाओं के शब्द स्पष्ट कर देती है। यदि बालक रसाल शब्द नहीं समझता तो शिक्षक या तो रसाल के रूप-रंग की व्याख्या करके उसका अर्थ समझा देता है अथवा रसाल का ऐसा पर्यायवाची शब्द बताता है जो विद्यार्थी को पहले से ज्ञात हो। उसी भाषा में अथवा दूसरी परिचित भाषा में अनुवाद करके समझाने का ही नाम विवृति है।

विचार करने पर अन्य सभी संकेत के ग्राहक व्यवहार में अंतर्भूत हो जाते हैं। व्यवहार से बालक सभी शब्द सीख सकता है; पर अपनी

---

(१) 'पिक' शब्द संस्कृत में दूसरी भाषा से आया है। ऐसे अन्य शब्दों का भी मीमांसा-सूत्र के शाबरभाष्य में उल्लेख मिलता है।

आँखों से देखने सुनने में बड़ा समय लगता है। थोड़े वर्षों का छोटा सा जीवन संसार की असंख्य वस्तुओं का कैसे अनुभव कर सकता है? इसी से ऐसे उपायों से काम लेना पड़ता है जिनसे अधिक से अधिक शब्द कम से कम समय में सीखे जा सकें। कोष, व्याकरण, उपमान आप्तोपदेश, वाक्य-शेष, विवृति, सन्निधि ये सातों संकेत के ग्राहक ऐसे ही उपाय हैं। यद्यपि व्यवहार संकेत के ग्राहकों में शिरोमणि है तथापि इन अन्य उपायों का भी संकेत-ग्रह के लिये कम महत्त्व नहीं।

व्यवहार संकेत-ग्राहकों में प्रधान है

इस प्रकार इन व्यवहारादि-ग्राहकों द्वारा संकेत का ज्ञान हो जाने पर ही शब्द बोध होता है अर्थात् संकेत की सहायता से ही शब्द द्वारा अर्थ-बोध होता है। अतः प्रत्येक अर्थ में संकेत का होना स्वयसिद्ध सा है। किसी में साक्षात् संकेत रहता है और किसी में असाक्षात् संकेत जिस अर्थ से जिस शब्द का संबंध लोगों में प्रसिद्ध है उस अर्थ में उस शब्द का सीधा साक्षात् संकेत रहता है; जैसे 'बैल', गाड़ी खींच रहा है—इस वाक्य में बैल शब्द का अर्थ में साक्षात् संकेत है। पर जब कभी कोई शब्द प्रयोजन-वश किसी अप्रसिद्ध अर्थ से संबंध जोड़ लेता है, उसका संकेत साक्षात् नहीं रह जाता। उस शब्द का एक प्रसिद्ध अर्थ में संकेत रहता है अतः दूसरे अर्थ में उसका संकेत उस प्रसिद्ध अर्थ की परंपरा में से होकर आता है; जैसे यह लड़का बैल है—इस वाक्य में बैल शब्द का संकेत 'बैल' में न होकर बैल के सादृश्य में है। बैल शब्द का संकेत मुख्य अर्थ में होकर दूसरे अर्थ में पहुँचता है। अतः बैल शब्द का 'पशु' में साक्षात्संकेत है और दूसरे के अर्थ में असाक्षात्संकेत। साक्षात्संकेतित अर्थवाले शब्द को वाचक कहते हैं; इसमें पहले वाक्य का बैल शब्द वाचक है, दूसरे वाक्य का नहीं। यह वाचक शब्द जिस शक्ति के द्वारा अपने अर्थ का बोध कराता है उसे अभिधा कहते हैं।

वाचक शब्द से अर्थ-बोध कैसे होता है? इस प्रश्न को समझने के लिये संकेत का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है। संकेत क्या है? संकेत का

ज्ञान कैसे होता है? संकेत कैसे बनता है? संकेत से ग्राह्य क्या है? संकेत किनमें होता है अर्थात् संकेत-विषय क्या है—संकेतित अर्थ का स्वरूप क्या है?—इत्यादि प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। पहले दो प्रश्नों पर विचार हो चुका है। 'संकेत' समय को कहते हैं। इस शब्द से इस अर्थ का बोध होना चाहिए—इस अर्थ के लिये इस शब्द का प्रयोग करना चाहिए—ऐसा 'समय' ही संकेत कहलाता है। इस संकेत का ज्ञान प्रधानतया व्यवहार से होता है। अन्य संकेत के ग्राहक व्यवहार के रूपान्तर मात्र हैं। शब्द नित्य है। शब्द की शक्ति नित्य है; पर उस शक्ति का ग्राहक (अर्थात् ज्ञान करानेवाला) संकेत, अनित्य है। उसे लोकेच्छा बनाती बिगाड़ती है। यहाँ लोकेच्छा व्यक्तिगत इच्छा का नाम नहीं है किंतु उससे सर्वसाधारण की इच्छा का अभिप्राय है। शब्द तो न जाने कब से चला आ रहा है और न जाने कब तक चलेगा। वह अनादि है, अनंत है और इसी से नित्य भी है। केवल संकेत-निर्धारण करना प्रयोक्ता (लोक) के हाथ में है। शब्द सदा किसी न किसी रूप में रहता है; जब लोग जैसा संकेत बना लेते हैं वैसा ही (संकेतित) अर्थ उस शब्द से भासने लगता है। विश्व में कहीं न कहीं अर्थ उलझा पड़ा रहता है; जब लोग संकेत को शब्द की सेवा में भेजते हैं, शब्द उसकी सहायता से अर्थ को सुलझाकर प्रकाश में ला देता है। लोगों को अर्थ-बोध होने लगता है। अर्थ-बोध वास्तव में होता है शब्दार्थ संबंध के ज्ञान से—शब्द-शक्ति के ज्ञान से; पर संकेत ही उस संबंध का परिचायक होता है—उस शक्ति का ज्ञान कराता है, अतः संकेत का महत्त्व पहले आँखों के सामने आता है। संकेत होता भी है अर्थ-बोध का सहकारी कारण। इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार लोकेच्छा संकेत बनाती है। लोक व्यवहार से संकेत-ग्रह होता है। संकेत द्वारा शक्ति-ग्रह होता है और शक्ति द्वारा अर्थ-ग्रह अर्थात् शाब्द-बोध होता है। पर व्यावहारिक शब्द को वे भी नैयायिकों की भाँति अनित्य

संकेत का स्वरूप

संकेत का ग्राहक

संकेत का कर्त्ता

मानते हैं। मीमांसकों की नाईं वे ध्वनि और वर्ण को नित्य नहीं मानते। व्यवहार से ही ध्वन्यात्मक शब्द की अनित्यता स्पष्ट है। शब्द के नाद और रूप में लोप, आगम, विपर्यय, विकार आदि कार्य प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं।

अभिधा के तीन भेद

संकेत वाचक शब्द और उसकी शक्ति अभिधा—दोनों का स्वरूप स्पष्ट कर देता है। जब संकेत सीधे समझ में आ जाय तब शब्द को वाचक, उसके अर्थ को वाच्य और उस शब्द के अर्थ-बोध करानेवाले व्यापार को अभिधा कहते हैं। अभिधा शक्ति के तीन सामान्य भेद होते हैं—रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि। इसी शक्ति-भेद के अनुसार शब्द और अर्थ भी रूढ़, यौगिक अथवा योगरूढ़ होते हैं। मणि, नूपुर, गौ, हरिण आदि शब्द, जिनकी व्युत्पत्ति नहीं हो सकती रूढ़ कहलाते हैं। इन शब्दों में रूढ़ि की शक्ति व्यापार करती है। और जिन शब्दों की शास्त्रीय प्रक्रिया द्वारा व्युत्पत्ति की जा सकती है वे यौगिक कहलाते हैं। जैसे पाचक, सेवक आदि शब्द यौगिक हैं; क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति हो सकती है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनकी व्युत्पत्ति तो की जाती है पर व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ शब्द के मुख्य अर्थ से मेल नहीं खाता। ऐसे शब्द योगरूढ़ कहे जाते हैं। पंकज का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'पंक से उत्पन्न होनेवाला'। पर अब यह शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से तो केवल धातुएँ ही रूढ़ कही जा सकती हैं। धातु के अतिरिक्त अन्य शब्दों को रूढ़ मानना अज्ञान की स्वीकृति मात्र है। सभी शब्दों की उत्पत्ति धातु और प्रत्यय के योग से होती है। जिन शब्दों की उत्पत्ति अज्ञात रहती है उन्हें व्यवहारानुरोध से रूढ़ मान लिया जाता है। वास्तव में वे 'अव्यक्तयोग' मात्र हैं, उनके योगार्थ का हमें ज्ञान नहीं है। अतः धातु में हम शब्द की निर्योग और रूढ़ अवस्था का दर्शन करते हैं। दूसरी अवस्था में धातु से प्रत्यय का योग होता है और यौगिक शब्द सामने आता है। संस्कृत व्याकरण की

पाँचों वृत्तियाँ[1] इस अवस्था का सुंदर निदर्शन कराती हैं। पहले धातु से कृत प्रत्यय लगता है जैसे पच् धातु से पाचक बनता है। फिर धातुज शब्द से तद्धित प्रत्यय लगता है तो पाचकता आदि शब्द बन जाते हैं इन दोनों प्रकार के यौगिक शब्दों से समास बन जाते हैं। एक यौगिक शब्द दूसरे यौगिक शब्द से मिलकर एक समस्त (यौगिक) शब्द को जन्म देता है। कभी कभी दो शब्द इतने अधिक मिल जाते हैं कि उनमें से एक अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। शब्द की इस वृत्ति को एकशेष कहते हैं। जैसे माता और पिता का योग होकर एक यौगिक शब्द बनता है 'पितरौ' इन चार वृत्तियों से नाम-शब्द ही बनते हैं। पर कभी कभी नाम के योग से धातुएँ भी बनती हैं। जैसे पाचक से पाचकायते बनता है ऐसी योगज धातुएँ नामधातु कहलाती हैं और उनकी वृत्ति 'धातुवृत्ति' कहलाती है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो भाषा के सभी यौगिक शब्द पाँच वृत्तियों के अंतर्गत आ जाते हैं। कृदंत, तद्धितांत, समास, एकशेष और नामधातुओं को निकाल लेने पर भाषा में केवल दो ही प्रकार के शब्द शेष रह जाते हैं धातु और प्रातिपदिक (अव्युत्पन्न रूढ़ शब्द)। इस प्रकार भाषा रूढ़ और यौगिक—इन्हीं दो प्रकार के शब्दों से बनती है, पर अर्थातिशय की दृष्टि से एक प्रकार के शब्द ऐसे होते हैं जो यौगिक होते हुए भी रूढ़ हो जाते हैं ऐसे शब्द योगरूढ़ कहे जाते हैं। यह शब्द की तीसरी अवस्था है। जैसे धवलगृह का अर्थ होता है 'सफेदी किया हुआ घर'; पर धीरे धीरे धवलगृह का—प्रयोगातिशय से—'महल' अर्थ होने लगा। इस अवस्था में धवलगृह योगरूढ़ शब्द है। धवलः गृहः और धवलगृह का अब पर्याय जैसा व्यवहार नहीं हो सकता। यही योगरूढ़ि संस्कृत के नित्य समासों का मूल कारण है। कृष्णसर्पः है तो यौगिक शब्द; पर धीरे धीरे उसका संकेत एक सर्प-विशेष में रूढ़ हो गया है। अतः वह समस्तावस्था में ही उस विशेष अर्थ

---

(१) 'वृत्ति' व्याकरण में किसी भी ऐसी यौगिक रचना को कहते हैं जिसका विग्रह किया जा सके।

का बोध करा सकता है, अर्थात् कृष्णसर्पः में नित्य समास है। कुछ विद्वानों ने तो सभी समासों को योगरूढ़ माना है। विग्रह-वाक्य से समास में अर्थ-वैशिष्ट्य अवश्य रहता है; इसी से नैयायिकों के अनुसार समास में एक विशेप शक्ति आ जाती है। सच पूछा जाय तो प्रयोगातिशय से समृद्ध भापा के अधिक शब्दों में योगरूढ़ि ही पाई जाती है। अर्थातिशय के विद्यार्थी के लिये योगरूढ़ि का अध्ययन बड़ा लाभकर होता है।

भापा और बोली दोनों में शब्दों का मुख्यार्थ ही सदा पर्याप्त नहीं होता। प्रयोक्ता असाक्षात्संकेतित अर्थों में भी कभी कभी शब्दों का प्रयोग करता है। शब्दों को अपने मुख्य अर्थ से संबद्ध दूसरे अर्थों का बोध कराना पड़ता है। कभी तो ऐसी रूढ़ि बन जाती है जिससे वे सहज ही अपने मुख्य अर्थ को छोड़ दूसरे अर्थ को लक्षित करने लगते हैं; और कभी कभी प्रयोक्ता का प्रयोजन व्यंजित करने के लिये उन्हें अपने मुख्य अर्थ से भिन्न किसी दूसरे अर्थ का बोध कराना पड़ता है। जैसे 'आजकल मेरे गाँव में बड़ा मेल है'—इस वाक्य में 'गाँव' शब्द रूढ़ि से 'गाँव में रहनेवालों' का बोध कराता है। और एक 'हड्डी की ठठरी' सामने आकर खड़ी हो गई—इस वाक्य में 'हड्डी की ठठरी' का सप्रयोजन प्रयोग हुआ है। वक्ता किसी मनुष्य की दुर्वलता और कृशता का आधिक्य व्यंजित करना चाहता है। इसी से 'हड्डी की ठठरी' अपने मुख्य अर्थ को छोड़ एक क्षीण और दुर्वल मनुष्य को लक्षित कर रही है। ऐसे रूढ़ि अथवा प्रयोजन के अनुरोध से असाक्षात्संकेतित अर्थ में प्रयुक्त शब्द लक्षक कहलाते हैं। उनसे बोध्य अर्थ लक्ष्य कहलाते हैं और उनकी अर्थ-बोध कराने की शक्ति लक्षणा कहलाती है।

८ लक्षणा

विचारपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि लक्षणा में तीन बातें आवश्यक होती हैं। सबसे पहले शब्द के मुख्यार्थ का बोध होना चाहिए अर्थात् जब वाक्य में शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ठीक नहीं बैठता तभी लक्षणा की संभावना होती है दूसरी बात यह है कि मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का कुछ न कुछ संबंध

लक्षणा के तीन हेतु

अवश्य होना चाहिए। शब्द लक्षणा से उसी अर्थ का बोध करा सकता है जिसका उसके प्रधान और प्रसिद्ध अर्थ से कुछ न कुछ संसर्ग हो। लक्षणा के लिए तीसरी आवश्यक बात यह है कि रूढ़ि अथवा प्रयोजन उसका निमित्त होना चाहिए। इन तीनों हेतुओं में से एक के भी अभाव में लक्षणा का व्यापार असंभव हो जाता है। बिना प्रयोजन अथवा रूढ़ि के कोई शब्द दूसरे अर्थ की ओर जायगा ही क्यों? और योग अर्थात् संबंध तो लक्षणा का प्राण है। संबंध लक्षणा का दूसरा नाम भी है। पर कभी कभी शब्द का मुख्यार्थ-बोध नहीं होता तो भी शब्द दूसरे अर्थ का बोध कराने लगता है। जैसे एक लड़के ने संध्या को सिनेमा जाने का निश्चय कर लिया है। जब वह कहता है, "संध्या हो गई" तब वह 'संध्या' से सिनेमा जाने का समय सूचित करता है। यहाँ 'संध्या' का मुख्यार्थ भी बना रहता है और उससे एक भिन्न अर्थ भी निकल आता है। ऐसे शब्दों में लक्षणा नहीं मानी जाती; क्योंकि यहाँ मुख्यार्थ-बोधवाला हेतु विद्यमान नहीं है।

लक्षणा का सामान्य वर्गीकरण

भाषा में और विशेषतः साहित्यिक भाषा में लक्षणा के न जाने कितने रूप देखने को मिलते हैं। आधुनिक अर्थातिशय के विवेचकों ने उनका बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। भाषा की अर्थवृद्धि लक्षणा से ही अधिक होती है। अतः लक्षणा के अनेक भेद हो सकते हैं। पर सामान्य दृष्टि से लक्षणा के चार भेद किए जा सकते हैं। कभी कभी शब्द अपने मुख्यार्थ को बिलकुल छोड़ देता है, केवल लक्ष्यार्थ का बोध कराता है। शब्द के इस व्यापार को लक्षणलक्षणा कहते हैं कभी कभी शब्द अपना अर्थ भी बनाए रखता है, उसे छोड़ता नहीं और साथ ही दूसरे अर्थ का भी लक्षित करने लगता है, अर्थात् दूसरे अर्थ का अपने में उपादान कर लेता है। ऐसे शब्द में उपादान लक्षणा होती है। कभी कभी एक शब्द के अर्थ पर दूसरे शब्द के अर्थ का आरोप किया जाता है। आरोप सहित होने के कारण ऐसी लक्षणा सारोपा कहलाती

है। और कभी कभी यही आरोप इतना अधिक बढ़ जाता है कि आरोप का आधार (अर्थात् विषय) आरोप्यमाण में अपना अस्तित्व खो बैठता है, विषय का विषयी में अध्यवसान हो जाता है। स्थल में होनेवाली लक्षणा साध्यवसाना कही जाती है।

सुविधा के लिये सरोपा और साध्यवसाना के दो दो भेद और कर लिए जाते हैं। आरोप-विषय और आरोप्यमाण के बीच कोई न कोई संबंध अवश्य रहता है। ..भी दोनों में किसी गुण का सादृश्य रहता है, कभी कार्यकारणभाव, कभी अंगांगिभाव, कभी तादर्थ्य, तारकर्म्य आदि कोई संबंध होता है। गुण-सादृश्य से होनेवाली लक्षणा 'गौणी' और शेष अन्य सबंधों से सिद्ध होनेवाली 'शुद्ध' कही जाती है। पहले चार विभाग अर्थानुसार किए गए थे; ये अंतिम दो विभाग संबंध की दृष्टि से किए गए हैं। इस प्रकार लक्षणा छः प्रकार की मानी जाती है--(१) लक्षण-लक्षणा, (२) उपादान-लक्षणा (३) गौणी सारोपा लक्षणा, (४) गौणी साध्यवसाना लक्षणा, (५) शुद्धा सारोपा लक्षणा, (६) शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा।

लक्षणा का यह षड्धा विभाग बड़ा व्यावहारिक और व्यापक है। शब्द के सभी लाक्षणिक प्रयोग इसके अंतगत आ जाते हैं। देखिए। (१) पंजाब वीर है। (२) वह गाँव भूखों मर रहा है। (३) दोनों घरों में बड़ी लड़ाई है। (४) आपने उसका घर नीलाम कराके उसका बड़ा उपकार किया है। मैं भी आपके सौजन्य पर मुग्ध हूँ। (५) आप परिश्रम इतना अधिक करते है कि आपका सफल होना असंभव दीखता है।

(१) लक्षण-लक्षणा

प्रथम तीन वाक्यों में 'पंजाब', 'गाँव' और 'घर'—इन तीनों शब्दों ने अपना मुख्यार्थ बिलकुल छोड़ दिया है, उनसे केवल यहाँ 'रहनेवालों' का बोध होता है। अतः उनमें लक्षण-लक्षणा स्पष्ट है। चौथे और पाँचवें वाक्यों में लक्षणा के विचित्र उदाहरण हैं। यहाँ उपकार, सौजन्य, मुग्ध, अधिक आदि शब्दों से अपकार, दौर्जन्य आदि विपरीत

अर्थों का बोध होता है। अपने अर्थ का त्याग होने से इनमें भी लक्षण-लक्षणा मानी जाती है।

(२) उपादान-लक्षणा

(१) हाथ-पैर बचाकर काम करो। (२) तुम्हारे सभी घोड़े तेज हैं पर वह काला बेजोड़ है। (३) लाल पगड़ी आई और वह घर में घुसा। (४) केवल दो बंदूकों के भय से इतने भाले-बरछे सब भाग खड़े हुए। (५) दही रखा है। कौए से बचाना।

'हाथ-पैर' से शरीर का लक्ष्यार्थ निकलता है। शरीर में हाथ-पैर का भी उपादान हो जाता है। इसी प्रकार 'काला' का अर्थ काला घोड़ा है। यहाँ 'काला' का स्वार्थ छूटना नहीं है। आगे के वाक्य में 'लाल-पगड़ी' से सिपाही का बोध होता है। यहाँ भी पगड़ी का मुख्यार्थ साथ रहता है, छूटता नहीं है। इसी प्रकार 'बंदूक' और 'भाले-बरछे, इन अस्त्रों को लिए हुए लोगों का बोध कराते हैं। इन अस्त्रों का उपादान स्पष्ट ही है। 'भय' बंदूक और उसके चलानेवाले पुरुष दोनों से ही होता है। अंतिम वाक्य के 'कौए' से कुत्ता-बिल्ली, कीट-पतंगादि दही को दूषित करनेवाले सभी जंतुओं का अभिप्राय लिया जाता है। इस विचित्र लक्षणा में भी 'कौआ' शब्द का अर्थ छूटा नहीं है। कौओं का अर्थ और अधिक बढ़ गया है।

(३) गौणी सारोपा लक्षणा

(१) वह बालक सिंह है। (२) उसका मुखकमल खिल उठा। (३) वह स्त्री गाय नहीं, साँपिन है। (४) मेरा लड़का हंस है। (५) सच्चा कवि भ्रमर होता है।

इन सभी उदाहरणों में गुण-सादृश्य के कारण आरोप हुआ है। बालक सिंह के समान वीर है। मुख सौंदर्य में कमल के समान है। स्त्री गाय जैसी सीधी नहीं, साँपिन जैसी दुष्ट और कुटिल है। लड़का हंस के समान विवेकी है। कवि अपने रस-संग्रह करने के गुण में भ्रमर के समान है। इस प्रकार इन सब में लक्षणा का निमित्त गुण देख

पड़ता है। अत: सब में गौणी लक्षणा है। आरोप-विषय और आरोप्यमाण दोनों का स्पष्ट उल्लेख होने से लक्षणा सारोपा है।

अद्भुत एक अनूपम बाग। जुगल कमल पर गज क्रीडत है, तापर सिंह करत अनुराग॥ हरि पर सरवर सर पर गिरिवर, तापर फूले कंज पराग। रुचिर कपोत वसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृतफल लाग॥ फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक पिक मृगमद काग। खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर नाग॥

(४) गौणी साध्यवसाना लक्षणा

इस एक ही पद में साध्यवसाना के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। राधा के अंग अंग का सौंदर्य-वर्णन कवि ने उपमानों द्वारा ही कर दिया है। उपमानों में उपमेयों का अध्यवसान (तादात्म्य) हो गया है। यही साध्यवसाना लक्षणा रूपकातिशयोक्ति अलंकार के मूल में रहती है। इसी लक्षणा का प्रयोग कवि की उक्तियों में ही अधिक देख पड़ता है। इसी से यहाँ काव्य से उदाहरण लेना ही समीचीन जान पड़ा।

(५) शुद्धा सारोपा लक्षणा

(१) दवा मेरा जीवन है। (२) घृत आयु है। (३) दूध ही मेरा बल है। (४) अविरत सुख भी दु:ख है। (५) यह ग्रंथ रघुवंश है। (६) वह ब्राह्मण पूरा बढ़ई है।

इन सब उदाहरणों में आरोप प्रत्यक्ष देख पड़ रहा है। पर आरोप का निमित्त संबंध सादृश्य नहीं है। दवा पर जीवन का आरोप हुआ है क्योंकि दोनों में कार्य-कारण संबंध है। इसी प्रकार घृत और दूध पर आयु और बल का आरोप जन्य-जनक संबंध से हुआ है। अविरत सुख भी दु:ख का कारण होता है इससे सुख पर दु:ख का आरोप किया गया है। ग्रंथ में रघुवंश का वर्णन है, इसलिये यहाँ भी आरोप का निमित्त सादृश्य नहीं है। ब्राह्मण तात्कर्म्य संबंध से बढ़ई माना गया है, इससे गुण द्वारा यहाँ सादृश्य-संबंध नहीं माना जा सकता। इस प्रकार सभी में आरोप का कारण सादृश्य-संबंध न होने से शुद्धा सारोपा लक्षणा मानी जाती है।

(१) लो तुम्हें आयु ही दे रहा हूँ। (२) बढ़ई भी आया था। (३) इस दुःख से कैसे छुटकारा मिले। (४) रघुवंश पढ़ो।

(६) शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा

इन वाक्यों में प्रसंगानुसार आयु, बढ़ई, दुःख और रघुवंश से क्रमशः घृत, ब्राह्मण-विशेष, अविरत सुख और ग्रंथ-विशेष का अर्थ निकलता है। अर्थात् इन आरोप्यमाणों में आरोप-विषयों का अध्यवसान देख पड़ता है। अतः इन सब में साध्यवसाना लक्षणा है। अध्यवसान का कारण सादृश्य नहीं है, इससे लक्षणा शुद्धा है।

शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना है। नित्य के अनुभव में देखा जाता है कि किसी किसी शब्द से वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त एक तीसरा अर्थ निकलता है। सीधे शब्द से (लक्षणा अथवा अभिधा द्वारा) एक ही बात का बोध होता है पर सुननेवाले को उसी से न जाने कितनी दूसरी बातें सूझ जाती हैं। शब्द की यह सुझानेवाली शक्ति अभिधा अथवा लक्षणा नहीं हो सकती। यह एक मानी हुई बात है कि शब्द की शक्ति एक प्रकार का अर्थ-बोध करा चुकने पर क्षीण हो जाती है। उसका एक व्यापार एक ही अर्थ का बोध करा सकता है। अभिधा अपना काम करके चुप हो जाती है। लक्षणा अपना अर्थ सिद्ध करके विरत हो जाती है। अतः दोनों शक्तियों के क्षीण हो जाने पर शब्द जिस शक्ति से किसी दूसरे अर्थ को सूचित करता है उसे व्यंजना कहते हैं। इस व्यंजना शक्ति द्वारा बोध्य अर्थ को व्यंग्यार्थ और ऐसे अर्थ से संपन्न शब्द को व्यंजक कहते हैं।

व्यंजना

शब्द की अन्य दो शक्तियाँ शब्द के द्वारा ही अपना काम करती हैं, पर व्यंजना शक्ति कभी कभी अर्थ के द्वारा भी अपना व्यापार करती है। इसी से व्यंजना शाब्दी और आर्थी—दो प्रकार की मानी गई है। शाब्दी व्यंजना कभी अभिधामूला होती है, कभी लक्षणामूला; और आर्थी व्यंजना कभी वाच्यार्थसंभवा, कभी लक्ष्यार्थसंभवा और कभी व्यंग्यार्थसंभवा होती है। इस प्रकार शाब्दी व्यंजना दो प्रकार की और आर्थी तीन प्रकार की होती है।

अभिधा द्वारा भी एक शब्द से अनेक अर्थों का बोध होता है। हम प्रत्यक्ष व्यवहार में देखते हैं कि एक शब्द के वाच्यार्थ भी अनेक होते हैं। बहुत-से व्यक्ति-वाचक नाम, अनेक निर्योग धातुएँ तक अनेकार्थक होती हैं, फिर यौगिक शब्दों का क्या पूछना है ? ऐसी दशा में प्रयुक्त शब्द का इष्ट अर्थ क्या है, यह निश्चित करने के लिये संयोगादि अर्थनियामकों का विचार करना पड़ता है। संयोग किसी किसी शब्द का अर्थ नियमित कर देता है। हरि शब्द का विष्णु, शिव, इंद्र, सूर्य, वंदर, सिंह आदि अनेक अर्थों में व्यवहार होता है। पर जब 'हरि' के साथ शंख-चक्र का संयोग रहता है तब 'हरि' शब्द का अर्थ विष्णु ही होता है। कभी कभी विप्रयोग (संयोग का विपर्यय) भी शब्द के विशेषार्थ का निर्णय कर देता है। 'वज्र-हीन हरि' स इंद्र का ही बोध होता है। वज्रवाले (देव) से ही वज्र का वियोग हो सकता है। साहचर्य और विरोध कभी कभी वाच्यार्थ निश्चित कर देते हैं। राधा के सहचर 'हरि' से सदा कृष्ण का और मृग के विरोधी 'हरि' से सिंह का बोध होता है। कभी कभी अर्थ अर्थात् प्रयोजन का विचार वाच्यार्थ स्पष्ट कर देता है। 'स्थाणु' का अर्थ 'शिव' और 'खंभा' दोनों होता है, पर 'मुक्ति के लिये स्थाणु का भजन करो' में 'स्थाणु' से शिव का ही बोध होता है क्योंकि मुक्ति का प्रयोजन शिव से ही सिद्ध हो सकता है। कहीं कहीं प्रकरण से अर्थ का निर्णय हो जाता है; जैसे 'सैंधव' का अर्थ घोड़ा तथा नमक दोनों होता है, पर भोजन के प्रकरण में प्रयुक्त 'सैंधव' नमक का ही वाचक हो सकता है। लिंग अर्थात् गुण-विशेष द्वारा भी किसी किसी शब्द का वाच्यार्थ निरूपित होता है। जैसे 'क्रुद्ध मकरध्वज' से कामदेव का अर्थ निकलता है। मकरध्वज का अर्थ 'समुद्र' भी होता है पर समुद्र किसी युवक अथवा युवती पर क्रुद्ध नहीं हो सकता। इस क्रोध के लिंग से यहाँ अर्थ-निर्णय हो जाता है। दूसरे, शब्द की सन्निधि से भी कई शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'कर सों सोहत नाग' में नाग शब्द की समीपता से 'कर' का अर्थ 'हाथी की सूँड़' निश्चित हो

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना

जाता है। कभी सामर्थ्य ही अर्थ-निर्णायक हो जाती है। 'मधु से मत्त कोकिल' कहने से 'मधु' का अर्थ 'वसंत' निश्चित हो जाता है। 'मधु' के अन्य अर्थ भी होते हैं पर कोकिल को मत्त करने की सामर्थ्य वसंत में ही होती है। औचित्य के अनुसार भी शब्द का विशेप अर्थ निश्चित हो जाता है। 'एक' शब्द संख्या और परिमाण दोनों का वाचक होता है पर 'वेद का एक परिचय' में एक का संख्यावाचक अर्थ ठीक नहीं बैठता, अतः यहाँ एक का 'अल्प' अर्थ लेना चाहिए। शब्द का अर्थ निर्णय करने में देश और काल का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो शब्द वैदिक काल में एक अर्थ में रूढ़ था वही आज दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होता है। जो 'बाई' शब्द दक्षिण भारत में कुलीन महिला का बोध कराता है वही उत्तर भारत में प्रायः वारांगना का बोध कराता है। व्यक्ति अर्थात् लिंग-भेद से भी अर्थ निर्णय कभी कभी हो जाता है। 'बुधि छल बल करि राखिहौं पति तेरी नव बाल'—यहाँ 'पति' का अर्थ 'लाज' है। यदि उसका प्रयोग पुल्लिंग में हुआ होता तो अर्थ दूसरा होता। वैदिक संस्कृत जैसी सस्वर भापाओं में स्वर भी अर्थ-निर्णायक होता है। इन चौदह हेतुओं के अतिरिक्त अभिनय आदि भी शब्द के विशेप अर्थ के ज्ञान में साधक होते हैं।

इस प्रकार किसी न किसी हेतु के वश होकर जब शब्द एक ही अर्थ में नियमित हो जाता है तब भी यदि उस (शब्द) से कोई भिन्न अर्थ निकले तो उस अर्थ का कारण अभिधामूला व्यंजना को समझना चाहिए। इस अर्थ का हेतु अविधा नहीं हो सकती। वह तो पहले से ही एक अर्थ में नियंत्रित हो चुकी है। उदाहरणार्थ—

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृपभानुजा, वे हलधर के वीर॥

बिहारी के इस दोहे में 'वृपभानुजा का अर्थ वृपभानु की लड़की राधा' और 'हलधर के वीर' का 'हलधारी बलराम का भाई कृष्ण' है। प्रकरण में यही अर्थ ठीक बैठता है अर्थात् प्रकरण ने वाच्यार्थ निश्चित कर दिया है। इस दोहे में इन शब्दों का कोई दूसरा मुख्यार्थ हो ही

नहीं सकता। तो भी इन दोनों शब्दों से परिहास की व्यंजना हो रही है। राधा वृषभ की बहिन अर्थात् गाय हैं और कृष्ण हलधर (बैल) के भाई अर्थात् बैल हैं। गाय बैल की अच्छी जोड़ी बनी है! इन दोनों शब्दों में से एक के भी हटा देने से यह (परिहास की) व्यंजना न रह सकेगी। हलधर के स्थान में बलदेव अथवा अन्य कोई समानार्थक शब्द रखने से मुख्य अर्थ तो वही रहेगा पर यह व्यंग्यार्थ जाता रहेगा। इस प्रकार व्यंजना शब्द पर आश्रित होने के कारण शाब्दी है; और अभिधा द्वारा ही व्यंग्यार्थ भी निकल आता है इससे व्यंजना अभिधामूला है। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। इन दोनों शब्दों में श्लेप नहीं है। श्लेष सा मालूम पड़ता है; पर आचार्यों के अनुसार श्लेषालंकार में दोनों अर्थ मुख्य होने चाहिए और यहाँ, जैसा हम देख चुके हैं, एक ही अर्थ प्रधान है। दूसरा अर्थ केवल सूचित होता है। ऐसे स्थल में शाब्दी व्यंजना मानी जाती है, श्लेषालंकार नहीं।

प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन व्यंग्य रहता है। जिस प्रयोजन अर्थात् व्यंग्यार्थ को सूचित करने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है अर्थात् लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह (प्रयोजन अथवा व्यंग्य) जिस शक्ति से प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना

जैसे 'बंबई बिलकुल समुद्र में बसा है'—इस वाक्य में 'समुद्र में' लाक्षणिक पद है। वक्ता उससे जल-पवन की आर्द्रता व्यंजित करना चाहता है। अभिधा यहाँ है ही नहीं। समुद्र में शहर नहीं बस सकता। अतः 'समुद्र का किनारा' अर्थ करना पड़ता है अर्थात् लक्षणा करनी पड़ती है। इसी लक्षणा में आश्रय लेकर व्यंजना प्रयोजन को व्यंजित करती है। अतः यहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना है। प्रयोजनवती सभी लक्षणाओं में ऐसी व्यंजना होती है। प्रायः सभी लाक्षणिक प्रयोगों में कुछ न कुछ व्यंग्य रहता है।

जब वाक्य के वाच्यार्थ से किसी अन्य अर्थ की व्यंजना होती है, तब उसे वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना कहते हैं। यदि कोई नित्य सिनेमा

जानेवाला लड़का कहता है कि "अब संध्या हो गई; पढ़ना समाप्त करना चाहिए" तो उसके व्यसन से परिचित श्रोता तुरंत उसके व्यंग्यार्थ को समझ जाता है। इस वाच्यार्थ में उसकी सिनेमा जाने की इच्छा छिपी हुई है। इस प्रकार यह वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का व्यंजक है। और वाच्यार्थ द्वारा घटित होने के कारण व्यंजना वाच्यसंभवा है। संध्या, पढ़ना आदि के स्थान में सायंकाल, अध्ययन आदि शब्द रख दें तो भी व्यंजना बनी रहेगी। वह शब्द पर नहीं, अर्थ पर आश्रित है।

वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना

जब लक्ष्य अर्थ में व्यंजना होती है, वह लक्ष्यसंभवा (आर्थी व्यंजना) कहलाती है। कोई पिता अपने पुत्र के अयोग्य शिक्षक से कहता है कि अब लड़का बहुत अधिक सुधर गया है। विद्या ने उसे विनय भी सिखा दी है। मैं उसके आचरण से बड़ा प्रसन्न हूँ। विपरीत लक्षणा से इसका यह लक्ष्यार्थ निकलता है कि लड़का पहले से अब अधिक बिगड़ गया है। जो कुछ पढ़ा-लिखा है उससे भी उसने अविनय ही सीखी है। मैं उससे बिलकुल अप्रसन्न हूँ। इस लक्ष्यार्थ से श्रोतृवैशिष्ट्य द्वारा यह व्यंग्य सूचित होता है कि शिक्षक बड़ा अयोग्य है। यदि कोई दूसरा मनुष्य सुननेवाला होता तो यह व्यंजना न हो सकती। पिता शिक्षक से ही कह रहा है, इससे यह अभिप्राय निकल आता है। यह व्यंग्य अभिप्राय लक्ष्यार्थ के द्वारा सामने आता है, अतः यहाँ लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना होती है।

लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना

इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है कि जहाँ लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना होती है वहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना भी रहती है। कारण यह है कि जो व्यंग्य लक्षणा का प्रयोजन होता है उसके लिये शाब्दी व्यंजना होती है और जो दूसरा व्यंग्य लक्ष्यार्थ द्वारा प्रतीत होता है उसके लिये आर्थी व्यंजना होती है। पहली व्यंजना प्रयोजन को और दूसरी अन्य अर्थ को प्रकट करती है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में लड़के के दुराचरण और अविनय का अतिशय लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना द्वारा व्यंजित

होता है और शिक्षक की अयोग्यता और सापराधता लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना द्वारा सूचित होती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आर्थी व्यंजना शाब्दी के अंतर्गत नहीं, किंतु उससे भिन्न होती है।

जब एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ को सूचित करता है तब उस अर्थ के व्यापार को व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना कहते हैं। दो कैदी आधी रात को निकल भागने का निश्चय कर चुके हैं। उनमें से एक कहता है, "देखो रजनीगंधा की कलियाँ कैसी खिल उठी हैं। उनके सौरभ से पवन की गति भी मंद हो गई।" इन वाक्यों के वाच्यार्थ से यह व्यंग्य सूचित होता है कि आधी रात हो गई है। चारों ओर निःस्तब्धता छाई हुई है। इस व्यंग्यार्थ से उस श्रोता कैदी के लिये एक और व्यंग्य की प्रतीति होती है। वह यह कि इस बेला में निकल भागना चाहिए। इस प्रकार एक व्यंग्य के द्वारा दूसरे व्यंग्य की उत्पत्ति होने से यह आर्थी व्यंजना व्यंग्यसंभवा कहलाती है।

व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना

इन सभी उदाहरणों में एक बात स्पष्ट है कि किसी न किसी प्रकार का वैशिष्ट्य ही आर्थी व्यंजना की प्रतीति का हेतु होता है। पहले उदाहरण में 'संध्या हो गई' इत्यादि में वक्ता का वैशिष्ट्य ही व्यंजना का हेतु है। वक्ता की विशेषता से अपरिचित श्रोता के लिये उस वाक्य में कोई व्यंजना नहीं है। दूसरे उदाहरण में बोधव्य (अर्थात् जिससे कहा जाय उस) की विशेषता के कारण ही व्यंग्यार्थ संभव हुआ है। तीसरे उदाहरण में प्रकरण और बोधव्य (श्रोता) दोनों की विशेषता व्यंजना का हेतु हो गई है। रजनीगंधा के खिलने आदि की बात सुनकर कोई भी सहृदय काल-वैशिष्ट्य से पहली वाच्यसंभवा व्यंजना अवश्य समझ लेगा, अर्थात् निशीथ वेला की प्रतीति उसे हो जायगी। पर इस व्यंग्य से उत्पन्न दूसरे व्यंग्य को प्रकरण और बोधव्य के ज्ञान द्वारा ही कोई समझ सकता है। कैदीवाले प्रकरण को जानना इस व्यंजना के लिये आवश्यक है।

उपर्युक्त इन सभी बातों का विचार कर आचार्यों ने आर्थी व्यंजना अर्थ के उस व्यापार को माना है जो वक्ता, बोधव्य (श्रोता) काकु, वाक्य, वाच्य, अर्थ, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य (अर्थात् विशेषता) के कारण समझ प्रतिभाशाली सहृदय व्यक्ति को दूसरे अर्थ की अर्थात् (अभिधा और लक्षणा द्वारा न जाने हुए) व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता है।

वक्ता, श्रोता (बोधव्य) और प्रकरण का अर्थ ऊपर स्पष्ट हो चुका है। काकु स्वर-विकार को कहते हैं। स्वर का अर्थ यहाँ वैदिक पद-स्वर नहीं है। स्वर का सामान्य अर्थ 'आवाज' अथवा 'ध्वनि' ही यहाँ अभिप्रेत है। एक ही वाक्य का स्वर बदल बदलकर पढ़ने से अर्थ दूसरा दूसरा हो जाया करता है। मैं दोषी हूँ। साधारण स्वर से कहने पर यह वाक्य साधारण अर्थ देता है; पर थोड़े सुर से 'मैं' पर थोड़ा बल देकर पढ़ने से इसका उलटा अर्थ निकलता है। उसी वाक्य से निरपराध होने की व्यंजना टपकती है। यही काकु सिद्ध व्यंजना कहलाती है। इसी प्रकार वाक्य-वैशिष्ट्य, वाच्यार्थ-वैशिष्ट्य, किसी दूसरे का सामीप्य, प्रस्ताव अर्थात् प्रकरण और देश-काल आदि का वैशिष्ट्य भी आर्थी व्यंजना का हेतु होता है। इन हेतुओं के अनुसार पहले गिनाए हुए तीन भेदों के अनेक भेद हो सकते हैं; जैसे, वक्तृ-वैशिष्ट्य से प्रयुक्त वाच्यसंभवा को (जिसका उदाहरण 'संध्या हो गई...' में आ चुका है) वाच्य-संभवा-वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता कह सकते हैं। फिर बोधव्य से होनेवाली को वाच्य-संभवा-बोधव्य-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता कहेंगे। इसी प्रकार और और वैशिष्ट्यों से अन्य भेद हो जायेंगे, पर प्रधान भेद तीन होते हैं; क्योंकि आर्थी व्यंजना का आधार-स्वरूप अर्थ तीन प्रकार का होता है।

आर्थी व्यंजना के संबंध में एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए। इसका व्यापार प्रधानतः अर्थनिष्ठ होता है, पर शब्द सदा सहकारी कारण रहता है। आर्थी व्यंजना को प्रतीत करानेवाला अर्थ स्वयं शब्द के द्वारा अभिहित, लक्षित अथवा व्यंजित होता है। अतः

शब्द का सहकारी कारण होना स्पष्ट है। यह भ्रम कभी न होना चाहिए कि आर्थी व्यंजना शब्द की शक्ति नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो शब्द से बोधित होकर अर्थव्यापार करता है और शब्द भी अर्थ का सहारा लेकर ही (व्यंजना) व्यापार करता है—दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। निष्कर्ष यह है कि शाब्दी व्यंजना में पहले शब्द में व्यंजन-व्यापार होता है फिर उसके अर्थ में भी वही क्रिया होती है—इस प्रकार दोनों मिलकर काम करते हैं; पर शब्द की प्रधानता होने के कारण व्यंजना शाब्दी कहलाती है। इसी प्रकार जब व्यंजना की क्रिया पहले अर्थ में होती है और पीछे से शब्द में, तो ऐसी क्रिया आर्थी व्यंजना मानी जाती है।

यदि अर्थ के विचार से व्यंजना के भेद किए जायँ तो अनेक हो सकते हैं। कई लोग वस्तु-व्यंजना, अलंकार-व्यंजना और भाव-व्यंजना—ये तीन भेद मानते हैं; पर अर्थ की दृष्टि से ध्वनि के इक्यावन भेद-प्रभेद भी व्यंजना के अंतर्गत आ जायँगे। काव्य के उत्तम, मध्यम आदि होने का विचार भी व्यंजना के भीतर आ सकता है। साहित्य अर्थात् कवि-निबद्ध वाङ्मय में चारों ओर व्यंजना की ही लीला तो दृष्टिगोचर होती है। अतः व्यंजना-व्यापार के भेदों का विवेचन करना हो यहाँ समीचीन समझा गया है। मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी व्यंजना के प्रकरण में ध्वनि और रस का प्रतिपादन नहीं किया है। व्यंजना उनके मूल में अवश्य रहती है। ये व्यंजना के ही फल तो हैं।

अब हम शब्दों की बहिरंग परीक्षा के संबंध में संक्षेप में कुछ लिखेंगे। भिन्न भिन्न वस्तुओं तथा व्यक्तियों के भिन्न भिन्न नाम देखकर यह जानने की उत्कंठा होती है कि अमुक वस्तु का यह नाम क्यों पड़ा? एक प्रांत, देश अथवा धर्म के लोगों का नाम दूसरे प्रांत, देश अथवा धर्म के लोगों से भिन्न क्यों हैं? इस विषय का विवेचन करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि भाषा किसी वस्तु के नाम द्वारा उसका पूर्ण और ठीक ठीक ज्ञान नहीं करा सकती। नाम के लिये प्रायः ऐसे

चीजों के नाम कैसे पड़ते हैं?

शब्द चुने जाते हैं जो किसी वस्तु के संकेतमात्र हों और बहुत लंबे न हों, नहीं तो प्रयोग में कठिनाई होती है, जैसे सूर्य (मूल अर्थ=आकाश में भ्रमण करनेवाला), पृथिवी (जो बहुत विस्तृत हो), सर्प (टेढ़ा चलनेवाला), पर्वत (पोरोंवाला) इत्यादि।

प्राय: वस्तुओं के नाम किसी विशेष गुण के कारण पड़ते हैं। परंतु जब एक वस्तु का कोई नाम पड़ जाता है तब वह उस वस्तु का संकेत हो जाता है। पीछे से चाहे पता लग जाय कि वह नाम उस वस्तु के गुणों के उपयुक्त नहीं है, फिर भी उसका नाम परिवर्तित नहीं होता। मोटर यद्यपि हवा से नहीं चलती, फिर भी हवा के वेग से चलने के कारण एक बार उसका नाम हवागाड़ी पड़ गया तो वह नाम परिवर्तित नहीं हुआ। अंग्रेजी का मोटर शब्द व्यवहार में आ गया है पर शहर से दूर दूरवाले गाँवों में उसे अभी हवागाड़ी ही कहते हैं। इसी प्रकार म्यूजियम (Museum) के लिये जादूघर का प्रयोग होता है। कभी कभी वस्तुओं का नाम बड़े विचित्र ढंग से पड़ता है। जैसे ग्रंथ (मूल अर्थ=गाँठ दिया हुआ); वंशी (बाँस से बनी हुई चीज)।

कभी कभी एक भाषा के नाम जब दूसरी भाषा में जाते हैं तब उनकी पुनरावृत्ति (Repetition) हो जाती है; जैसे पाव रोटी (पाव=रोटी, पुर्त्तगाली), मलयगिरि (मलय=पर्वत, द्रविड़)। इसी प्रकार अंग्रेज लोग Nilgiri (नीलगिरि) के साथ hills के प्रयोग करते हैं। कभी कभी लोग विंध्याचल पहाड़ भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि विदेशी भाषा के शब्दों की व्युत्पत्ति न मालूम होने के कारण संपूर्ण शब्द एक व्यक्तिवाचक नाम मान लिया जाता है और फिर अपनी भाषा का नाम उसमें जोड़ दिया जाता है।

व्यक्तियों के नामों में बड़ी विचित्रता पाई जाती है। वस्तुओं के नाम में तो थोड़े बहुत लक्षण या गुण पाए जाते हैं, पर व्यक्तियों के नाम में इसका बिलकुल विचार नहीं किया जाता। अत्यंत निर्धन व्यक्ति का नाम धनपति या कुबेर तथा अंधे व्यक्ति का नाम पद्मलोचन या पुंडरीकाक्ष हो सकता है। इसी प्रकार धनवान् व्यक्तियों के तीन कौड़ी,

पच कौड़ी, दमड़ी, छ कौड़ी, आदि नाम भी पाए जाते हैं। शैशवावस्था में जब किसी का नाम नन्हें, छोटू या बच्चन पड़ जाता है तो बुढ़ापे तक वही चला जाता है। राम का नाम लोगों को इतना प्यारा है कि कुछ अर्थ न हो तो भी नाम के पूर्व राम जोड़ देते हैं; जैसे रामचीज, रामवृत्त, रामसुमेर इत्यादि। कभी कभी दो भाषाओं के शब्दों का समास होकर नाम बनता है। जैसे रामबक्स (बख्श) संत-बक्स इत्यादि।

कभी कभी पुल्लिंग नाम का संक्षिप्त रूप स्त्रीलिंग हो जाता है; जैसे राधाकृष्ण का राधे, श्यामाचरण का श्यामा, उमाशंकर का उमा, रमाकांत का रमा, लक्ष्मीशंकर का लक्ष्मी, नलिनीमोहन का नलिनी इत्यादि।

भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतो के नाम लिखने की विभिन्न प्रथा है। उत्तरी भारत में प्रायः सर्वत्र अपना नाम और आस्पद लिखने की प्रथा है। जैसे रामप्रसाद सिंह, कृष्णचन्द्र शुक्ल, श्यामापति पांडेय, सत्यदेव उपाध्याय इत्यादि। शर्मा से ब्राह्मण-मात्र और वर्मा से क्षत्रियमात्र का बोध होता है। कभी कभी आस्पद न लिखकर जाति लिखते हैं। जैसे दुर्गाप्रसाद खत्री, रामसुमेर तेली, रामसुख कोइरी इत्यादि। कोई कोई नाम के साथ अपने पुरुषाओं का पेशा लिखते हैं। जैसे मोहनलाल सर्राफ, रविशंकर जौहरी, हरिनारायण चौधरी इत्यादि। युक्तप्रान्त में और बिहार में कभी कभी केवल नाम ही लिखते हैं, जिससे उनकी जाति या कुल का पता नहीं लग सकता। जैसे रामकिशोर, रामदास, सोहनलाल, सुखदेव इत्यादि। काश्मीरियों के आस्पद सुनने में विचित्र से लगते हैं। जैसे कुंजरू, गुर्टू, टकरू, काटजू, कौल, मुल्ला, दर, तनखा इत्यादि। इसी प्रकार मारवाड़ियों के नाम भी, जो प्रायः जन्मस्थान के नाम पर पड़ते हैं, सुनने में कुछ अद्भुत से जान पड़ते हैं। जैसे झुंझुनवाला, बिड़ला, चमरिया इत्यादि। खत्रियों में भी कक्कड़, मेहरा, मेहरोत्रा, टंडन आदि आस्पद पाए जाते हैं।

गुजरात और महाराष्ट्र के लोगों का नाम अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण रहता है। उनके नाम से उनके विषय में अनेक बातें विदित हो जाती हैं। इन प्रांतों में प्रायः सर्वत्र अपना नाम, पिता का नाम और आस्पद लिखते हैं। जैसे बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, महादेव गोविंद रानडे इत्यादि। कभी कभी आस्पद न लिखकर गाँव के नाम में 'कर' लगाकर लिखते हैं। जैसे महादेव गोविंद कानिटकर, रामनाथ पंढरीनाथ दांडेकर इत्यादि। पारसी लोग एक सीढ़ी और भी बढ़े हुए हैं। उनके यहाँ अपना नाम, पिता का नाम, पितामह का नाम और गाँव का नाम सब कुछ एक साथ लिखते हैं। जैसे आई. जे. एस. तारापुरवाला। मद्रास में स्थान का नाम सबसे पहले रखते हैं। जैसे तांजोर माधोराय, चित्तर शंकरन नायर।

स्थानों के नाम प्रायः किसी न किसी कारण से पड़ते हैं। वरुणा और अस्सी के बीच में बसने के कारण काशी का नाम वाराणसी या बनारस पड़ा। कभी कभी गाँव या नगर बसानेवाले के नाम पर अथवा किसी की स्मृति में उसके नाम पर किसी गाँव या नगर का नाम पड़ जाता है—सुंदरपुर, केशवपुर, नारायणपुर, गोरखपुर, यादवेंद्रनगर, शाहजहांनाबाद, अकबराबाद, इत्यादि। युक्त-प्रांत में 'पुर' वाले गाँव या नगर बहुत पाए जाते हैं। मुसलमानों के बसाए हुए नगरों के अंत में 'आबाद' पाया जाता है। कभी कभी पुर, गंज या गढ़ भी पाया जाता है। शाहगंज, शाहपुर, अकबरपुर, आजमगढ़। अँगरेजों के नाम पर भी 'गंज' वाले स्थान पाए जाते हैं। जैसे राबर्टगंज, कर्नलगंज। कभी कभी विदेशियों के नाम अपनी भाषा के उच्चारण के अनुरूप बना लिए जाते हैं। जैसे Macdonell से मुग्धानल इत्यादि। इसी प्रकार ठाकुर से टैगोर, बसु से बोस, सिंह से सिनहा इत्यादि हो गए हैं।

यह विषय बड़ा रोचक और स्वतंत्ररूप से अनुसंधान करने के योग्य है। संसार के समस्त देशों और जातियों के नामों का इतिहास सचमुच एक मनोरंजक वस्तु होगी।

आरंभ में ही हम कह देना चाहते हैं कि भारतीय लिपि को विदेशी सिद्ध करने और उसकी प्राचीनता को अमान्य करने में तो अधिकांश विदेशी विद्वान् एक मत हैं किंतु भारत की आदिम ब्राह्मी लिपि किस विदेशी लिपि की अनुकृति है, और किस समय के आसपास यह अनुकरण हुआ, इन तात्विक प्रश्नों पर किन्हीं भी दो विद्वानों का मत नहीं मिला। इन दोनों आरोपों की संदिग्धता इतने से ही परिलक्षित हो जाती है।

विदेशी मतों की परीक्षा

उदाहरणार्थ कुछ विद्वान् ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति हिअरेटिक-मिस्र की, कुछ क्युनिफार्म असीरिया की, कुछ फिनिशियन अथवा उसकी हिमिअरेटिक शाखा से, कुछ अरमइक, और कुछ खरोष्ठी लिपि से मानते हैं। आइजक टेलर का मत है कि इनमें से कोई भी लिपि ब्राह्मी से नहीं मिलती अतः उसकी उत्पत्ति किसी अज्ञात लिपि से हुई होगी जिसका अब तक पता नहीं चला। संभवतः वह ओमन, हड्रमांट या ओमंज़ के खंडहरों की किसी विलुप्त लिपि की संतान है। राइस डेविस इस मत को भी प्रामाणिकता नहीं देता उसका कथन है कि यूफ्रेटिस नदी के तराई की किसी प्राचीन लिपि से ब्राह्मी लिपि का आविर्भाव हुआ होगा।

इसी प्रकार समय के संबंध में भी अत्यधिक मतवैभिन्य है। जहाँ एक ओर बर्नेल आदि अनेक विद्वान् अशोक के कुछ ही पूर्व ब्राह्मी लिपि का प्रचलित होना ठहराते हैं वहीं प्रसिद्ध विदेशी अनुसंधानक वेबर लिखता है कि संभवतः भारतीयों ने सेमेटिक अक्षरों के आधार पर ब्राह्मी की सृष्टि ईसवी पूर्व १००० के आसपास की होगी।

इन मत-मतांतरों के आधार पर भारतीय लिपि की उत्पत्ति के संबंध में कोई प्रामाणिक निष्कर्ष निकालना अत्यंत कठिन है। फिर जब हम उन तर्कों या प्रमाणों की ओर ध्यान देते हैं जिनके आधार पर ये स्थापनाएँ की गई हैं तब इनकी प्रमाणिकता और भी डावाँडोल हो जाती है, और हम मौन साधकर रह जाते हैं। कभी कभी तो ऐसी

युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं जिन पर किसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता, जो एकदम भ्रांत है।

ब्राह्मी लिपि की सेमेटिक उत्पत्ति का खंडन

उदाहरण के लिए ब्राह्मी लिपि की सेमेटिक उत्पत्ति का एक मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि आरंभ में ब्राह्मी लिपि भी सेमेटिक लिपियों की ही भाँति दाहिने से बाएँ लिखी जाती थी और कुछ समय पश्चात् वह दाहिनी ओर से बाईं लिखी जाने लगी। इसका एक-मात्र मुख्य प्रमाण एरण का सिक्का है जिसमें ब्राह्मी अक्षर दाहिनी ओर से बाईं ओर को पढ़े जाते हैं। किंतु यह तो स्पष्टतः सिक्के की मुहर खुदाई की गलती है, जैसा कि भारतीय सिक्कों में अनेक बार पाई गई है। मुहर बनाने में अक्षरों को उल्टे क्रम से लिखना भूल जाने पर यह त्रुटि प्रायः रह जाती है। भारतीय ही नहीं विदेशी सिक्कों में भी, प्राचीन ही नहीं नवीन सिक्कों में भी यह स्वाभाविक त्रुटि अनेक बार पाई गई है। अतः यह सेमेटिक से अनुकृत नहीं।

बूलर ने ब्राह्मी लिपि को विदेशी सेमेटिक लिपि की अनुकृति बताते हुए जो पुस्तक लिखी है, उसे देखने पर प्रकट होता है कि उनके तर्क, योजनाएं और युक्तियाँ एकदम संदेहास्पद हैं और प्रामाणिकता से बहुत दूर हैं। वेबर और बूलर पहले यह निष्कर्ष बना लेते हैं कि ब्राह्मी लिपि विदेशी अनुकरण है, फिर उसे सिद्ध करने के लिये तर्कों की योजना करते हैं। ऐसा करने में उनसे अन्याय की ही आशा की जा सकती है। बूलर ने फिनिशियन अक्षरों से ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध करते हुए दो मोटी बातों का ध्यान नहीं रक्खा। एक तो उन्होंने समान उच्चारणवाले अक्षरों का आधार न रखकर असमान उच्चारण-वाले अक्षरों को भी अनुकरण का मूल मान लिया है, जो संभव नहीं है, अथवा अत्यंत संदिग्ध है। अनुकरण समान उच्चारण के आधार पर ही हो सकता है, अन्य किसी आधार पर नहीं और फिर उसने इन दोनों लिपियों के इस मौलिक भेद का ध्यान नहीं रक्खा कि सेमेटिक अक्षरों का ऊपरी भाग मोटा और नीचे का भाग महीन या

नुकीला होता है किंतु ब्राह्मी लिपि के अक्षर ठीक इसके विपरीत गुणवाले होते हैं।

४. दूसरी बात यह है कि उसने दोनो लिपियों की तुलना करते हुए मूल फिनिशियन अक्षरों को प्रत्येक प्रकार से उलटा पलटा है, उनके मूल रूप में नहीं रक्खा जब अनुकृति ही करनी थी तो अक्षरों का स्वरूप बदलने की क्या आवश्यकता पड़ी थी।

५. तीसरी बात यह है कि बूलर केवल ब्राह्मी लिपि को ही नहीं खरोष्ठी को भी फिनिशियन का अनुकरण मानता है। ऐसी अवस्था में ब्राह्मी और खरोष्ठी के बीच जो समानता होनी चाहिए वह क्यों नहीं पाई जाती। अशोक के शिलालेखों में दोनों ही लिपियों का व्यवहार हुआ है किंतु दोनों में जमीन आसमान का अंतर है।

इन सब तर्कों के बाद जब हम यह देखते हैं कि ब्राह्मी अक्षरों की संख्या फिनिशियन या किसी भी सेमेटिक लिपि के अक्षरों की संख्या

ब्राह्मी अक्षरों की स्वतंत्रता

में कहीं अधिक है, और उनको सजाने की—क्रम-बद्ध करने की—परिपाटी भी स्वतंत्र हैं, वे ध्वनि पर आधारित हैं और वे अक्षर वर्णमूलक हैं चित्रमूलक नहीं। इस लिपि में मात्राएँ स्वतंत्र होती हैं और अक्षरों के साथ लगती हैं। मात्राओं के ह्रस्व और दीर्घ आदि भेद भी होते हैं जो अन्य लिपियों में नहीं पाए जाते। तब आपसे आप यह प्रश्न होता है कि भारतीय जब अपने अक्षरों का इतना स्वतंत्र विकास कर सकते थे तो उन्हें कुछ थोड़े से विदेशी अक्षरों की अनुकृति करने में क्या लाभ दिखा था। वस्तुत यह मौलिक है और उत्तरभारत की सभी लिपियाँ इसी से

सारांश यह कि ब्राह्मी लिपि को विदेशी सिद्ध करनेवालों के तर्क सब तरह से अपूर्ण और संदिग्ध हैं तथा कहीं भी विश्वास नहीं उत्पन्न करते। यदि ऐसे तर्कों का आधार लिया जाय तो संसार के किसी भी भूभाग में प्रचलित लिपि की अनुकृति बताया जा सकता है, किंतु ऐसा करना औचित्य और प्रमाण के सर्वथा विरुद्ध होगा।

नवीनतम अनुसंधान जो मोहेंजोदड़ो और हरप्पा में हुए हैं भारत में लिपि की अत्यन्त प्राचीनता (ई० पू० ३०००-४००० वर्ष पीछे) का परिचय देते हैं किंतु लिपियों की खोज का परिणाम का अब तक निर्णय नहीं हुआ। अतः संप्रति उक्त आधार की चर्चा नहीं की जायगी। उसे छोड़कर अब अन्य साधन का विचार करते हुए, हमें यह देखना है कि भारतवर्ष में लेखन का प्रचलन किस समय से आरंभ हुआ। इस संबंध में सबसे पहली बात यह ध्यान देने की है कि इस देश में लिखने के साधन प्रचुर मात्रा में और अनेक प्रकार के पाए जाते थे, यथा—तालपत्र, भूर्जपत्र और रूई या कपड़े के बने कागज। लेखनी वर्णन के लिये भी यहाँ कई वस्तुओं का प्रयोग किया जाता था और अक्षर काटने के लिये शलाकाएँ भी काम में आती थीं। कई रंगों की रोशनाई बनाई जाती थी। कागज को चिकना करने के लिये हाथी दाँत, शंख आदि का व्यवहार होता था।

भारत में लेखन का प्राचीन प्रचलन

किंतु मिस्र देश में जहाँ ई० पू० दो हजार वर्ष पूर्व के लिखे अक्षर प्राप्त होते हैं, वहाँ भारत में इतने पुराने ग्रंथों का न मिलना एक आकस्मिक बात है। इसका मुख्य कारण भारत की उष्ण जलवायु है जिसमें लेखाधार नष्ट हो जाते हैं, टिकाऊ नहीं होते। दूसरा मुख्य कारण ऐतिहासिक है। विदेशी आक्रमणों के कारण यहाँ की बहुत सी प्राचीन सामग्री नष्ट-भ्रष्ट और विलुप्त हो गई है।

प्राचीन ग्रंथ लिपिबद्ध न मिलने के कारण

तथापि इस बात में संदेह नहीं है कि भारतीय वेद इस देश के ही नहीं संसार भर के आदि ग्रंथ हैं और इतना विशाल वैदिक साहित्य बिना लिपिबद्ध हुए स्थिर नहीं रह सकता था। यद्यपि वेदों के श्रुति नाम के आधार पर यह कहा जाता है कि वेदों का लेखन नहीं हुआ था, वे एक कंठ से दूसरे कंठ मौखिक रूप से चले आ रहे थे और प्राचीन लिखित ग्रंथ का अनादर करने की परिपाटी भी पूर्वकाल से अब तक

लेखनी की वेदकालीन उत्पत्ति

प्रचलित है किंतु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि लेखन की अपेक्षा कंठस्थ करने की परिपाटी अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। स्वयं बूलर लिखता है कि यह अनुमान अकाट्य है कि वैदिक काल में भी लिखित ग्रंथों का उपयोग शिक्षा तथा अन्य कार्यों में हुआ करता था। बोथलिंग नामक विद्वान् का मत है कि साहित्य के प्रचार के लिये नहीं किंतु नए ग्रंथों के प्रणयन के लिये लिपि का उपयोग किया जाता था।

वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथ मिलकर वृहत् आकार धारण करते हैं, जो बिना लिपिबद्ध हुए केवल मौखिक आधार पर नहीं रह सकते थे। पद्य और गीत ही नहीं, गद्य अवतरणों का बिना लिखे प्रचलन होना असंभव सा रहता है। ऐसी अवस्था में वैदिक गद्य, लेख रूप में अवश्य आया होगा। वैदिक छंदों की परिगणना की गई थी, यह कार्य भी लेखन सापेक्ष्य है। वेदों में लिंग और वचन आदि के भेदों का उल्लेख है, जिससे वैदिक व्याकरण का भी आभास मिलता है। व्याकरण का लिपिबद्ध होना अनिवार्य है। पारिभाषिक शब्दों की चर्चा बिना लिखित आधार के नहीं हो सकती।

वेदों में संख्याओं की भी यथेष्ट परिगणना है। यजुर्वेद संहिता में गणक का उल्लेख है जिसका अर्थ गणित करनेवाला ज्योतिषी होता है। उसमें दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्ध तक की संख्याएँ मानी गई हैं जो क्रमशः दस से दस खर्व तक होती हैं। इन संख्याओं का ज्ञान लिखे-पढ़े व्यक्तियों को ही हो सकता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक आर्यों को लिखना पढ़ना आता था और वे अक्षरों से ही नहीं अंकों से भी संभवतः परिचित थे।

संख्या और अंक

वैदिक-काल के पश्चात् बौद्ध-काल में तो लेखन कार्य व्यवस्थित रूप से प्रचलित हो गया होगा। विनयपिटक में, जो महात्मा बुद्ध के

समय या उसके कुछ ही पश्चात् की कृति है, लेख अथवा लेखन कला की प्रशंसा की गई है। जातक ग्रंथों में पोत्थक-पुस्तक का तथा राजकीय-पत्रों, व्यक्तिगत-पत्रों, ऋण-पत्रों आदि का उल्लेख किया गया है।

बौद्धकाल के उल्लेख

पाणिनि के व्याकरण के पूर्व यास्क का निरुक्त लिखा गया जिसमें अनेकानेक पूर्ववर्ती वैयाकरणों का उल्लेख है यथा औदुंबरायण, कौष्टुकी, शाकपूणि, शाकटायन आदि। पाणिनि में इनमें से गार्ग्य, शाकटायन, गालव और शाकल्य के नाम मिलते हैं। यह संभव नहीं कि इन पूर्ववर्ती वैयाकरणों की रचना अलिखित रही हो क्योंकि उनके मतों का हवाला मौखिक आधार पर कोई कैसे दे सकता है।

महाभारत, स्मृति, कौटिल्य-अर्थशास्त्र और कात्यायन-कामसूत्र आदि ग्रंथों में लेखन कार्य की स्थान-स्थान पर चर्चा है।

यूनानी निआर्कस जो प्रसिद्ध सम्राट् अलेकजेंडर का सेनापति था और भारतवर्ष आया था, कहता है कि रूई को कूट-कूट कर कागज बनाना और उस पर लिखना भारतवासी भली-भाँति जानते हैं। मेगस्थनीज ने धर्मशालाओं तथा दूरी का पता बतानेवाले पाषाणों का उल्लेख किया है तथा जन्मपत्र और पञ्चागों के उपयोग की बात लिखी है और यह भी लिखा है कि न्याय स्मृति के अनुसार होता है। निश्चय ही यह स्मृतियाँ लिखित ग्रंथ के रूप में रही होंगी।

परवर्ती प्रमाण

ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी के आसपास से ब्राह्मी अक्षरों में लिखे शिलालेख अजमेर के निकट बड़ली और नेपाल की तराई के पिप्रावा ग्राम में पाए गए हैं। इस समय तक इस लिपि का परिपूर्ण विकास हो चुका था।

अशोक के शिलालेखों में यह लिपि सार्वदेशीय बन चुकी थी और इसमें स्थानीय भेद भी आने लगे थे जो लिपि की विकसित अवस्था के द्योतक हैं।

पुराणों में उल्लेख है कि पुस्तक लिखकर दान करना पुण्य का कार्य है। चीनी यात्री हुएन-त्सांग बीस घोड़ों पर ६५७ पुस्तकें लादकर भारत से चीन लौटा था। निश्चय ही ये पुस्तकें उसे गृहस्थों, भिक्षुओं, राजाओं और मठाधीशों से दान में मिली होंगी। इससे सूचित होता है कि पुस्तक लेखन की प्रचुरता भारतवर्ष में उसी समय हो चुकी थी, जब विदेशों में वह विरलता से प्राप्त थी।

उपर्युक्त साक्ष्य को ध्यान में रखते हुए हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि भारत की ब्राह्मी लिपि एक स्वतंत्र लिपि है। उसका प्रादुर्भाव वैदिक-काल में ही भारतीय आर्यों द्वारा हुआ था। हम जहाँ एक ओर यह मानने को तैयार नहीं हैं कि ब्रह्मा जी ने अपने हाथ ब्राह्मी लिपि का निर्माण सृष्टि के आदि में किया, वहीं हम यह भी नहीं स्वीकार कर सकते कि यह लिपि हमने विदेशियों से सीखी और इसका प्रचलन उस समय हुआ जब पश्चिमी एशिया और मिस्र में लेखन कार्य एक सहस्र वर्ष या उससे भी अधिक काल से चल रहा था।

ब्राह्मी लिपि संबंधी निष्कर्ष

तंत्र-ग्रंथों में देव-नागरी वर्णमाला का जो विवरण मिलता है उसके आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि हमारी वर्णमाला अनादि है, हमें तंत्र-ग्रंथों के निर्माण के समय की खोज करनी चाहिए, तब हम देवनागरी लिपि के संबंध में अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

जहाँ तक खरोष्ठी लिपि का संबंध है, यह भी अशोक-काल के पूर्व भारतवर्ष में प्रचलित हो चुकी थी। यह सेमेटिक लिपियों की शैली पर अवश्य चली थी किंतु इसका भी स्वतंत्र विकास भारतभूमि में हुआ था। इसका प्रसार भारत के बाहर दूर-दूर तक था और यूनानी सिक्कों में भी इस लिपि का प्रचलन देखा जाता है। खरोष्ठी लिपि विदेशियों के भारत-वासियों से संसर्ग होने पर बनी। यह भारत के पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत से लेकर सुदूर ईरान तक फैली थी। यह व्यापारियों और अह-

खरोष्ठी लिपि

लकारों की लिपि थी। उस समय भारत का व्यापार उत्तर पश्चिमी मार्ग से बहुत अधिक हुआ करता था। इस लिपि में ब्राह्मी लिपि की भाँति स्वरों तथा उनकी मात्राओं में ह्रस्व-दीर्घ का भेद न था और संयुक्ताक्षर भी बहुत कम व्यवहृत होते थे। यह लिपि ब्राह्मी-लिपि की भाँति वैज्ञानिक न बन पाई, यद्यपि यह व्यवहार में बराबर आती रही और ईसा की तीसरी शताब्दी तक इसका प्रचलन पंजाब आदि भारत के पश्चिमी प्रांतों में था। तत्पश्चात् यह धीरे-धीरे लुप्त हो गई और इसका स्थान ब्राह्मी-लिपि ने ले लिया।

देवनागरी तथा अन्य लिपियाँ

भारत की वर्तमान सभी लिपियाँ ब्राह्मी लिपि की ही वंशजा हैं। यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि इतने बड़े देश में सुदूर दक्षिण की लिपियाँ उत्तर की दूरस्थ लिपियों की सहोदरा भगिनी हों किंतु लिपि-वेत्ताओं ने इस संबंध में शंका के लिए कोई स्थान नहीं रक्खा है। ब्राह्मीलिपि की दो प्रधान शाखाएँ मानी जाती हैं एक उत्तरी शाखा और दूसरी दक्षिणी शाखा। समस्त भारत की वर्तमान लिपियाँ उर्दू को छोड़कर इन्हीं दोनों शाखाओं के अंतर्गत आती हैं।

भारतीय लिपियों की उत्पत्ति और विकास के संबंध में ऊपर के विवरण के साथ कुछ चित्र देने भी आवश्यक हैं जिनसे यह पता लग जाय कि १—ब्राह्मी लिपि किसी सेमेटिक लिपि की अनुकृति नहीं है और जिससे यह भी ज्ञात हो सके कि २—भारत की वर्तमान लिपियाँ किस प्रकार ब्राह्मीलिपि से ही विकसित और अनुवर्तित होकर बनी हैं। ये ही दो मुख्य स्थापनाएँ भारतीय लिपियों के संबंध में हमें करनी थीं और इन चित्रों को देखने के पश्चात् पाठकों को इस विषय में दृढ़ निश्चय हो सकेगा। इसी आशय से ये चित्र यहाँ दिए जा रहे हैं जिनके लिये स्वर्गीय महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी के अत्यधिक अनुगृहीत हैं।

नागरी अंकों की उत्पत्ति

नागरी लिपि की उत्पत्ति

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति

सामिटिक वर्णमालाओं के अक्षरों का मिलान

आठवाँ प्रकरण

प्रागैतिहासिक खोज

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि यद्यपि जाति और भाषा का प्राय: घनिष्ठ संबंध स्थापित किया जाता है, परंतु वास्तव में कोई विशेष भाषा किसी विशेष जाति की संपत्ति नहीं होती।

भाषा और जाति

जिस प्रकार मनुष्य-मात्र धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन और कला-कौशल की उन्नति करके उसे अपनी विशिष्ट संपत्ति बना लेता है, उसी प्रकार भाषा पर भी अधिकार किया जाता है। जिस प्रकार स्थिति के अधीन होकर धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के आदर्शों तथा कला-कौशल के उद्देश्यों का विनिमय होता है, उसी प्रकार भाषा का भी विनिमय होता है। यदि सुयोग मिले तो हर एक मनुष्य प्रत्येक भाषा सीख सकता है, चाहे वह उसके पूर्वजों की भाषा हो, चाहे विदेशियों की। इस प्रकार मनुष्यों का कोई विशिष्ट समाज भी इस भाषा-संपत्ति का अर्जन कर सकता है। जिस प्रकार किसी विशिष्ट समाज में भिन्न भिन्न जातियों या वंशों के लोग सम्मिलित हो जाते हैं, एक ही भाषा बोलने लगते हैं और दूसरी भाषा का नाम तक नहीं जानते, उसी प्रकार बड़े बड़े समाजों में भी भिन्न भिन्न लोग सम्मिलित होकर अपनी अपनी जातीय भाषा भूलकर उसी समाज में प्रचलित भाषा को ग्रहण कर लेते हैं। भारतवर्ष में पारसी या मुसलमान समुदाय के लोग इसके बड़े अच्छे उदाहरण हैं। पारसी लोग गुजरात में बस जाने के कारण अपने पूर्व-पुरुषों की भाषा छोड़कर गुजराती भाषा का व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार पंजाब या बंगाल में बसे हुए मुसलमान पंजाबी या बँगला भाषाओं का प्रयोग करते हैं। हूण और सीदियन लोगों ने प्राचीन समय में

भारतवर्ष पर अनेक आक्रमण किए थे। जिस समय वे यहाँ आए थे, उस समय वे अपने पूर्वजों की भाषा बोलते थे। पर यहाँ बस जाने पर अब वे भारतवर्ष की भिन्न भिन्न जातियों में दूध-चीनी की भाँति मिल गए हैं; और जिस प्रकार उनके हूणत्व या सीदियनत्व का अब कहीं चिह्न भी नहीं देख पड़ता, उसी प्रकार उनकी भाषाओं का भी कहीं पता ठिकाना नहीं है। जाति और भाषा का सम्मिश्रण साथ-साथ होता है और दोनों क्रमशः एक दूसरी पर अवलंबित रहती हैं; परंतु दोनों के मिश्रण की मात्रा एक सी नहीं हो सकती। भिन्न भिन्न अवस्थाओं तथा भौगोलिक स्थितियों के कारण उनके मिश्रण की मात्रा में भी भेद रहता है। अतएव किसी जाति की भाषा को उस जाति का अनिवार्य या सहज चिह्न नहीं मान सकते।

आर्यों का आदिम निवासस्थान।

हम पहले लिख चुके हैं कि भिन्न भिन्न भाषाओं की परस्पर तुलना करके उनकी शाब्दिक तथा व्याकरणिक समानता के आधार पर हम भाषाओं के वर्ग स्थिर करते हैं। ऐसे वर्गों में भारोपीय, सेमेटिक, हेमेटिक, युराल-अल्ताई, द्राविड़, एकाक्षर, काकेशस, बांतू आदि मुख्य वर्ग हैं। इन सबका साधारण वर्णन पीछे दिया जा चुका है। यहाँ पर हम भारोपीय वर्ग की आर्य शाखा के संबंध में ही कुछ कहेंगे। हम यह भी देख चुके हैं कि आर्य भाषाओं में किस प्रकार शब्दों और भावों में समानता है। उनकी परस्पर तुलना करके हम इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि वे सब भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से निकली हैं। यह सिद्धांत मान लेने पर हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल भाषा से किस प्रकार और क्यों इतनी उपभाषाएँ हो गईं। इसका समाधान यही बात मान लेने से होता है कि आरंभ में उस मूल भाषा के बोलनेवाले किसी एक स्थान में रहते थे और वहाँ से वे भिन्न भिन्न दिशाओं में फैल गए। वे अपनी मूल भाषा अपने साथ लेते गए और भिन्न अवस्थाओं तथा परिस्थितियों के कारण उस मूल भाषा में क्रमशः परिवर्तन होता गया और अंत में उन्होंने अपना अपना अलग

रूप धारण कर लिया। सारांश यह है कि आरंभ में एकता थी। समय पाकर आपस में भेद पड़ गया और साधारणतः अलग स्थिति हो गई। पर भाषा-विज्ञान में इस अलग स्थिति की दीवार को तोड़कर आपस की प्रारंभिक एकता का रूप प्रत्यक्ष दिखा दिया है। हमारा संबंध आर्य भाषाओं से है, अतएव हमें यही जानना है कि आर्य भाषाओं की मूल भाषा बोलनेवाले कौन लोग थे, वे कहाँ रहते थे, उनमें आपस में क्यों वियोग हुआ और उनकी भाषा की इस समय कितनी मुख्य मुख्य शाखाएँ हैं।

आर्य जाति का मूल निवासस्थान कहाँ था? इस प्रश्न पर सबसे प्रथम प्रकाश डालने का श्रेय प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर को है। मैक्समूलर ने इस प्रश्न पर विद्वत्तापूर्वक विचार करके मध्य एशियाई सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि सर्वप्रथम आर्य लोग मध्य एशिया में निवास करते थे और कालांतर में वहीं से पूर्व तथा पश्चिम की ओर फैले। मैक्समूलर के पश्चात् अन्य विद्वानों का ध्यान भी इधर आकर्षित हुआ। आर्यों के मूल निवासस्थान के विषय में भिन्न भिन्न मत प्रचलित हुए। डा० लैथन ने आर्यों को स्कैंडिनेविया का मूलनिवासी बतलाया, एवं अन्य विद्वानों ने बाल्टिक सागर के दक्षिण-पूर्व तट,* जर्मनी के विभिन्न भाग तथा यूरोप के भिन्न भिन्न प्रान्तों को आर्यों का संभाव्य वासस्थान निर्दिष्ट किया। सब से अधिक मान्य सिद्धांत डाक्टर ओ० श्रेडर का है जिन्होंने वाल्गा नदी के मुहाने की भूमि (Lower course of the Volga) को आर्यों का मूल निवास-स्थान बतलाया है। अभी थोड़े ही दिन हुए डा० पीटर गाइल्स ने कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया के प्रथम भाग में इस प्रश्न पर विचार किया है। बहुत यत्न के बाद उन्होंने हंगरी प्रांत में कारपेथियन पर्वत के आसपास के वृत्ताकार स्थान को आर्यों का आदिम स्थान निर्दिष्ट

---

* इसका कारण यह है कि उस प्रांत में बोली जानेवाली आर्यभाषा लिथुआनियन में प्राचीनता के चिह्न अन्य आर्यभाषाओं की अपेक्षा अधिक मिलते हैं।

किया है। भारतीय विद्वान् सर देसाई ने बाल्कश झील के पार्श्ववर्ती स्थान को आर्यों का मूल निवास बतलाया है। उनके मत की पुष्टि के लिये एक प्रबल प्रमाण यह है कि आज भी उक्त स्थान पर सप्तसिंधु अथवा 'सात नदियों का देश' नामक एक प्रांत है। कुछ ही दिन पूर्व हिट्टाइट के जो शिलालेख मिले हैं उनमें वैदिक देवताओं का उल्लेख देखकर बहुत से विद्वान् मेसोपोटामिया को आर्यों का मूलस्थान मानने के पक्ष में हैं। दिवंगत लोकमान्य तिलक ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "आर्क्टिक् होम इन् दी वेदाज़" में अनेक बाह्य एवं आभ्यंतर प्रमाणों के आधार पर आर्यों को उत्तरी ध्रुव के समीप का निवासी सिद्ध किया है। तिलक जी की युक्ति का अधार क्रौल का हिम-युग सिद्धांत था जिसका खंडन हो चुका है। परंतु हिम-युग सिद्धांत का खंडन होने पर भी तिलक जी के मत में कोई बाधा नहीं पड़ती। उनका कहना केवल इतना ही है कि अंतिम हिम-युग का समय मानवजाति के स्मृति-काल में ही था, जिसे वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है।

अब हम इन विभिन्न मतों की संक्षिप्त समीक्षा कर लेना आवश्यक समझते हैं। सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि आर्यजाति के आदिम निवासस्थान के विचार में राष्ट्रीय भाव भी उपस्थित होकर बहुत कुछ बाधा उत्पन्न कर देते हैं। समस्त यूरोप के लोग आर्यों का मूल निवासस्थान अपने महाद्वीप में निर्दिष्ट करने का यत्न करते हैं। एशिया से युरोपीय जातियों के पूर्वपुरुष गए, यहीं उनकी भाषा का जन्म हुआ, यहीं की सभ्यता के आधार पर उनकी सभ्यता का प्रासाद खड़ा हुआ, ये सब बातें युरोपियनों के राष्ट्रीय भावों में—उनके जातीय अभिमान में बट्टा लगाती हैं। इतना ही नहीं, युरोप के भिन्न-भिन्न देशों के लोग भी अपने देश में ही आर्यों के आदिम स्थान की कल्पना करने का यत्न करते हैं। कोई-कोई विद्वान् जिस भाषा के पंडित होते हैं अथवा जिस भाषा से उनका घनिष्ट संबंध होता है, उसी भाषा में प्राचीनता के चिह्न ढूँढ़ने का अधिक यत्न करते हैं और उस भाषा के बोले जानेवाले स्थान को ही आदिम आर्य-निवास ठहराते हैं।

निष्पक्ष भाव से इस प्रश्न पर बहुत कम विद्वानों ने विचार किया है। ऊपर डा० लैथन का उल्लेख हो चुका है। उन्होंने स्कैंडिनेविया को आदिम-आर्य-निवास माना है। इसका कारण स्पष्ट है। डाक्टर साहब स्कैंडिनेवियन भाषाओं के विद्वान् और अध्यापक हैं। इसी से उन्हें स्कैंडिनेविया के अतिरिक्त और कोई स्थान ही न मिला जो आर्यों का मूल निवास माना जाता। एक भारतीय विद्वान् ने उक्त डाक्टर साहब से इस विषय में प्रश्न भी किए थे और हर्ष की बात है कि डाक्टर महोदय ने इस बात को स्वीकार कर लिया था कि आर्यों का आदिम स्थान निर्दिष्ट करने में वे पक्षपात से मुक्त न थे। इसी प्रकार प्रोफेसर श्रेडर भी स्लाविक भाषाओं के अध्यापक हैं और यही कारण है कि वाल्गा नदी के आस-पास ही उन्हें मूल आर्यनिवास के चिह्न मिले।

इस विषय में एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है कि आर्यों का मूल निवासस्थान निर्दिष्ट करने में वृक्षों और प्राणियों के नामों तथा सांसारिक उन्नति के पदार्थों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। भिन्न-भिन्न भाषाओं के व्याकरणों में परस्पर कितना संबंध है, इस पर आवश्यकता से कम ध्यान दिया गया है; और वास्तव में इस विषय में भाषाओं के परस्पर संबंध का महत्त्व बहुत अधिक है। विद्वानों को चाहिए कि भारोपीय-वर्ग की भिन्न-भिन्न भाषाओं की परस्पर तुलना करके इस बात का पता लगावें कि कौन-कौन सी भाषाएँ कब तक एक दूसरी से संबद्ध रही हैं, किस भाषा का किसी विशेष भाषा से अथवा अपनी समकक्ष अन्य भाषाओं से कब विच्छेद हुआ। इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन सचमुच ही आर्यों का आदिम स्थान निर्दिष्ट करने में सहायक होगा।

इस संबंध में तीसरी बात जिस पर कम ध्यान दिया गया है यह है कि जिस समय आर्यों का परस्पर विच्छेद नहीं हुआ था और वे एक ही स्थान में रहते थे, उस समय संसार की भौगोलिक स्थिति वही नहीं थी जो आज है। आज से कम से कम दस सहस्र वर्ष पूर्व एशिया और यूरोप के महाद्वीपों की भौगोलिक स्थिति में आज की अपेक्षा यदि

अधिक नहीं तो कुछ अंतर अवश्य रहा होगा। महाद्वीपों और महा-सागरों की स्थिति तो बहुत कुछ वैसी ही रही होगी जैसी आज है, पर किसी विशेष स्थान की प्राकृतिक दशा आज से बहुत भिन्न रही होगी। जलवायु में भी यथेष्ट परिवर्तन हो गया होगा। मनुष्य के जीवन पर जलवायु का प्रभाव बड़ा महत्त्वशाली होता है। सिद्धांत रूप से तो सभी विद्वान् इन सब बातों का मूल्य स्वीकार करते हैं; पर व्यवहार में लाते समय वे इसके महत्त्व को भूल जाते हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि ऊपर जिन जिन बातों की ओर संकेत किया गया है उनका पूरा पूरा ध्यान रखते हुए यदि विद्वत्समाज आर्यों के आदिम स्थान का पता लगावे तो उसे अधिक सफलता प्राप्त होगी। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने जिन जिन स्थानों को आर्यों का मूल निवासस्थान बतलाया है, बहुत संभव है कि गृहत्याग करने के पश्चात् आर्यों की यात्रा में वे भिन्न भिन्न अस्थायी निवासस्थान अथवा कुछ समय तक आर्य जाति के केंद्र रहे हों। इस संबंध में एक बात और उल्लेखनीय है, और लोकमान्य तिलक ने भी संकेत किया है कि वेंदीदाद (अवेस्ता का एक अंश) के प्रथम अध्याय में जिन जिन स्थानों की गणना की गई है, संभवत: वे उत्तर ध्रुव से ईरान तक की यात्रा के मार्ग में क्रम से भिन्न भिन्न विश्राम स्थल रहे हैं। वेंदीदाद में मूल आर्य निवास का जिस प्रकार का वर्णन है उसे देखकर लोकमान्य तिलक के सिद्धांत की पुष्टि होती है और आर्यों के उत्तर ध्रुव-वासी होने की कल्पना अधिक युक्ति-संगत जान पड़ती है। इस सिद्धांत के मान लेने पर मैक्समूलर आदि विद्वानों के—जिनका यह कहना है कि आर्य लोग मध्य एशिया के वासी थे—मत में भी कोई बाधा नहीं पड़ती; क्योंकि उत्तरी ध्रुव से चल कर ही मध्य एशिया से आर्य आ सकते हैं। प्रसिद्ध भारतीय इतिहासज्ञ अविनाशचंद्र दास ने आर्यों का आदिम निवासस्थान सप्तसिंधु में माना है। बहुत से अन्य विद्वानों ने भी इस मत का समर्थन किया है। भाषा-विज्ञान की सहायता से भी कुछ विद्वानों ने आर्यों को सप्तसिंधु का मूल निवासी ठहराया है। पर अभी तक इस मत को भी सब विद्वानों

ने एक स्वर से स्वीकार नहीं कर लिया है। जो हो, अभी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आर्यों का मूल निवासस्थान कहाँ था। हाँ, इतना तो निश्चित जान पड़ता है कि एशिया के मध्य भाग में ही आर्यों का परस्पर विच्छेद हुआ और उनकी एक शाखा पश्चिम में यूरोप की ओर गई तथा दूसरी शाखा दक्षिण-पूर्व की ओर ईरान तथा भारतवर्ष में आई। यहाँ तक तो आर्यों के मूल निवासस्थान के विषय में विचार किया गया, पर अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य की उत्पत्ति पहले पहल कहाँ हुई। इस संबंध में भी विद्वानों में बहुत मतभेद है और विषय इतना बड़ा है कि इस छोटी सी पुस्तक में उस पर विचार करने के लिये स्थान नहीं है। हम संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि मानवसृष्टि की उत्पत्ति किसी एक स्थान में न होकर अनेक स्थानों में एक साथ या लगभग एक ही समय में हुई होगी।

ऐसा जान पड़ता है कि मध्य एशिया से आर्यों के दो दल हो गए थे। एक दल पूर्व-दक्षिण की ओर गया और दूसरा पश्चिम की ओर।

आर्यों की पश्चिमी शाखा

जो दल पश्चिम की ओर गया, वह कैस्पियन समुद्र-तट तक तो अविभक्त रहा, पर वहाँ उसकी अनेक शाखाएँ हो गईं और समय समय पर अनेक शाखाएँ भिन्न भिन्न दिशाओं में गईं और नई नई जातियों, भाषाओं, राज्यों तथा सभ्यताओं का विकास करने में समर्थ हुईं। क्रमशः ये समस्त यूरोप में फैल गईं। पहले एक शाखा, जिसे केल्ट कहते हैं, डैन्यूब नदी के किनारे तक गई। इसके अनंतर ट्यूटन शाखा भी वहीं पहुँची। उसने केल्ट शाखा के लोगों को खदेड़ कर पश्चिम की ओर आगे बढ़ा दिया और आप वहाँ बस गई। तीसरी शाखा स्लेवोनियन ने रूस की ओर प्रस्थान किया और वहाँ से क्रमशः इलीरिया, पोलैंड और बोहीमिया में फैल गई। चौथी शाखा ने यूनान और पाँचवीं शाखा ने दक्षिण की ओर इटली में जाकर अपना डेरा जमाया।

जो दल दक्षिण-पूर्व की ओर गया, वह पहले पहल आक्सस और जरक्सीज नदियों के किनारे जा बसा। अतएव हम कह सकते हैं

कि उनका पहला निवासस्थान खीवा का शाद्वल था। वहाँ से उन नदियों के किनारे किनारे उद्गमों की ओर बढ़ते बढ़ते वे खोकंद और बदख्शाँ की ऊँची भूमि में आ बसे। यहाँ तक वे मिले-जुले रहे, उनमें कोई भेदभाव नहीं हुआ। पर यहाँ से उनके भी दो दल हो गए-एक फारस की ओर चला गया और दूसरा काबुल नदी की उपत्यका में से होता हुआ भारतवर्ष में आ बसा। जो लोग फारस की ओर गए उनकी भाषा में क्रम क्रम से परिवर्तन होता गया और अंत में वह ईरानी भाषा के नाम से प्रख्यात हुई। जो दल भारतवर्ष में आया, उसकी भाषा का नाम संस्कृत हुआ। आर्यों की इस शाखा, उनकी भाषा संस्कृत और उससे उत्पन्न अन्यान्य भारतीय भाषाओं के संबंध में पिछले प्रकरणों में कहा गया है; अतः यहाँ हम उनके संबंध में थोड़ी सी मुख्य बातों ही का उद्धरण करके इस विषय को समाप्त करते हैं।

आर्यों की दूसरी शाखा

अब पहला प्रश्न जो हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, यह है कि आर्यों का अपने मूल निवासस्थान में क्यों विच्छेद हुआ और उनके दल पूर्व और पश्चिम की ओर क्यों गए। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उत्तर की ओर से मंगोल जाति के लोगों ने उन्हें खदेड़ना और सताना आरंभ कर दिया था। इससे घबरा कर उनके दल पूर्व और पश्चिम की ओर निकल गए थे। साथ ही यह भी संभव है कि उनके आदिम निवासस्थान के जलवायु में परिवर्तन हो गया हो और वहाँ वर्षा कम होने लग गई हो जिससे अपने पशुओं के साथ उनका वहाँ रहना कठिन हो गया हो। यह भी संभव है कि उनकी संख्या इतनी बढ़ गई हो कि सबका वहाँ बसना कठिन हो गया हो; अथवा आपस में लड़ाई झगड़े के कारण ही विच्छेद हो गया हो। उस समय का कोई इतिहास न मिलने के कारण केवल अनुमान से ही काम लेना पड़ता है। अतएव जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऐतिहासिक और भौगोलिक हेतुओं से अथवा गृहकलह के कारण आर्य लोग नवीन स्थानों की खोज में निकले थे।

आर्यों का विच्छेद

इस प्रकार हमने देख लिया कि आर्यों की पूर्वी शाखा से संस्कृत और ईरानी का संबंध है और पश्चिमी शाखा से आरमीनियन, यूनानी आलबैनियन, इटैलियन, केल्टिक, जर्मन, स्लेहानिक और तुखारियन भाषाओं का संबंध है। इनमें से तुखारियन भाषा का पता इस शताब्दी के आरंभ (१९०३-०५) में लगा है। महाभारत में भी तुखार जाति का उल्लेख है और यूनानियों के प्राचीन ग्रंथों में भी उसका वर्णन मिलता है।

आर्यों की भाषाएँ

प्राचीन आर्यों की भाषा का वास्तविक रूप क्या था, इसका पता लगाना बहुत कठिन है। उस प्राचीन भाषा की कोई पुस्तक या लेख आदि नहीं मिलते। आर्य जाति की सबसे प्राचीन पुस्तक जो इस समय प्राप्त है, ऋग्वेद है। इसकी ऋचाओं की रचना भिन्न भिन्न समयों और भिन्न भिन्न स्थानों में हुई है। ध्यानपूर्वक देखने पर मंत्रों की भाषा में विभेद देख पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन समय में जब आर्य सप्तसिंधु प्रदेश में थे, तभी उनकी बोलचाल की भाषा ने कुछ कुछ साहित्यिक रूप धारण कर लिया था, पर तो भी उसके अनेक भेद बने रहे। वेदों के संपादन-काल में मंत्रों का भाषा-विभेद बहुत कुछ दूर किया गया। तिस पर भी यह स्पष्ट है कि वेदों की भाषा पर उस समय की कुछ प्रांतीय अथवा देशभाषाओं का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा था। ज्यों ज्यों आर्यगण अपने आदिम स्थान से फैलने लगे और तत्कालीन अनार्यों से संपर्क बढ़ाने लगे, त्यों त्यों भाषा भी विशुद्ध न रह कर मिश्रित होने लगी। विभिन्न स्थानों के आर्य विभिन्न प्रकार के प्रयोग काम में लाते थे। कोई 'क्षुद्रक' कहता था तो कोई 'क्षुल्लक'। युवं, युवां और वां तीनों प्रकार के प्रयोग होते थे। एक 'ड' भिन्न भिन्न स्थानों में ल, ळ, ढ, ळह सभी बोला जाता था। "इस प्रकार जब विषमता उत्पन्न हुई और एक स्थल के आर्यों को अन्य स्थल के अधिवासी अपने ही सजातियों की बोली समझने में कठिनाई होने लगी तब उन लोगों ने अपनी भाषा में व्यवस्था करने का उद्योग किया। प्रांतीयता का मोह छोड़ कर सार्वदेशिक सर्वबोध्य और अधिक प्रचलित

शब्द टकसाली माने गए। भाषा प्रादेशिक से राष्ट्रीय बन गई। अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग बंद हुआ। कम से कम साहित्यिक और सार्वजनिक व्यवहारों में सभी लोग टकसाली भाषा का प्रयोग करने लगे। इसलिये भाषा भी मँज सँवर कर संस्कृत (= शुद्ध) हो गई। सुंदर, व्यापक और सर्वगम्य होने के कारण साहित्य-रचना इसी में होने लगी एवं उसका तात्कालिक रूप आदर्श मानकर व्यवस्था अक्षुण्ण रखने के लिये पाणिनि आदि वैयाकरणों ने नियम बनाए। वेदों की भाषा कुछ कुछ व्यवस्थित होने पर भी उतनी स्थिर और अपरिवर्तनशील न थी जितनी उसकी कन्या संस्कृत बन गई। वैयाकरणों ने नियमों से जकड़कर संस्कृत को अमर तो बना दिया पर वह अमरता उसके लिये भार हो गई। उसका प्रवाह रुक गया और साधारण बोलचाल की भाषा न रह जाने के कारण वह केवल साहित्य और धर्मग्रंथों की भाषा हो गई। इधर बोलचाल की भाषा का प्रवाह स्वच्छंद गति से चलता रहा। अनार्यों के संपर्क का सहारा पाकर प्रांतीय बोलियों का विकास हुआ। इन प्रांतीय बोलियों में स्वच्छंदता बहुत थी। वैदिक भाषा के समान ही वे भी स्थिर और अपरिवर्तनशील न थीं। अतएव अपनी प्रकृत स्वच्छंदता के कारण ही वे प्राकृत कहलाईं। इस बात की पुष्टि में बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं कि प्राचीन वैदिक भाषा से ही प्राकृतों की उत्पत्ति हुई है, अर्वाचीन संस्कृत से नहीं।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, आरंभ से ही जनसाधारण की बोलचाल की भाषा प्राकृत थी। बोलचाल की भाषा के प्राचीन रूप के ही आधार पर वेद-मंत्रों की रचना हुई थी और उसका प्रचार ब्राह्मण ग्रंथों तथा सूत्र-ग्रंथों तक में रहा। पीछे से वह परिमार्जित होकर संस्कृत रूप में प्रयुक्त होने लगी। बोलचाल की भाषा का अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ। वह भी बनी रही। पर इस समय के प्राचीनतम उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। उसका सबसे प्राचीन रूप जो हमें इस समय प्राप्त है, वह अशोक के लेखों तथा प्राचीन बौद्ध और जैन-ग्रंथों में है। इन्हीं को हम प्राकृत का प्रथम रूप मानने के लिये बाध्य होते

हैं। उस रूप को 'पाली' नाम दिया गया है। पाली के अनंतर हमें साहित्यिक प्राकृत के दर्शन होते हैं। इसके चार मुख्य भेद माने गए हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी। इनमें से महाराष्ट्री सबसे प्रधान मानी गई है। महाराष्ट्री एक प्रकार से उस समय राष्ट्र भर की भाषा थी। इसलिये यहाँ राष्ट्र शब्द समस्त राष्ट्र का बोधक भी माना जा सकता है। शौरसेनी मध्यदेश की प्राकृत है और शूरसेन देश (आधुनिक ब्रजमंडल) में इसका प्रचार होने के कारण यह शौरसेनी कहलाई। मागधी का प्रचार मगध (आधुनिक बिहार) में था। अर्धमागधी मागधी और शौरसेनी के बीच के प्रदेश की भाषा थी पर इसमें अन्य भाषाओं का भी मिश्रण था। शुद्ध मागधी न होने के कारण ही इसका नाम अर्धमागधी था।

क्रमशः इन प्राकृतों ने भी संस्कृत की भाँति साहित्यिक रूप धारण किया और बोलचाल की भाषा इनसे भिन्न हो चली। यह बोलचाल की भाषा अब 'अपभ्रंश' नाम से अभिहित होने लगी। विद्वानों का अनुमान है कि भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न प्रकार की अपभ्रंश बोली जाती थी। जब इस अपभ्रंश में भी काव्यों की रचना होने लगी, तब आधुनिक देशभाषाओं का विकास आरंभ हुआ। जो प्रमाण मिलते हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषाओं में कविता होती थी। प्राकृत भाषा के अंतिम वैयाकरण हेमचंद्र ने, जो बारहवीं शताब्दी में हुए थे, अपने व्याकरण में अपभ्रंशों के नमूने दिए हैं। जान पड़ता है कि उसी समय से अथवा उससे कुछ पूर्व से अपभ्रंशों में से संयोगात्मकता जाती रही थी और वियोगात्मकता ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया था। इन्हीं अपभ्रंशों से आगे चलकर आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म और विकास हुआ।

आर्य भाषाओं की पूर्वी शाखा की दूसरी प्रधान भाषा ईरानी है। हम पहले कह चुके हैं कि आर्यों की पूर्वी शाखा में आरंभ में कोई भेद नहीं था। बदख्शाँ और खोकंद की ऊँची भूमि तक वे साथ साथ

आए थे। वहाँ से एक दल फारस की ओर चला गया। उस दल की प्राचीन भाषा का नाम मीड़ी या मीरी मिलता है। इस भाषा की दो शाखाएँ हुई—एक के उदाहरण तो हमें पारसियों के आदिम धर्मग्रंथ अवेस्ता की भाषा में मिलते हैं और दूसरी के उदाहरण दारा के शिलालेखों में हैं। दारा के शिलालेखों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, उसे पुरानी ईरानी भी कहते हैं। इससे क्रमशः पह्लवी भाषा का विकास हुआ जिसमें सेसेनियन वंश के राजाओं के लेख तथा अवेस्ता का भाष्य लिखा मिलता है। इस पह्लवी से क्रमशः वर्तमान फारसी की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार ईरानी भाषा के तीन रूप हुए—प्राचीन ईरानी या अवेस्ता की भाषा, पह्लवी और फारसी।

आदिम आर्यों की सभ्यता

आर्य-वंश की भाषाओं के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान ने एक और बड़ा काम किया है। जब आर्यों के आदिम स्थान के विषय में खोज होने लगी और विद्वानों ने भिन्न भिन्न स्थानों को आर्यों का मूल निवासस्थान बतलाया तब स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि वे किस प्रकार जीवन निर्वाह करते थे, उनकी चाल-ढाल, रहन-सहन कैसी थी; अर्थात् यह पता लगाया जाने लगा कि उनकी सभ्यता किस कोटि की थी। उनका कोई पुराना इतिहास तो था ही नहीं जिसके आधार पर इस जिज्ञासा की तृप्ति हो सकती। विद्वानों ने यह जानने का उद्योग किया कि आर्य-वंश की भिन्न भिन्न भाषाओं में किन किन पदार्थों आदि के लिये एक से शब्द हैं। क्रमशः इनका संग्रह किया गया और इनके आधार पर यह सिद्धांत स्थिर किया गया जब एक ही पदार्थ के सूचक एक ही प्रकार के शब्द भिन्न भिन्न आर्य भाषाओं में हैं तब वह पदार्थ आदिम आर्यों को अवश्य विदित होगा। इस प्रकार उन आर्यों की सभ्यता का एक इतिहास प्रस्तुत किया गया। इस कार्य में पुरातत्त्व ने भी सहायता दी। पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने पुरानी वस्तुओं की खोज से जो प्राचीन इतिहास उपस्थित किया था, उसका भाषा-विज्ञान द्वारा उपलब्ध इतिहास से मिलान किया गया; और जब दोनों एक ही सिद्धांत पर पहुँचे, तब यह

मान लिया गया कि इस सिद्धांत के ठीक होने में कोई संदेह नहीं है। पर एक बात यहाँ ध्यान में रख लेना आवश्यक है। पुरातत्त्व प्राप्त पदार्थों के आधार पर अपने सिद्धांत स्थिर करता है; अतएव वह भौतिक सभ्यता के जानने में तो हमारा सहायक हो सकता है, पर उस आदिम जाति की मानसिक उन्नति या विकास के जानने में किसी प्रकार की सहायता नहीं दे सकता। यहाँ भाषा विज्ञान ही हमारा एक-मात्र सहायक है और उसी की कृपा से हम इसका इतिहास उपस्थित करने में समर्थ होते हैं।

इन आधारों पर हम आदिम आर्य जाति के इतिहास को निम्न-लिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवन, (२) वास, (३) पेय पदार्थ, (४) व्यवसाय और व्यापार, (५) समय का विभाग, (६) वंश, (७) जाति और (८) दंड-विधान तथा धर्म।

पालतू पशुओं में गधे, खच्चर और बिल्ली को छोड़ कर उक्ष, गो, शूकर, अवि और अश्व के लिये प्रायः समान शब्द मिलते हैं। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि इन पशुओं को आर्य लोग पालते थे। संस्कृत के गवेषण और गविष्टि शब्दों से, जिनका अर्थ वेदों में 'संपत्ति की खोज' लिया जाता है, यह अनुमान किया जा सकता है कि इन पशुओं को आर्य लोग संपत्ति समझते थे और उनकी वंश-वृद्धि की ओर ध्यान देते थे। प्राचीन समय में यौतुक और दक्षिणा भी गौ में दी जाती थी। उस समय आजीविका का मूल पशु या उनसे उत्पन्न पदार्थ ही थे। गवाशिर और गव्य शब्द यह भाव प्रदर्शित करते हैं कि दूध या दूध से बने हुए पदार्थ भोजन के लिये काम में लाए जाते थे। मांस और मज्जा के समवाची शब्द भी यह बतलाते हैं कि ये पदार्थ भी काम में आते थे। पच, चरु, उखा आदि शब्द भोजन के पकाने आदि के सूचक हैं। सारांश यह कि प्राचीन आर्य पशुओं का पालन करते थे; उनसे उत्पन्न पदार्थों का उपयोग करते थे; उनके चमड़े और ऊन से अपना शरीर ढकते थे; और भोजन पकाना जानते थे। खेती के लिये

गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवन

आवश्यक वस्तुओं, जैसे बीज, हल और पेड़ों तथा अनाजों आदि के नाम दोनों शाखाओं में प्रायः अलग अलग हैं जिससे यह अनुमान होता है कि खेती करना उन्होंने पीछे से और अलग अलग सीखा। शिकार करना वे जानते थे। जंगली जानवरों जैसे वृक, ऋक्ष, उद्र आदि के लिये भी प्रायः समान शब्द मिलते हैं।

जन, विश्, पूः, दम, द्वार, स्थूल आदि शब्द यह बात सिद्ध करते हैं कि ये लोग छोटे छोटे गाँवों में रहते थे, मकान बनाते थे, उनमें दर्वाजे लगाते थे और उनको छाते थे।

वास

मधु और उनके समवाची मृदु, मेथू, मेट्र्, मीड शब्द यह सिद्ध करते हैं कि प्राचीन समय में यह पेय पदार्थ था। यह कोई मीठा पदार्थ रहा होगा। सोम के लिये अवेस्ता की भाषा में हाओम शब्द मिलता है, परंतु अभी इसके संबंध में यह निश्चय नहीं हो सका है कि यह पौधा कौन था।

पेय पदार्थ

व्यापार का स्वरूप पदार्थों का विनिमय था। जहाँ यह नहीं हो सकता था, वहाँ मूल्य में गौएँ दी जाती थीं। व्यापार प्रायः बाहर के लोग करते थे जिनसे घृणा की जाती थी। पदार्थों के तौलने नापने आदि का भी विधान था। लोहा, ताँबा आदि धातुएँ भी ज्ञात थीं। कपड़ा बुनना, सीना और तीर बनाना भी उन्हें आता था। मिट्टी, लोहे आदि के बर्तन बनाना भी वे जानते थे। तक्षण शब्द बड़ा पुराना है, जिससे कह सकते हैं कि बढ़ई का व्यवसाय भी उस समय होता था। गिनती गिनना भी वे जानते थे।

व्यवसाय और व्यापार

वर्ष तथा ऋतुओं में हेमंत, समा (गर्मी), शरद आदि का आर्यों को ज्ञान था। महीनों तथा दिन-रात (दाव, नक्त) के विभागों से भी वे परिचित थे।

समय का विभाग

भिन्न भिन्न संबंधों को सूचित करने के लिये आर्यों की दोनों शाखाओं में एक से शब्द हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि अति प्राचीन

काल में वे इन संबंधों को स्थापित कर चुके थे। लड़की के लिये प्राचीन संस्कृत शब्द 'दुहिता' है जिसकी उत्पत्ति कुछ लोगों ने 'दुह्' धातु से मानी है; और उससे यह सिद्धांत निकाला है कि उसका काम गौएँ दुहने का था, जिससे उसका यह नाम पड़ा। निरुक्त में इस शब्द की उत्पत्ति यह मानी गई है कि जो दुःख से कष्ट से, हरण की जा सके। इस व्युत्पत्ति में विवाह की प्रथा का प्राचीन इतिहास मिला हुआ है। 'वधू' और 'वहतु' शब्द भी इसी व्युत्पत्ति का समर्थन करते हैं। पति, पत्नी और दंपती के भावसूचक शब्द भी इसी प्रकार का पारस्परिक संबंध प्रकट करते हैं।

वंश

साधारण लोगों के लिये प्राचीन 'जन' शब्द मिलता है जिसका साम्य लैटिन Genit अँगरेजी Generic आदि में देख पड़ता है। जनों के समुदाय के लिये विश् शब्द का प्रयोग होता था और उनके नायक 'विश्पति' कहलाते थे। यदि अनेक विश् मिलकर एक हो जाते थे, तो उनका नायक राजा कहलाता था। इसका चुनाव 'सभा' (गॉथिक सिब्जा, जर्मन सिप्पे) या समिति में होता था। (देखो ऋ० १०, १२४-८- विशो न राजानं वृणाना: । ऋ० ९, ९२-६- राजा न सत्य: समितीरियान: ।) अतएव इनकी शासन-पद्धति भी थी, यह इससे स्पष्ट सिद्ध होता है।

जाति आदि

किसी के प्राण ले लेने पर घातक को प्राणदंड मिलता था। कभी कभी वह जुर्माना देकर भी इस दंड से बच जाता था। वैर, वीर आदि शब्दों की व्युत्पत्ति से भी इस प्रकार के दंड का आभास मिलता है। ईश्वर और आत्मा में विश्वास तथा अग्नि, वरुण, इंद्र आदि की पूजा का विधान भी पाया जाता है।

दंड-विधान

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन आर्यों में बहुत बातों में समानता थी। भिन्न भिन्न स्थानों में बसने, भिन्न भिन्न जलवायु में पालित-पोषित होने तथा प्रकृति की भिन्न भिन्न स्थितियों में पड़ जाने

के कारण आर्यों की भिन्न भिन्न जातियों ने अपनी अपनी सभ्यता का अलग अलग विकास किया। पर इनका मूल एक ही जान पड़ता है और भाषा-विज्ञान इस प्राचीन इतिहास के लुप्तप्राय पृष्ठ खोलकर हमारे सम्मुख उपस्थित करता है।

परिशिष्ट

हिंदी स्वरों और व्यंजनों का भाषा-वैज्ञानिक वर्णन

(१) अ—यह ह्रस्व, अर्द्धविवृत, मिश्र स्वर है अर्थात् इसके उच्चारण में जिह्वा की स्थिति न बिलकुल पीछे रहती है और न बिलकुल आगे। और यदि जीभ की खड़ी स्थिति अर्थात् ऊँचाई-निचाई का विचार करें तो इस ध्वनि के उच्चारण में जीभ नीचे नहीं रहती—थोड़ा सा ऊपर उठती है इससे उसे अर्द्धविवृत मानते हैं। इसका उच्चारण-काल केवल एक मात्रा है। उदाहरण—अब, कमल, घर, में अ, क, म, घ। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि हिंदी शब्द और अक्षर के अंत में अ का उच्चारण नहीं होता। ऊपर के ही उदाहरणों में व, ल, र, में हलंत उच्चारण होता है—अ का उच्चारण नहीं होता। पर इस नियम के अपवाद भी होते हैं जैसे दीर्घ स्वर अथवा संयुक्त व्यंजन का परवर्ती अ अवश्य उच्चरित होता है; जैसे—सत्य, सीय। 'न' के समान एकाक्षर शब्दों में भी अ पूरा उच्चारित होता है; पर यदि हम वर्णमाला में अथवा अन्य किसी स्थल में क, ख, ग आदि वर्णों को गिनाते हैं तो अ का उच्चारण नहीं होता अतः 'क' लिखा रहने पर भी ऐसे प्रसंगों में वह हलंत क् ही समझा जाता है।

समानाक्षर

(२) आ—यह दीर्घ और विवृत पश्च स्वर है और प्रधान आ से बहुत कुछ मिलता जुलता है। यह अ का दीर्घ रूप नहीं है क्योंकि दोनों में मात्रा-भेद ही नहीं, प्रयत्न-भेद और स्थान-भेद भी है। अ के उच्चारण में जीभ बीच में रहती है और आ के उच्चारण में बिलकुल पीछे रहती है अतः स्थान-भेद हो जाता है। यह स्वर ह्रस्व रूप में व्यवहृत नहीं होता।

उदा०—आम, आदमी, काम, स्थान।

(३) ऑ—अँगरेजी के कुछ तत्सम शब्दों के बोलने और लिखने में ही इस अर्धविवृत पश्च ऑ का व्यवहार होता है। इसका स्थान आ से ऊँचा और प्रधान स्वर ऑ से थोड़ा नीचा होता है।

उदा०—कॉङ्ग्रेस, लॉर्ड।

(४) ऑ—यह अर्धविवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। अर्थात् इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग (=जिह्वामध्य) अर्धविवृत पश्च प्रधान स्वर की अपेक्षा थोड़ा ऊपर और भीतर की ओर जाकर दब जाता है। होठ गोल रहते हैं। इसका व्यवहार व्रजभाषा में पाया जाता है।

उदा०—अवलोकि हों॑ सोच-विमोचन को (कवितावली, बालकांड १); वरु मारिए मोहिं विना पग धोए हों॑ नाथ न नाव चढ़ाइहों॑ जू (कवितावली, अयोध्याकांड ६)।

(५) ऑ—यह अर्धविवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। प्रधान स्वर ओ से इसका स्थान कुछ ऊँचा है। इसका व्यवहार भी व्रजभाषा में ही मिलता है।

उदा०—वाकॉ, ऐसॉ, गयॉ, भयॉ।

ओ से इसका उच्चारण भिन्न होता है इसी से प्रायः लोग ऐसे शब्दों में 'ओ' लिख दिया करते हैं।

(६) ओ—यह अर्धसंवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। प्रधान स्वर ओ की अपेक्षा इसका स्थान अधिक नीचा तथा मध्य की ओर झुका रहता है। व्रजभाषा और अवधी में इसका प्रयोग मिलता है। पुनि लेत सोइ जेहि लागि अरैं (कवितावली, बालकांड, ४), ओहि केर बिटिया (अवधी बोली), सोनार।

(७) ओ—यह अर्धसंवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। हिंदी में यह प्रधान मान-स्वर है। संस्कृत में भी प्राचीन काल में ओ संध्यक्षर था पर अब तो न संस्कृत ही में यह संध्यक्षर है और न हिंदी में।

उदा०—ओर, ओला हटो, घोड़ा ।

(८) उ—यह संवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है । इसके उच्चारण में जिह्वामध्य अर्थात् जीभ का पिछला भाग कंठ की ओर काफी ऊँचा उठता है पर दीर्घ ऊ की अपेक्षा नीचा तथा आगे मध्य की ओर झुका रहता है ।

उदा०—उस, मधुर, ऋतु ।

(९) उ$_0$—यह जपित ह्रस्व संवृत पश्च वृत्ताकार स्वर है । हिंदी की कुछ बोलियों में 'जपित' अर्थात् फुसफुसाहटवाला उ भी मिलता है ।

उदा०—ब्र० जातुउ$_0$, ब्र० आवतुउ$_0$; अव० भोरुउ$_0$ ।

(१०) ऊ—यह संवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है । इसका उच्चारण प्रधान स्वर ऊ के स्थान से थोड़े ही नीचे होता है । इसके उच्चारण में ह्रस्व उ की अपेक्षा ओठ भी अधिक संकीर्ण (बंद से) और गोल हो जाते हैं ।

उदा०—ऊसर, मूसल, आलू ।

(११) ई—यह संवृत दीर्घ अग्र स्वर है । इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ऊपर कठोर तालु के बहुत निकट पहुँच जाता है तो भी वह प्रधान स्वर ई की अपेक्षा नीचे ही रहता है । और होठ भी फैले रहते हैं ।

उदा०—ईश, अहीर, पाती ।

(१२) इ—यह संवृत ह्रस्व अग्र स्वर है । इसके उच्चारण में जिह्वा-स्थान ई की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा तथा पीछे मध्य की ओर रहता है और होठ फैले और ढीले रहते हैं ।

उदा०—इमली, मिठाई, जाति ।

(१३) इ$_0$—यह इ का जपित रूप है । दोनों में अंतर इतना है कि इ नाद और घोष ध्वनि है पर इ$_0$ जपित है । यह केवल ब्रज, अवधी आदि बोलियों में मिलती है ।

उदा०—ब्र० आवतइ, अव० गोलि$_0$ ।

(१४) ए—यह अर्धसंवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका उच्चारण-स्थान प्रधान स्वर ए से कुछ नीचा है।

उदा०—एक, अनेक, रहे।

(१५) एॖ—यह अर्धसंवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ए की अपेक्षा नीचा और मध्य की ओर रहता है। इसका भी व्यवहार विभाषाओं और बोलियों में ही होता है।

उदा०—ब्र०-अवधेस के द्वारे सकारे गई (कवितावली) अव० ओहि केर बेटवा।

(१६) एॖ॰—नाद ए का यह जपित रूप है और कोई भेद नहीं है। यह ध्वनि भी साहित्यिक हिंदी में नहीं है, केवल बोलियों में मिलती है; जैसे—अवधी कहेॖ॰ से।

(१७) ऍ—यह अर्धविवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका स्थान मान स्वर ऍ से कुछ ऊँचा है। ऑ के समान ऍ भी व्रज की बोली की विशेषता है।

उदा०—ऍसो, कॅसो।

(१८) ऍॖ—यह अर्धविवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। यह दीर्घ ऍ की अपेक्षा थोड़ा नीचा और भीतर की ओर झुका रहता है।

उदा०—'सुत गोद कॅ भूपति लै निकसे' में कॅ। हिंदी संध्यक्षर ऐ भी शीघ्र बोलने से ह्रस्व समानाक्षर ऍॖ के समान सुन पड़ता है।

(१९) अ—यह अर्धविवृत स्वार्ध मिश्र स्वर है और हिंदी 'अ' से मिलता जुलता है। इसके उच्चारण में जीभ 'अ' की अपेक्षा थोड़ा और ऊपर उठ जाती है। जब यह ध्वनि काकल से निकलती है तब काकल के ऊपर के गले और मुख में कोई निश्चित क्रिया नहीं होती; इससे इसे अनिश्चित (Indeterminate) अथवा उदासीन (neutral) स्वर कहते हैं। इस पर कभी बल-प्रयोग नहीं होता। अँगरेजी में इसका संकेत ə है। पंजाबी भाषा में यह ध्वनि बहुत शब्दों में सुन पड़ती है; जैसे—पं० रहम, बचारा (हिं० विचारा), नौकर। कुछ लोगों का मत है

कि यह उदासीन अ पश्चिमी हिंदी की पश्चिमी बोली में भी पाया जाता है। अवधी में तो यह पाया ही जाता है; जैसे—सोरही, रामूक।

आजकल की टकसाली खड़ी बोली के उच्चारण के विचार से इन १९ अक्षरों में से केवल ९ ही विचारणीय हैं—अ, आ, ऑ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। उनमें भी ऑ केवल विदेशी शब्दों में प्रयुक्त होता है अर्थात् हिंदी में समानाक्षर आठ ही होते हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी में ह्रस्व ऍ और ओ का भी व्यवहार होता है; जैसे—ऍक्का, सोनार, लोहार। शेष विशेष स्वर विभाषाओं और बोलिओं में ही पाए जाते हैं।

खड़ी बोली के स्वर

ऊपर वर्णित सभी अक्षरों के प्रायः अनुनासिक रूप भी मिलते हैं पर इनका व्यवहार शब्दों में सभी स्थानों पर नहीं होता—कुछ विशेष स्थानों पर होता है। हिंदी की बोलियों में बुँदेली अधिक अनुनासिक-बहुला है।

अनुनासिक स्वर

अनुनासिक और अननुनासिक स्वरों का उच्चारण-स्थान तो वही रहता है; अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में केवल कोमल तालु और कौआ कुछ नीचे झुक जाते हैं जिससे हवा मुख के अतिरिक्त नासिका-विवर में भी पहुँच जाती है और गूँजकर निकली है। इसी से स्वर 'अनुनासिक' हो जाते हैं। उदाहरण—

अँ—अँगरखा, हँसी, गँवार।
आँ—आँसू, बाँस, साँचा।
इँ—बिँदिया, सिँघाड़ा, धनिँया।
ईं—ईंट, ईंगुर, सींचना, आईं।
उँ—घुँघची, बुँदेली, मुँह।
ऊँ—ऊँघना, सूँघना, गेहूँ।
एँ—गेंद, ऐंचा, बातें।

इसके अतिरिक्त ब्रज के लों, सों, हों में आदि अवधी के वें टुआ गोँठिवा (गाँठ में बाँधूँगा) आदि शब्दों में अन्य विशेष स्वरों के अनुनासिक रूप भी मिलते हैं।

संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर

संध्यक्षर उन असवर्ण स्वरों के समूह को कहते हैं जिनका उच्चारण श्वास के एक ही वेग में होता है अर्थात् जिनका उच्चारण एक अक्षर-वत् होता है। संध्यक्षर के उच्चारण में मुखावयव एक स्वर के उच्चारण-स्थान से दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान की ओर बड़ी शीघ्रता से जाते हैं जिससे साँस के एक ही झोंके में ध्वनि का उच्चारण होता है और अवयवों में परिवर्तन स्पष्ट लक्षित नहीं होता। क्योंकि इस परिवर्तन-काल में ही तो ध्वनि स्पष्ट होती है। अतः संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर एक अक्षर हो जाता है; उसे ध्वनि-समूह अथवा अक्षर-समूह मानना ठीक नहीं। पर व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो कई स्वर निकट आने से इतने शीघ्र उच्चरित होते हैं कि वे संध्यक्षर से प्रतीत होते हैं। इससे कुछ विद्वान् अनेक स्वरों के संयुक्त रूपों को भी संध्यक्षर मानते हैं।

हिंदी में सच्चे संध्यक्षर दो ही हैं और उन्हीं के लिये लिपि-चिह्न भी प्रचलित हैं। (१) ऐ ह्रस्व अ और ह्रस्व ए की संधि से बना है; उदा०—ऐसा कैसा, वैर। और (२) औ ह्रस्व अ और ह्रस्व ओ की संधि से बना है; उदा०—औरत, चौनी, कौड़ी, सौ। इन्हीं दोनों ऐ, औ का उच्चारण कई बोलियों में अइ, अउ के समान भी होता है; जैसे—पैसा और मौसी, पइसा और मउसी के समान उच्चरित होते हैं।

यदि दो अथवा अनेक स्वरों के संयोग को संध्यक्षर मान लें तो भैया, कौआ, आओ, बोए आदि में अइआ, अउआ, आओ, ओए आदि संध्यक्षर माने जा सकते हैं। इन तीन अथवा दो अक्षरों का शीघ्र उच्चारण मुखद्वार की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होते समय किया जाता है, इसी से इन्हें लोग संध्यक्षर मानते हैं। इनके अतिरिक्त ब्रज, अवधी आदि बोलियों में अनेक स्वर-समूह पाए जाते हैं जो संध्यक्षर जैसे उच्चरित होते हैं। उदा०—(ब्र०) अइसो, गऊ और (अवधी) होइहैं, होउ आदि।

व्यंजन

(१) क़—यह अल्पप्राण श्वास, अघोष, जिह्वामूलीय, स्पर्श व्यंजन है। इसका स्थान जीभ तथा तालु दोनों की दृष्टि से सबसे पीछे है। इसका उच्चारण जिह्वामूल और कौए के स्पर्श से होता है। वास्तव में यह ध्वनि विदेशी है और अरबी फारसी के तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है। प्राचीन साहित्य में तथा साधारण हिंदी में क़ के स्थान पर क हो जाता है।

स्पर्श-व्यंजन

उदा०—क़ाबिल, मुक़ाम, ताक़।

(२) क—यह अल्पप्राण, अघोष, कंठ्य स्पर्श है। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग अर्थात् जिह्वामध्य कोमल तालु को छूता है। ऐसा अनुमान होता है कि प्रा० भा० आ० काल में कवर्ग का उच्चारण और भी पीछे होता था क्योंकि कवर्ग 'जिह्वामूलीय' माना जाता था। पीछे कंठ्य हो गया। कंठ्य का अर्थ गले में उत्पन्न (guttural) नहीं लिया जाता। हम पहले ही लिख चुके हैं कि कंठ कोमल तालु का पर्याय है, अतः कंठ्य का अर्थ है 'कोमल-तालव्य'।

उदा०—कम, चकिया, एक।

(३) ख—यह महाप्राण, अघोष, कंठ्य स्पर्श है। क और ख में केवल यही भेद है कि ख महाप्राण है।

उदा०—खेत, भिखारी, सुख।

(४) ग—अल्पप्राण, घोष, कंठ्य स्पर्श है।

उदा०—गमला, गागर, नाग।

(५) घ—महाप्राण, घोष, कंठ्य-स्पर्श है।

उदा०—घर, घिघाना, बघारना, करघा।

(६) ट—अल्पप्राण, अघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है। मूर्धा से कठोर तालु का सबसे पिछला भाग समझा जाता है पर आज समस्त टवर्गी ध्वनियाँ कठोर तालु के मध्यभाग में उलटी जीभ के नोक के

स्पर्श से उत्पन्न होती हैं। तुलना की दृष्टि से देखा जाय तो अवश्य ही मूर्धन्य वर्णों का उच्चारण-स्थान तालव्य वर्णों की अपेक्षा पीछे है। वर्णमाला में कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य और दंत्य वर्णों को क्रम से रखा जाता है इससे यह न समझना चाहिए कि कंठ के बाद तालु और तब मूर्धा आता है। प्रत्युत कंठ्य और तालव्य तथा मूर्धन्य और दंत्य वर्णों के परस्पर संबंध को देखकर यह वर्णक्रम रखा गया है—वाक् से वाच् का और विकृत से विकट का संबंध प्रसिद्ध ही है।

उदा०—टीका, रटना, चौपट।

अँगरेजी में ट, ड, ध्वनि नहीं हैं। अँगरेजी t और d वर्त्स्य हैं अर्थात् उनका उच्चारण ऊपर के मसूढ़े को बिना उलटी हुई जीभ की नोक से छूकर किया जाता है; पर हिंदी में वर्त्स्य ध्वनि न होने से बोलनेवाले इन अँगरेजी ध्वनियों को प्रायः मूर्धन्य बोलते हैं।

(७) ठ—महाप्राण, अघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है।

उदा०—ठाट, कठघरा, माठ।

(८) ड—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य, स्पर्श व्यंजन है।

उदा०—डाक, गाडर, गँडेरी, टोडर, गड्ढा, खंड।

(९) ढ—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य स्पर्श है।

उदा०—ढकना, ढीला, पंढ, पंढरपूर, मेढक।

ढ का प्रयोग हिंदी तद्भव शब्दों के आदि में ही पाया जाता है। पंढ संस्कृत का और पंढरपूर मराठी का है।

(१०) त—अल्पप्राण; अघोष, दंत्य-स्पर्श है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक दाँतों की ऊपरवाली पंक्ति को छूती है।

उदा०—तब, मतवाली, बात।

(११) थ—त और थ में केवल यही भेद है कि थ महाप्राण है।

उदा०—थोड़ा, पत्थर, साथ।

(१२) द—इसका भी उच्चारण त की भाँति होता है। यह अल्पप्राण, घोष, दंत्य स्पर्श है।

उदा०—दादा, मदारी, चोदी।

(१३) ध—महाप्राण, घोष, दंत्य स्पर्श है।

उदा०—धान, बधाई, आधा।

(१४) प—अल्पप्राण, अघोष, ओष्ठ्य स्पर्श है। ओष्ठ्य ध्वनियों के उच्चारण में दोनों ओठों का स्पर्श होता है और जीभ से सहायता नहीं ली जाती। यदि कोई ओष्ठ्य वर्ण शब्द अथवा 'अक्षर' के अंत में आता है तो उसमें केवल स्पर्श होता है, स्फोट नहीं होता।

उदा०—पत्ता, अपना, बाप।

(१५) फ—यह महाप्राण, अघोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—फूल, बफारा, कफ।

(१६) ब—अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—बीन, धोबिन, अब।

(१७) भ—यह महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—भला, मनभर, साँभर, कभी।

(१८) च—च के उच्चारण में जिह्वोपाग्र ऊपरी मसूढ़ों के पास के तात्वग्र का इस प्रकार स्पर्श करता है कि एक प्रकार की रगड़ होती है अतः यह घर्ष-स्पर्श अथवा स्पर्श-संघर्षी ध्वनि मानी जाती है। तालु की दृष्टि से देखें तो कंठ के आगे टवर्ग आता है और उसके आगे चवर्ग अर्थात् चवर्ग का स्थान आगे की ओर बढ़ गया है।

घर्ष-स्पर्श

च—अल्पप्राण, अघोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श व्यंजन है।

उदा०—चमार, कचनार, नाच।

(१९) छ—महाप्राण, अघोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है।

उदा०—छिलका, कुछ, कछार।

(२०) ज—अल्पप्राण, घोष, तालव्य स्पर्श-घर्ष वर्ण है।

उदा०—जमना, जाना, काजल, आज।

(२१) झ—महाप्राण, घोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है।

उदा०—झाड़, सुलझाना, बाँझ।

(२२) ङ—घोष, अल्पप्राण, कंठ्य, अनुनासिक स्पर्श-ध्वनि है। इसके उच्चारण में जिह्वामध्य कोमल तालु का स्पर्श करता है और कौआ सहित कोमल तालु कुछ नीचे झुक आता है जिससे कुछ हवा नासिका-विवर में पहुँचकर गूँज उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार स्पर्श-ध्वनि अनुनासिक हो जाती है।

अनुनासिक

शब्दों के बीच में कवर्ग के पहले ङ सुनाई पड़ता है। शब्दों के आदि या अंत में इसका व्यवहार नहीं होता। स्वर-सहित ङ का भी व्यवहार हिंदी में नहीं पाया जाता।

उदा०—रंक, शंख, कंघा, भंगी।

(२३) ञ—घोष, अल्पप्राण, तालव्य, अनुनासिक ध्वनि है। हिंदी में यह ध्वनि होती ही नहीं और जिन संस्कृत शब्दों में वह लिखी जाती है उनमें भी उसका उच्चारण न् के समान होता है जैसे—चञ्चल, अञ्चल आदि का उच्चारण हिंदी में चन्चल, अन्चल की भाँति होता है। कहा जाता है कि ब्रज, अवधी आदि में ञ ध्वनि पाई जाती है; पर खड़ी बोली के साहित्य में वह नहीं मिलती।

(२४) ण—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य अनुनासिक स्पर्श है। स्वर-सहित ण केवल तत्सम संस्कृत शब्दों में मिलता है और वह भी शब्दों के आदि में नहीं।

उदा०—गुण, मणि, परिणाम।

संस्कृत शब्दों में भी पर-सवर्ण 'ण' का उच्चारण 'न' के समान ही होता है। जैसे—सं० पण्डित, कण्ठ आदि पन्डित, कन्ठ आदि के समान उच्चरित होते हैं। अर्द्ध स्वरों के पहले अवश्य हलंत ण ध्वनि सुन पड़ती है, जैसे—कण्व, गण्य, पुण्य आदि। इनके अतिरिक्त जिन हिंदी शब्दों में यह ध्वनि बताई जाती है उनमें 'न' की ही ध्वनि सुन पड़ती है; जैसे—कंडा, गंडा, मंडा, ठंडा।

(२५) न—अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक स्पर्श है। इसके उच्चारण में ऊपर के मसूढ़े से जिह्वानीक का स्पर्श होता है। अतः इसे दंत्य मानना उचित नहीं।

उदा०—नमक, कनक, कान, वंदर।

(२६) न्ह—महाप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक व्यंजन है। पहले इसे विद्वान् संयुक्त व्यंजन मानते थे पर अब कुछ आधुनिक विद्वान् इसे घ, ध, भ आदि की तरह मूल महाप्राण ध्वनि मानते हैं।

उदा०—उन्हें, कन्हैया, जुन्हैया, नन्हा।

(२७) म—अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्य, अनुनासिक स्पर्श है।

उदा०—माता, रमता, काम।

(२८) म्ह—महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य, अनुनासिक स्पर्श है। न्ह के समान इसे भी अब विद्वान् संयुक्त व्यंजन न मानकर मूल महाप्राण व्यंजन मानते हैं।

उदा०—तुम्हारा, कुम्हार।

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि हिंदी के विचार से न, न्ह, म और म्ह, ये ही अनुनासिक ध्वनियाँ हैं। शेष तीन ङ, ञ और ण के स्थान में 'न' ही आता है। केवल तत्सम शब्दों में इनका प्रयोग किया जाता है। और अनुस्वार के विचार से तो दो ही प्रकार के उच्चारण होते हैं—न और म।

(२९) ल—पार्श्विक, अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, ध्वनि हैं। इसके उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर के मसूढ़ों को अच्छी तरह छूती है किंतु साथ ही जीभ के दोनों ओर खुला स्थान रहने से हवा निकला करती है।

पार्श्विक

यद्यपि ल और र एक ही स्थान से उच्चरित होते हैं पर ल पार्श्विक होने से सरल होता है।

उदा०—लाल, जलना, कल।

(३०) ल्ह—यह ल का महाप्राण रूप है। न्ह और म्ह की भाँति यह भी मूल व्यंजन ही माना जाता है। इसका प्रयोग केवल बोलियों में मिलता है।

उदा०—ब्र०—काल्हि, ' कल्ह (बुन्देलखंडी), ब्र० सल्हा (हि० सलाह)। कल्ही, जैसे खड़ी बोली के शब्दों में भी यह ध्वनि सुन पड़ती है।

(३१) र—लुंठित, अल्पप्राण, वर्त्स्य, घोष-ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक लपेट खाकर वर्त्स अर्थात् ऊपर के मसूढ़ों को कई बार जल्दी जल्दी छूती है

लुंठित

उदा०—रटना, करना, पार, रिण।

(३२) र्ह—र का महाप्राण रूप है। इसे भी मूल ध्वनि माना जाता है। पर यह केवल बोलियों में पाई जाती है। जैसे—कर्हानो, उर्हानो आदि (ब्रज)।

(३३) ड़—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि है। हिंदी की नवीन ध्वनियों में से यह एक है। इसके उच्चारण में उलटी जीभ की नोक से कठोर तालु का स्पर्श झटके के साथ किया जाता है। ड़ शब्दों के आदि में नहीं आता; केवल मध्य अथवा अंत में दो स्वरों के बीच में ही आता है।

उत्क्षिप्त

उदा०—[illegible], कड़ा, बड़ा, बड़हार। हिंदी में इस ध्वनि का बाहुल्य है।

(३४) ढ़—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनि है। यह ड़ का ही महाप्राण रूप है। ड, ढ स्पर्श हैं और ड़, ढ़ उत्क्षिप्त ध्वनि हैं। यह बड़ा भेद है। ड, ढ का व्यवहार शब्दों के आदि में ही होता है और ड़, ढ़ का प्रयोग दो स्वरों के बीच में ही होता है।

उदा०—बढ़ना, बूढ़ा, मूढ़।

(३५) ह—काकल्य, घोष, घर्ष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ, तालु अथवा होठों से सहायता नहीं ली जाती। जब हवा फेफड़े में से वेग से निकलती है और मुखद्वार के खुले रहने से काकल के बाहर रगड़ उत्पन्न करती है तब इस ध्वनि का उच्चारण होता है। ह और अ में मुख के अवयव प्रायः समान रहते हैं पर ह में रगड़ होती है।

घर्ष-वर्ण

उदा०—हाथ, कहानी, टोह।

ह के विषय में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। 'ह' शब्द के आदि और अंत में अघोष उच्चरित होता है; जैसे—हम, होंठ, हिंदु और छिह्, छह्, कह्, यह् आदि। पर जब ह दो स्वरों के मध्य में आता है तब उसका उच्चारण घोष होता है, जैसे—रहन, सहन। पर जब वह महाप्राण व्यंजनों में सुन पड़ता है तब कभी अघोष और कभी घोष होता है। जैसे—ख, छ, थ आदि में अघोष ह है और घ, झ, ध, ढ, भ, ल्ह, न्ह आदि में घोष है। अघोष ह का ही नाम विसर्ग है। 'ख' जैसे वर्णों में और छि: जैसे शब्दों के अंत में यही अघोष ह अथवा विसर्ग सुन पड़ता है। यह सब कल्पना अनुमान और स्थूल पर्यवेक्षण से सर्वथा संगत लगती है पर अभी परीक्षा द्वारा सिद्ध नहीं हो सकी है। कादरी, सक्सेना, चैटर्जी आदि ने कुछ प्रयोग किये हैं पर उनमें भी ऐकमत्य नहीं है।

विसर्ग के लिये लिपि-संकेत ह अथवा : है। हिंदी ध्वनियों में इसका प्रयोग कम होता है। वास्तव में यह अघोष ह है पर कुछ लोग इसे पृथक् ध्वनि मानते हैं।

विसर्ग

(३६) ख़—ख़ जिह्वामूलीय, अघोष, घर्ष-ध्वनि है। इसका उच्चारण जिह्वमूल और कोमल तालु के पिछले भाग से होता है, पर दोनों अवयवों का पूर्ण स्पर्श नहीं होता। अत: उस खुले विवर से हवा रगड़ खाकर निकलती है, अत: इसे स्पर्श-व्यंजनों के वर्ग में रखना उचित नहीं माना जाता। यह ध्वनि फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है हिंदी बोलियों में स्पर्श ख के समान उच्चरित होती है।

(३०) ल्ह—यह ल का महाप्राण रूप है। न्ह और म्ह की भाँति यह भी मूल व्यंजन ही माना जाता है। इसका प्रयोग केवल बोलियों में मिलता है।

उदा०—ब्र०—कालि्ह, कल्ह (बुन्देलखंडी), ब्र० सल्हा (हिं० सलाह)। कल्ही, जैसे खड़ी बोली के शब्दों में भी यह ध्वनि सुन पड़ती है।

(३१) र—लुंठित, अल्पप्राण, वर्त्स्य, घोष-ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक लपेट खाकर वर्त्स अर्थात् ऊपर के मसूढ़ों को कई बार जल्दी जल्दी छूती है

लुंठित

उदा०—रटना, करना, पार, रिण।

(३२) र्ह—र का महाप्राण रूप है। इसे भी मूल ध्वनि माना जाता है। पर यह केवल बोलियों में पाई जाती है। जैसे—कर्हानो, उर्हानो आदि (ब्रज)।

(३३) ड़—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि है। हिंदी की नवीन ध्वनियों में से यह एक है। इसके उच्चारण में उलटी जीभ की नोक से कठोर तालु का स्पर्श झटके के साथ किया जाता है। ड़ शब्दों के आदि में नहीं आता; केवल मध्य अथवा अंत में दो स्वरों के बीच में ही आता है।

उत्क्षिप्त

उदा०—सूँड़, कड़ा; बड़ा, बड़हार। हिंदी में इस ध्वनि का बाहुल्य है।

(३४) ढ़—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनि है। यह ड़ का ही महाप्राण रूप है। ड, ढ स्पर्श हैं और ड़, ढ़ उत्क्षिप्त ध्वनि हैं। बस यही भेद है। ड, ढ का व्यवहार शब्दों के आदि में ही होता है और ड़, ढ़ का प्रयोग दो स्वरों के बीच में ही होता है।

उदा०—बढ़ना, बूढ़ा, मूढ़।

(३५) ह—काकल्य, घोष, घर्ष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ, तालु अथवा होठों से सहायता नहीं ली जाती। जब हवा फेफड़े में से वेग से निकलती है और मुखद्वार के खुले रहने से काकल के बाहर रगड़ उत्पन्न करती है तब इस ध्वनि का उच्चारण होता है। ह और अ में मुख के अवयव प्रायः समान रहते हैं पर ह में रगड़ होती है।

घर्ष-वर्ण

उदा०—हाथ, कहानी, टोह।

ह के विषय में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। 'ह' शब्द के आदि और अंत में अघोष उच्चरित होता है; जैसे—हम, होठ, हिंदु और छिह्, छह्, कह्, यह् आदि। पर जब ह दो स्वरों के मध्य में आता है तब उसका उच्चारण घोष होता है, जैसे—रहन, सहन। पर जब वह महाप्राण व्यंजनों में सुन पड़ता है तब कभी अघोष और कभी घोष होता है। जैसे—ख, छ, थ आदि में अघोष ह है और घ, झ, ध, ढ, भ, ल्ह, न्ह आदि में घोष है। अघोष ह का ही नाम विसर्ग है। 'ख' जैसे वर्णों में और छिः जैसे शब्दों के अंत में यही अघोष ह अथवा विसर्ग सुन पड़ता है। यह सब कल्पना अनुमान और स्थूल पर्यवेक्षण से सर्वथा संगत लगती है पर अभी परीक्षा द्वारा सिद्ध नहीं हो सकी है। कादरी, सक्सेना, चैटर्जी आदि ने कुछ प्रयोग किये हैं पर उनमें भी ऐकमत्य नहीं है।

विसर्ग के लिये लिपि-संकेत ह अथवा : है। हिंदी ध्वनियों में इसका प्रयोग कम होता है। वास्तव में यह अघोष ह है पर कुछ लोग इसे पृथक् ध्वनि मानते हैं।

विसर्ग

(३६) ख़—ख़ जिह्वामूलीय, अघोष, घर्ष-ध्वनि है। इसका उच्चारण जिह्वमूल और कोमल तालु के पिछले भाग से होता है, पर दोनों अवयवों का पूर्ण स्पर्श नहीं होता। अतः उस खुले विवर से हवा रगड़ खाकर निकलती है, अतः इसे स्पर्श-व्यंजनों के वर्ग में रखना उचित नहीं माना जाता। यह ध्वनि फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है हिंदी बोलियों में स्पर्श ख के समान उच्चरित होती है।

उदा०—ख़राब, बुख़ार और बलख़।

(३७) ग़—इसमें और ख़ में केवल एक भेद है कि यह घोष है। अर्थात् ग़ जिह्वामूलीय, घोष, घर्ष-ध्वनि है। यह भी भारतीय ध्वनि नहीं है, केवल फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में पाई जाती है। वास्तव में ग़ और ग में कोई संबंध नहीं है पर बोलचाल में ग़ के स्थान में ग ही बोला जाता है।

उदा०—ग़रीब, चोग़ा, दाग़।

(३८) श—यह अघोष, घर्ष, तालव्य ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक कठोर तालु के बहुत पास पहुँच जाती है पर पूरा स्पर्श नहीं होता, अत: तालु और जीभ के बीच में से हवा रगड़ खाती हुई बिना रुके आगे निकल जाती है। इसी से यह ध्वनि घर्ष तथा अनवरुद्ध कही जाती है। इसमें 'शी', 'शी', के समान ऊष्मा निकलता है इससे इसे ऊष्म ध्वनि भी कहते हैं। यह ध्वनि प्राचीन है। साथ ही यह अँगरेजी, फारसी, अरबी आदि से आये हुए विदेशी शब्दों में भी पाई जाती है। पर हिंदी की बोलियों में श का दंत्य (स) उच्चारण होता है।

उदा०—शांति, पशु, यश; शायद, शाम, शेयर, शेड।

(३९) स—वर्त्स्य, घर्ष, अघोष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक और वर्त्स के बीच घर्षण (रगड़) होता है।

उदा०—सेवक, असगुन, कपास।

(४०) ज़—ज़ और स का उच्चारण-स्थान एक ही है। ज़ भी वर्त्स्य, घर्ष-ध्वनि है किंतु यह घोष है। अत: ज़ का संबंध स से है; ज से नहीं। ज़ भी विदेशी ध्वनि है और फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही बोली जाती है। हिंदी बोलियों में ज़ का ज हो जाता है।

उदा०—ज़ुल्म, गुज़र, बाज़।

(४१) फ़—दंतोष्ठ्य, घर्ष, अघोष व्यंजन है। इसके उच्चारण में नीचे का होठ ऊपर के दाँतों से लग जाता है पर होठ और दाँत दोनों के बीच में से हवा रगड़ के साथ निकलती रहती है। इसको द्वयोष्ठ्य

फ का रूपांतर मानना शास्त्रीय दृष्टि में ठीक नहीं है। वास्तव में फ़ विदेशी ध्वनि है और विदेशी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है। हिंदी बोलियों में इसका स्थान फ ले लेता है।

उदा०—फ़स्ल, कफ़न, साफ़।

(४२) व—उच्चारण फ़ के समान होता है। परंतु यह घोष है। अर्थात् दंतोष्ठ्य घोष घर्ष-ध्वनि है। यह प्राचीन ध्वनि है और विदेशी शब्दों में भी पाई जाती है।

उदा०—वन, सुवन, यादव।

य (अथवा इ)—यह तालव्य, घोष, अर्द्धस्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वोपाग्र कठोर तालु की ओर उठता है पर स्पष्ट घर्षण नहीं होता। जिह्वा का स्थान भी व्यंजन च और स्वर इ के बीच में रहता है इसी से इसे अंतस्थ अर्थात् व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनि मानते हैं।

अर्द्धस्वर (अंतस्थ)

वास्तव में व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनियाँ हैं घर्ष व्यंजन। जब किसी घर्ष व्यंजन में घर्ष स्पष्ट नहीं होता तब वह स्वरवत् हो जाता है। ऐसे ही वर्णों को अर्धस्वर अथवा अंतस्थ कहते हैं। य इसी प्रकार का अर्धस्वर है।

उदा०—कन्या, प्यास, ह्याँ, यम, धाय, आये।

य का उच्चारण एअ सा होता है और कुछ कठिन होता है, इसी से हिंदी बोलियों में य के स्थान में ज हो जाता है। जैसे—यमुना—जमुना, यम—जम।

(४३) व—ऑ‍अ से बहुत कुछ मिलता है। यह घर्ष व का ही अघर्ष रूप है। यह ध्वनि प्राचीन है। संस्कृत तत्सम और हिंदी तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों में पाई जाती है।

उदा०—क्वार, स्वाद, स्वर, अध्वर्यु आदि।

———

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

भ

म

श

स